स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी० फिल्० उपाधि-हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

—: प्रस्तुति :—

दीपक प्रकाश त्यागी

वरिष्ठ शोध अध्येता

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

—: निर्देशन :—

डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्रद्धेय गुरुवर प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र को, जिन्होंने 'लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार' से साक्षात्कार कराया एवं अपने अनुजद्वय 'विकास', 'विवेक' को, जिनसे मुझे विवेक एवं विकास दोनों ही प्राप्त हुआ।

आभार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में बहुमूल्य निर्देशन प्रदान करने वाले एवं मेरे मानस में शोध दृष्टि पल्लवित-पुष्पित करने वाले पूज्य प्रोफेसर सत्य प्रकाश मिश्र का ऋणी हूँ जिनसे पग-पग पर मार्गदर्शन प्राप्त कर इस शोधकार्य को सम्पन्न करने में समर्थ हो सका। गुरु जी के इस ऋण पर आभार प्रकट करना मेरी मूढ़ता ही होगी, क्योंकि कबीर के शब्दों में, 'क्या लै गुरू संतोखिए, हौंस रही मन मांहि'। आदरणीय प्रो० मीरा श्रीवास्तव का आभारी हूँ, जिन्होंने विभागाध्यक्ष के रूप में इस विषय पर कार्य करने की सारगर्भित अनुमति दी थी। वर्तमान अध्यक्ष प्रो० मालती तिवारी के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिनके आदेशानुसार यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो रहा है। प्रो० राजेन्द्र कुमार, डॉ० गिरिजा राय एवं डॉ० कृष्णचन्द्र लाल (अध्यक्ष, गो० वि० वि०) ने समय-समय पर अपने विचार एवं ज्ञान से मुझे समृद्ध किया उन्हें धन्यवाद देकर उनके महत्त्व को कम नहीं करना चाहता। डॉ० सुरेन्द्र दुबे, डॉ० रामदरश राय (रीडर, हिन्दी विभाग, गो० वि० गो०) डॉ० सूर्यनाथ पाण्डेय (रीडर, ही० रा० पी० जी० कालेज, संत कबीरनगर) के प्रति भी नतमस्तक हूँ। राजेन्द्र चतुर्वेदी, सुशील शाही, जितेन्द्र श्रीवास्तव, प्रणयकृष्ण, सूर्य नारायण, अनिल सिंह, बोधिसत्व, अखिलेश प्रताप सिंह जैसे मित्रों के प्रति आभार ज्ञापन मात्र औपचारिकता होगी। आभरी हूँ शिव कुमार सहाय दम्पत्ति एवं श्रीमती सावित्री त्रिपाठी दम्पत्ति का, जिन्होंने इलाहाबाद में मुझे अभिवावकत्व दिया। पूज्य पिता डॉ० ओम प्रकाश सिंह (रीडर, भूगोल विभाग) एवं माता श्रीमती कमला सिंह के स्नेहसिक्त आर्शीवाद के बिना कुछ भी सम्भव नहीं था। छोटे भाई विकास एवं विवेक इस मधुर बेला में सहयोग के लिए उल्लेखनीय हैं। अन्त में शिवा कम्प्यूटर वालों ने अथक परिश्रम से कम्पोज़िग किया, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—: अनुक्रम :—

अध्याय - 1

भूमिका

(क) हिन्दी उपन्यास का उदय

(ख) हिन्दी उपन्यास का शिल्प

अध्याय : एक

(i) हिन्दी उपन्यास का उदय

(क) उपन्यास का स्वरूप

उपन्यास का उदय पूँजीवादी सभ्यता की देन है। 'पूँजीवादी सभ्यता ने संसार की कल्पनाप्रधान संस्कृति को जो भेंटे दी हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उपन्यास।' [1] उपन्यास आधुनिक युग की जटिल वास्तविकता के चित्रण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है, इसीलिए टामस मन ने कला रूप के लिहाज से इसे 'शुद्ध कविता' (अर्थात् भावनाप्रवणता) को स्थानापन्न करने वाली 'आलोचना' बताते हुए कहा है कि 'उपन्यास का महाकाव्य से वही सम्बन्ध है जो 'सचेतन सर्जनात्मकता' का अचेतन सर्जनात्मकता से होता है—जहाँ महाकाव्य अपनी आद्य-आख्यानात्मकता के द्वारा जीवन-समग्र को सरल रूप में प्रस्तुत करता है, वहाँ उपन्यास में आधुनिक संसार का आलोचनात्मक चित्र होता है।' [2] आज के जीवन का उसकी समग्रता में चित्रण उपन्यास में ही संभव है, अत: लारेंस का यह कथन युक्तिपूर्ण है, 'उपन्यास जीवन का भास्वरग्रन्थ है। पुस्तकें जीवन नहीं हैं। वे ईश्वर की प्रकम्पनमात्र हैं। लेकिन उपन्यास एक प्रकम्पन के रूप में सम्पूर्ण मानव को जीवमान बना सकता है। कविता, दर्शन, विज्ञान या अन्य कोई भी पुस्तक प्रकम्पन जो कर पाते हैं उनसे वह उच्चतर है।' [3] जीवन मूल्यों का संक्रमण, समाज के नये सम्बन्धों की निर्मिति, उनके बीच उठते हुए अनेक प्रश्नों को भौतिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की आकुलता, नवीन भौतिक सत्यों के बीच बनती हुई मानव-चरित्र की नई दिशायें, समाजिक विडम्बनाओं की त्रासदी, ये सारी बातें उपन्यास विधा की उत्पत्ति का कारण हैं। मैनेजर पाण्डेय की धारणा से पूरी तरह सहमत होते हुए कहा जा सकता है, 'उपन्यास के लिए यथार्थ की खोज का मतलब किसी स्थिर, स्थायी एवं जड़ी भूत तथ्यात्मक यथार्थ की खोज नहीं है। यथार्थ स्थिर और स्थायी होता भी नहीं है, वह इतिहास प्रक्रिया का हिस्सा होता है, इसीलिए उपन्यास में यथार्थ की खोज का मतलब है यथार्थ के गतिशील रूप की पहचान और उसकी सम्भावनाओं की तलाश।' [4]

उपन्यास यथार्थ के निरन्तर अन्वेषण और रूप सम्बन्धी निरन्तर आविष्कार के कारण ही विगत तीन सौ वर्षों से यूरोप में और लगभग सवा सौ वर्षों से भारत में निरन्तर अपनी सामाजिक अर्थवत्ता और कलात्मक महत्त्व अक्षुण्ण रखे हुए हैं। उसका लक्ष्य अपने पाठक समुदाय से कुछ कहना है, उनसे संवाद स्थापित करना है, उन्हें दृष्टि देना है, केवल भाषिक चमत्कार दिखाना नहीं। उपन्यास विभिन्न समाजों, राष्ट्रीय सन्दर्भों, समुदायों और वर्गो की अस्मिताओं की पहचान और अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त माध्यम साबित हुआ है। मैनेजर पाण्डेय के शब्द हैं, 'अगर मनुष्य की भाषिक चेतना उसकी

---

1. Ralph Fox : The novel and the people, Page 53
2. The Art of the Novel in the Creative Vision - Ed. by H.M. Block and T.H. Salinger, Page 94
3. Selected Literary Criticism : D.H. Lawrence, Page 105
   [Ed. by Anthony Beal - Why the Novel Matters]
4. हंस जनवरी 1999, पृष्ठ 14

सामाजिक चेतना का द्योतक है या जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, भाषा मनुष्य की परिभाषा है, तो उपन्यास में सामाजिक चेतना की व्यापकता और मनुष्य की परिभाषा की समग्रता दूसरे साहित्य रूपों से अधिक होती है।' [1]

ऑयन ह्वाट ने यथार्थ के दो पहलू उपन्यासकार के लिए महत्त्वपूर्ण स्वीकार किये हैं—चरित्र चित्रण, पृष्ठभूमि चित्रण। इनकी मान्यता है—'उपन्यास विधा अन्य विधाओं तथा कथासाहित्य के पिछले रूपों से कितनी भिन्न है, यह इस बात से प्रकट होता है कि पात्रों के चरित्र-चित्रण और उनके परिवेश को सूक्ष्मता से प्रस्तुत करने में कितना ध्यान दिया गया है।'[2] इसीलिए आयन ह्वाट लिखते हैं कि उपन्यासकार का मुख्य कार्य मानवीय अनुभवों को निष्ठापूर्वक ईमानदारी से व्यक्त करना है। पूर्वस्थापित परम्पराओं पर ध्यान देना उसकी सफलता के लिए हानिकारक हो सकता है। इस प्रकार उपन्यास की सफलता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

1. रूढ़ियों का अभाव
2. परम्परागत कथानक की उपेक्षा

उपन्यास एक प्रकार से सत्य की खोज और अयथार्थ का ध्वंस करने का साहित्यिक अवदान है। मनुष्य-जीवन के यथार्थ का चित्र देने की आकांक्षा रखने वाली इस विधा ने मनोरंजन के लिए परम्परागत साधन के रूप में कथा तत्त्व को स्वीकार किया, परन्तु मनुष्य-चरित्र के माध्यम से जीवन के विविध रूपों का उद्घाटन करना ही उसकी प्रमुख आकांक्षा रही है। इसीलिए प्रेमचन्द उपन्यास को 'मानव-चरित्र का चित्र' मानते हैं और मानव चरित्र के रहस्यों का उद्घाटन ही, उनके अनुसार, उपन्यास का सर्वप्रमुख लक्ष्य है—''मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'' [3] मानव चरित्र के उद्घाटन के लिए उपन्यास में उन अनेक परिस्थितियों का चित्रण अनिवार्य हो जाता है, जिनमें मानव अपनी ग्रन्थियों तथा मानसिक ऊहापोह को निरावृत्त करे। इन परिस्थितियों को घटनाओं के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकता है। अत: उपन्यास घटनाओं के माध्यम से ही चरित्र का उन्मेष करने वाली कथा है।

उपन्यास को जीवन चरित्र के अत्यधिक निकट मानते हुए और भविष्य में उपन्यास और जीवन-चरित्र के पूर्ण साम्य में विश्वास रखते हुए भी, प्रेमचन्द को वास्तविक चरित्र का कल्पना शून्य, यथावत् चित्रण स्वीकार्य नहीं है। उनकी मान्यता है—''कथा साहित्य में सम्प्रति काल्पनिक घटनाओं को यथार्थवृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है, भविष्य में यथार्थ पर कल्पना का आलेप करना होगा, ताकि वह कथा प्रतीत हो।''[4] यथार्थ के साथ कल्पना और कल्पना के साथ यथार्थ का यही संयोग कला है और प्रेमचन्द ने कलावादी न होते हुए भी कला की अवहेलना कहीं नहीं की है। इन दोनों अवधारणाओं को उन्होंने बहुधा 'आदर्श' और 'यथार्थ' के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

> ''यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है.... इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो ...'' [5]

---

1. हंस, जनवरी 99, पृष्ठ 15
2 उपन्यास का उदय, पृष्ठ 12
3 कुछ विचार, पृष्ठ 47
4. कुछ विचार, पृष्ट 69
5 साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 64

उपन्यास के विषय-चयन में प्रेमचन्द ने लेखक की रूढ़ि-मुक्ति मौलिक दृष्टि पर बल दिया है। उन्होंने इस सन्दर्भ में वाल्टर बेसेंट की इस युक्ति का सशक्त समर्थन किया है—

> ''उपन्यासकार को अपनी सामग्री पर आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते।''[1]

प्रेमचन्द के अनुसार आदर्श उपन्यासकार वह है जो रचना के पश्चात् प्रेमचन्द के समान तटस्थ हो जाये और पात्र स्वयं ही मुखर होकर चरित्र-विषयक सूचनाएं तथा कथा को गति दे। कथोप-कथन का आधिक्य उपन्यासकार के लिए श्रेयस्कर है—

> ''उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाये, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा।[2]

किन्तु कथोपकथन के लिए कथोपकथन का समर्थन नहीं किया जा सकता। उपन्यास का साध्य चरित्र है। उनकी धारणा थी कि निकट भविष्य में उपन्यास 'मानव चरित्र' के और और अधिक निकट आ जाएगा, अत: उपन्यास के पात्र यथार्थ जीवन के समीप होना चाहिए। डॉ० देवराज के अनुसार—

> ''....उपन्यासकार का जीवन के विस्तार और गहराइयों से कितना घनिष्ट परिचय है—जीवन के भीतर घुसकर वह तत्सम्बन्धी वास्तविकताओं का आकलन करता है.....।''[3]

इस प्रकार आधुनिकता प्रतिबद्ध यह विधा उन नवीनताओं, नई परिस्थितियों, नवसमस्याओं का साक्षात्कार कर समाज को नवीन व्यवस्था तथा सामंजस्य देने का प्रयत्न करती है। डॉ० देवराज ने स्वीकार किया—

> ''उपन्यासकार अपनी विद्वता से नहीं, मानव-जीवन तथा चरित्र के प्रति अपनी सहज सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से ही पाठक को प्रभावित कर सकता है।''[4]

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी चरित्र को महत्त्वपूर्ण स्थान देनेके साथ ही घटना पर भी बल दिया। इनके अनुसार—

> ''उपन्यास के रचना-कौशल, घटना-विन्यास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत् की समस्याओं में सीधे घुसने वाली भेदक निजी दृष्टि-इन तीन गुणों के कारण उपन्यास आज इतना लोकप्रिय साहित्यांग बन गया है।''

उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का अपना, नितांत निजी दृष्टिकोण है। वे चरित्रों को उपन्यास से पृथक नहीं करते। उपन्यास की सफलता भी चरित्रों की सफलता पर ही आश्रित है। इसीलिए प्रेमचन्द उपन्यास के तीन उद्देश्य स्वीकार करते हैं—

---

1. साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 64
2. कुछ विचार, पृष्ठ 67
3. साहित्य चिन्तन, पृष्ठ 150
4. साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 63

1. मानव हृदय के रहस्यों का उद्‌घाटन
2. व्यक्ति का परिष्कार
3. सम्प्रेषण

आचार्य शुक्ल के अनुसार भी उपन्यास का सामाजिक परिवेश से गहरा जड़ाव है। उनके शब्द हैं—

> ''वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है उसके भिन्न भिन वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। लोक या किसी जन समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिंत्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।''[1]

किन्तु आचार्य शुक्ल की इस परिभाषा में अनेक विसंगतियाँ हैं, जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह उपन्यास को गम्भीरता के परिवेश से आबद्ध कर देती है, जो अनुचित है। उपन्यास जहाँ मानवीय जीवन का चित्रण करते हैं, जीवन को गति एवं दिशा प्रदान करते हैं तथा प्रेरणा का स्वरूप उपस्थित करते हैं, वहीं उनमें औपन्यासिक रस की अर्थात् आनन्द तत्त्व भी विद्यमान रहता है, जिसे राजेश्वर गुरू ने 'कथा रस' कहा है। दर्शन, मनोविज्ञान आदि गूढ़ विषयों की व्याख्या करना उपन्यास का कार्य नहीं है हेनरी जेम्स के अनुसार—

> "A novel is its, broadest definition a personal a direct impression of life."[2]

इस प्रकार उपन्यास में मूलत: जीवन की आलोचना रहती है। डॉ० हल्बर्ट जे० मुल्लर ने लिखा है—

> "The novel ıs typically a representation of human experience whether lıberal or ideal and ther foıe in evıtably a comment upon life "[3]

क्योंकि उपन्यास मूलत: मानवीय अनुभव की अभिव्यक्ति करते हैं, चाहे वे आदर्शवादी हो या यथार्थवादी। 'इरा बोल्फर्ट' के अनुसार' उपन्यास जीये जाने वाले मानव जीवन की भाषा में विचारों का गद्य अनुवाद है। यह अनुवाद इतनी कुशलता से किया जाना चाहिए, जिससे पाठक स्वयं अपने ही सम्बन्ध में अधिक से अधिक जान सके। इनके शब्द हैं—

> "They are prose translations of ıdeas into language of human life beıng lived the translation must be made with such are accuracy as to increase the readers knowledge of his our self."[4]

राजेन्द्र यादव की धारणा है कि उपन्यास में चित्रित व्यक्ति अपने सम्पूर्ण सन्दर्भ-परिवेश के साथ चित्रित होना चाहिए। प्रत्येक चरित्र अपने सही परिवेश में ही प्रमाणिक हो सकता है, अपने परिवेश से निकलकर किन्हीं अन्य परिस्थितियों में वह

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 293
2 द आर्ट ऑफ फिक्शन-हेनरी जेम्स
3. माडर्न फिक्शन-ए स्टडीज ऑफ वैल्यूज—डॉ० हरबर्ट जे० मुल्लर, पृष्ठ 14
4 ह्वॉट इज ए नॉवेल एंड ह्वॉट इज इट गुड फॉर, पृष्ठ 8 इरा बोल्फर्ट

पूर्णत: अस्वाभाविक हो जाता है। अत: उसे उसकी समग्रता में ही चित्रित किया जाना चाहिये। डा० धर्मवीर भारती उपन्यास की परिधि बहुत अधिक विस्तृत मानते हैं। उनका विचार है कि मानव-जीवन को उसके समग्र विस्तार में चित्रित करने की जितनी क्षमता उपन्यास में है, अन्य विधाओं में नहीं है। इसीलिए अन्य विधाओं की तुलना में अधिक लचीली एवं सर्वसमावेशी विधा है। डॉ० धर्मवीर भारती के शब्द हैं—

> ''कविता और नाटक, दोनों की अपेक्षा मानव-जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। गीतिकाव्यों के पुंजीभूत भाव सत्य, दुखांत नाटकों के चिरंतन संघर्ष और करुणा, गीति कथाओं की गति और प्रवहमानता, मुक्तकों का उक्ति वैचित्र्य और नीति सत्य-इन सभी पुराने साहित्य-रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने अपने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया था।'' 1

पुराने साहित्य रूप ही नहीं आधुनिक साहित्य की विधायें भी उपन्यास के विकास में उल्लेख्य हैं। आत्मकथा, जीवनी, डायरी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज जैसी विधाओं ने उपन्यास को नया तेवर दिया है।

डॉ० धर्मवीर भारती के अनुसार उपन्यास का प्राणतत्त्व, साहित्य के समान, उसकी मानवीयता में है। उपन्यास, समग्र मानवता के परिप्रेक्ष्य में, अपनी विशिष्टता बनाये रखते हुए मनुष्य की अपने आपको उपलब्ध कराने की प्रक्रिया है। किन्तु व्यक्ति के चित्रण में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उसकी वाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा उसका अन्तर्जगत् अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह उसके युग की प्रतिध्वनि है। इनके शब्द हैं—

> ''प्रत्येक पात्र के अन्तर्जगत् में दिखाई देने वाली उथल-पुथल उस युग के ढाँचे में होने वाली उथल-पुथल पर एक कमेंट्री, एक व्याख्या होती है। अन्तर्जगत् के माध्यम से प्रस्तुत की जाने वाली यह व्याख्या, यह जीवन दर्शन ही किसी भी कलाकृति को महान बनाती है।'' 2

अत: उपन्यास में लेखक व्यक्ति के माध्यम से, सामान्य मानवता से उस व्यक्ति-विशेष के युग तक की यात्रा प्रस्तुत करता है। अज्ञेय घोषणा करते हैं कि- 'अपने उपन्यासों में मैं स्वयं हूँ।'' 3 यशपाल अपने उपन्यासों में 'समाजधारा और विचारधारा के आधार में तारतम्य प्रकट करने' 4 की बात स्वीकारते हैं तो निर्मल वर्मा 'कृति और कृतिकार के सम्बन्ध में तटस्थता' 5 को अधिक महत्त्व देते हैं। हेनरी जेम्स के विचार से, 'उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा में जिन्दगी का वैयक्तिक और सीधा प्रभाव है।' 6

उपन्यास के सम्बन्ध में विभिन्न उपन्यासकारों द्वारा व्यक्त उपर्युक्त विचारों से उपन्यास की कोई निश्चित परिभाषा भले ही न बनती हो, पर इनसे उपन्यास के परिवर्तनशील स्वरूप तथा जीवन के साथ इसके गहरे सम्बन्ध का पता तो चल ही जाता

---

1. मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ 163 —डॉ० धर्मवीर भारती
2 मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ 165 —डॉ० धर्मवीर भारती
3 शेखर : एक जीवनी की भूमिका —अज्ञेय
4. साहित्य संदेश— 'आधुनिक उपन्यास' अंक 1956, पृष्ठ 74
5. हिन्दी कहानी : अपनी जवानी —स० इन्द्रनाथ मदान पृष्ठ 38
6. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति-देवी शकर अवस्थी, भूमिका, पृष्ठ 21

है, चाहे वह व्यक्ति का जीवन हो या समाज का अथवा स्वयं उपन्यासकार का ही जीवन क्यों न हो। इसलिए कहा जा सकता है कि उपन्यास विधा की सबसे सही परिभाषा 'उपन्यास का इतिहास' ही है। हिन्दी में 'परीक्षागुरू' और 'चन्द्रकान्ता' से लेकर 'शेखर : एक जीवनी', 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'मैला आँचल', 'रागदरबारी', 'सूखा बरगद', 'रात का रिपोर्टर', 'दीवार में एक खिड़की रहती थी', 'बेदखल', 'विश्रामपुर का संत' तक या उससे भी आगे की विकासयात्रा उपन्यास के कथ्य और शिल्प विधान में कितने परिवर्तनों को रेखांकित कर गयी है, उन सब को समेटकर ही उपन्यास की कोई परिभाषा बनायी जा सकती है। 'उपन्यास कभी व्यष्टि की ओर झुका है, कभी समष्टि की ओर कभी अछूते अंचलों में बैठकर परती-परिकथा लिखता रहा है, तो कभी आईना बनकर शहर में घूमता रहा है, कभी व्यक्ति के अन्तर्मन की गहरी गुफा में प्रवेश कर उसके अवचेतन की कुंठाओं की पड़ताल की है, तो कभी व्यापक समाज के 'झूठा सच' को पहचानने की कोशिश की है। कथाएं गढ़ी भी गई हैं और कथाहीन कथा भी रची गयी है; नायक बनाया भी गया है और नायक हटाया भी गया है।' [1]

वस्तुत: उपन्यास युग के नये मुहावरे की तलाश में भटकता रहा है, वास्तव की पहचान के लिए नये-नये दृष्टिकोण अपनाता रहा है और युग के यथार्थ को सम्प्रेषित करने के लिए एक से एक नये शिल्पों का प्रयोग करता रहा है। इसलिए यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि "आज उपन्यास को किसी निश्चित परिभाषा में बांधना कठिन हो रहा है, किसी चौखटे में फिट करना मुश्किल हो रहा है। इसे आज के जटिल और वास्तव को पकड़ना है, उजागर करना है या पेश करना है—इस बारे में गहरा मतभेद पाया जाता है। अगर इसे पुराने ढाँचे को तोड़ने की छूट नहीं मिलती, अपना मुहावरा खोजने की अनुमति नहीं मिलती, नयी भाषा को तलाशने का अवसर नहीं मिलता, नये प्रयोग करने की स्वतंत्रता नहीं मिलती, तो यह आज के वास्तव को अभिव्यक्ति देने से रह सकता है।" [2]

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि-डॉ० जहावर सिंह, पृष्ठ 48
2. हिन्दी उपन्यास : एक नई दृष्टि —इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ 82

(ख) हिन्दी उपन्यास : उद्‌भव व विकास

'उपन्यास' हिन्दी में नवीन प्रचलित शब्द है, जो 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल से आया। इस बंगला शब्द का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'नावेल' है जो इटालियन 'नोवेला' से लिया गया है। इटली में 15 वीं शताब्दी में,तब तक प्रचलित कहानियों की शैली और स्वरूप से भिन्न, नये ढंग की छोटी या बड़ी कहानियों को लोग 'नोवेला' कहने लगे थे। बोकाशियो की सुप्रसिद्ध रचना 'देकामेरों' की कहानियों को 'नोवेला' ही कहा जाता था। हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम् 1875 ई० में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में अपूर्ण रूप से प्रकाशित 'मालती' शीर्षक गद्यकथा के लिए उपन्यास पद का प्रयोग मिलता है। इसके बाद प० बालकृष्ण भट्ट ने 1879 ई० में'हिन्दी प्रदीप' में अधूरी ही प्रकाशित अपनी रचना 'रहस्यकथा' को उपन्यास की संज्ञा दी। 1880 ई० में देवकीनंदन त्रिपाठी ने अपनी रचना 'अमृत चरित्र' को एक 'नवीन उपन्यास' और राधाकृष्णदास ने अपनी कृति 'निःस्सहाय हिन्दू' को 'शुद्ध उपन्यास' कहा।

आधुनिक उपन्यास का वास्तविक विकास तो यूरोप के सांस्कृतिक जागरण के साथ होता है, जिसमें इटली सर्वप्रथम है। सामन्ती प्रथा के ह्रास और नवोत्थित व्यापारी वर्ग की उन्नति का वह युग था। इटली के प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रेम और साहस की नैतिक एवं पौराणिक कहानियाँ होती थी, जिनमें पतित स्त्रियों, दुराचारी पादरियों, असभ्य किसानों और कुलीन घरों के सामन्तों को पात्र बनाया जाता था। बोकेशियों की व्यंग्य एवं विनोदपूर्ण रचना 'डी केमरॉन' (1948) प्रारम्भिक युग की विश्वविख्यात रचना है। इसके बाद स्पेन के लेखक सरवांते ने 17 वीं शताब्दी के आरम्भ में 'डॉन क्विजोट' (1605) की रचना की, जिसने उपन्यास साहित्य में एक क्रांति मचा दी। तदन्तर लगभग एक शताब्दी के प्रयोगों के बाद फ्रांस में रेबेले का आगमन हुआ जिसने 'गरगन्तुआ' लिखा और उसके बाद फ्रांस में रोमानी और यथार्थवादी उपन्यासों की रचना होती रही। इन सब देशों के उपन्यास साहित्य की परम्परा ने अंग्रेजी उपन्यास के उद्‌भव की रूपरेखा तैयार की। पूँजीवादी सभ्यता के उदय ने यथार्थवाद को एक प्रणाली के रूप में विकसित कर उपन्यास को नया तेवर दिया।

18 शब्दाब्दी में अंग्रेजी उपन्यास के विकास के साथ ही 'उपन्यास' आधुनिक अर्थ में अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। वैसे तो इंग्लैण्ड में 16वीं शताब्दी के अन्त में ही उपन्यासों की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी और 18 वीं शताब्दी से पहले सर फिलिप सिडनी का 'आर्केडिया' जॉन बुनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस', डैनियल डैफो का 'रबिन्सन क्रूसो' और 'मॉलफ्लैण्डर्स' तथा जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' प्रकाशित हो चुके थे। इन उपन्यासों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इन्होंने अन्योक्ति विधान द्वारा मानव-जीवन के यथार्थ का चित्रण करके आधुनिक उपन्यास के विकास के लिए एक समृद्ध परम्परा तैयार कर दी थी। इस परम्परा की भूमि पर आधुनिक उपन्यास का इंग्लैण्ड में, तत्पश्चात् फ्रांस और रूस में प्रौढ़तम् विकास हुआ। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में सैम्युअल रिचर्डसन् (पामेला), स्मॉलैट (रोडेरिक रैण्डम) फील्डिंग (टॉम जोन्स, अमीलिया) जैसी औपन्यासिक प्रतिभाओं,उपन्यास ने कला को सिद्धान्त एवं संरचना दोनों ही स्तरों पर समृद्ध किया। इसके बाद इंग्लैण्ड में स्टर्न, गोल्डस्मिथ, जेन आस्टिन, वाल्टर स्कॉट, चार्ल्स डिकेन्स, इलियट (एडमवीड) आदि अनेक उपन्यासकार हुए। फ्रांस में वाल्तेयर, विक्टर ह्यूगो, बालजाक, स्टेन्टाल, जार्जसेण्ड, जोला, फ्लाबेयर और अनातोले फ्रान्स जर्मनी में गेटे; रूस में पुश्किन, तुर्गनेव, द्वायत्सोवस्की, तॉलस्ताय जैसी प्रतिभाओं ने उपन्यास साहित्य को नूतन आयाम दिया। गोर्की ने तो रूसी उपन्यास की विकासधारा को एक नया मोड़ दिया। वह एक ऐसे जीवन के चित्रण की ओर प्रवृत्त हुआ, जिसका आत्मिक शक्ति स्रोत अभी तक अक्षुण्ण था। जिसके भीतर जीवन के सहज, स्वाभाविक और स्वस्थ,

विकास की अनन्त सम्भावनायें अभी तक निहित थो-भले ही उस जीवन का तात्कालिक रूप एकदम अनगढ़ एवं प्रकट रूप में जड़ रहा हो।

भारत में उपन्यास के उदय के लिए अनेक कारक परिस्थितियाँ—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक- थी। ब्रिटिश पूर्व भारत की आर्थिक प्रणाली का मुख्य आधार ग्राम था। प्रत्येक गाँव एक आर्थिक ईकाई थी। चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा है—

> ''गाँव छोटे-छोटे गणतंत्र थे। उनकी अपनी आवश्यकताएं गाँव में ही पूरी हो जाती थी। बाहरी दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। एक के बाद दूसरा राजवंश; एक के बाद दूसरा उलट फेर हुआ; हिन्दू-पठान, मुगल, सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगड़े पर गाँव वैसे के वैसे बने रहे।''[1]

कहना न होगा कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना ने देश की सामाजिक -आर्थिक व्यवस्था को विघटित कर दिया। अंग्रेजों ने सामंतवादी व्यवस्था के स्थान पर पूँजीवादी सभ्यता को जन्म दिया, जिसके गर्भ से महाजनी सभ्यता पैदा हुई। 'कवि वचन सुधा' में भारतेन्दु जी अंग्रेजों की आर्थिक मानसिकता के सन्दर्भ में लिखते हैं—

> ''चाहे कैसे भी द्रव्य एकत्र किया हो, अन्त में सब जायेगा विलायत में, क्यों कि हमारी शोभा की सब वस्तुएँ वहाँ से आवेंगी; कपड़ा, झाड़-फानूस, खिलौने, कागज और पुस्तक इत्यादि सब वस्तुएं विलायत से आवेंगी। उसके बदले यहाँ से द्रव्य जायेगा तो परिणाम यह होगा कि चाहे किसी उपाय से द्रव्य लो अन्त में तुम्हारे देश से निकल जायेगा।''

इसीलिए भारतेन्दु जी 'भारत दुर्दशा' नाटक में लिखते हैं—

> 'रो अहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
> हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।,[2]

अंग्रेजों ने जमींदारों एवं बड़े-बड़े जोतदारों का ऐसा समाज खड़ा किया, जो उनकी आखिरी विदाई के समय तक उनकी सहायता करता रहा। लार्ड कार्नवालिस ने 1793 ई० में बंगाल बिहार, उड़ीसा में जमींदारी प्रथा लागू की, जो बाद में बम्बई, म०प्र०, उ०प्र० के कुछ इलाकों में भी जारी की गई। 1820 ई० में सर टामस मुनरो ने इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू करके जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में बदल दिया। फलतः जमीन का व्यावसायिककरण आरम्भ हुआ। पहले कृषि का उत्पादन गाँव में रह जाता था, किन्तु अब बाजारों में जाने लगा। रुपये के चलन से भी व्यावसायिकता में वृद्धि हुई, पर किसान दिन प्रतिदिन कुचक्र में फँसता गया। उन्हें एक ओर सरकारी मालगुजारी अदा करने की परेशानी रहती थी, दूसरी ओर महाजन की ऋण अदायगी की। इन परिस्थितियों ने नये सामाजिक सम्बन्धों को जन्म दिया। सामूहिक खेती के नष्ट होने के कारण सम्बन्धों की रागात्मकता टूटने लगी, पारस्परिक सम्बन्ध जटिल हुए। ऐसी स्थिति में नई संस्थाओं का जन्म हुआ और पंचायतों के स्थान पर कचहरियाँ स्थापित की गयी। इनकी स्थिति को भारतेन्दु ने इस रूप में देखा—

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास —डॉ० बच्चन सिंह, पृष्ठ 24
2. भारतेन्दु युग और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 71

नई नई नित तान सुनावै।
अपने जाल में जगत फँसावैं॥
नित नित हमें करैं बल सून।
क्यों सखि सज्जन नहिं कानून॥ [1]

पुरानी अर्थ व्यवस्था के स्थान पर जिस नई अर्थव्यवस्था का अंग्रेजों ने प्रसार किया, उससे अनजाने ही, ऐतिहासिक विकास की ओर अग्रसर हुआ। गांवों की जड़ता टूटी, गाँव एवं नगर एक दूसरे के सम्पर्क में आने के लिए बाध्य हुए। एक घेरे में बँधी हुई अर्थव्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली। जाति प्रथा को भी धक्का लगा। जाति आर्थिक वर्गों में बदलने लगी, किन्तु जाति प्रथा की जड़ता को तोड़ा नहीं जा सका। आर्थिक वर्गों का उदय तो हुआ, पर जातीय उच्चता की भावना विलीन न हो सकी। जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है—

> ''हिन्दुस्तान पर पश्चिमी संस्कृति का आघात, एक गतिशील समाज और आधुनिक चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो मध्यकालीन विचारधारा से बंधा हुआ था।'' [2]

अंग्रेजी राज्य की स्थापना और आर्थिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में जीवन की नई समस्याएँ पैदा हुई। इन समस्याओं से जूझने के लिए नये दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ी, जिसे अंग्रेजों की नई शिक्षा प्रणाली ने पूरा किया। डॉ० बच्चन सिंह के अनुसार—

> ''आधुनिक शिक्षा पद्धति का समारम्भ एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। आधुनिक होने की दिशा में यह एक गत्यात्मक प्रयत्न माना जायेगा।'' [3]

आधुनिक शिक्षा प्रणाली के निर्माण में तीन शक्तियों का योगदान है—

1. ईसाई मिशनरी
2. अंग्रेजी सरकार
3. व्यक्तिगत प्रयास

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पूर्व ईसाई मिशन दक्षिण भारत में धर्म-प्रचार के कार्य में लगे हुए थे, किन्तु 1813 ई० के चार्टर ऐक्ट से ईसाई मिशनरियों को नई चेतना मिली। इस ऐक्ट के बाद आने वालों में अलेक्जेंडर डफ उल्लेख्य है, जो धर्म प्रचार का कार्य अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार द्वारा करना चाहता था। इस सबके होते हुए भी मिशनरियों के अपने काम ने भी भारतीय भाषाओं को गद्य शैली दी। कैरे, बाउन, नेवलिन, स्किनर, वैले आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। भारतीय धर्म-पुराण आदि को भी उन्होंने विवरणात्मक गद्य में प्रस्तुत किया। स्त्री शिक्षा के प्रसार में भी इनका योगदान है।

---

1 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 70

2. हिन्दुस्तान की कहानी —जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ 357

3. आधुकि हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० बच्चन सिंह पृष्ठ 28

सरकारी प्रयास के अन्तर्गत सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स उल्लेखनीय है, जिसने मुसलमानों के तुष्टीकरण के लिए कलकत्ता मदरसा, 1780 ई० में खोला। इसी प्रकार सन् 1791 में बनारस के रेजीडेन्ट ने 1791 ई० में संस्कृत कालेज की नींव डाली। कलकत्ता का फोर्ट विलियम कालेज, 1801 ई० में मुख्यत: कम्पनी के सिविल सर्वेंट्स को अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए खोला गया। किन्तु यहाँ के अध्यापकों ने देशी भाषा में पाठ्य पुस्तकें, कोश, और व्याकरण तैयार करने का भी काम किया। गिलक्राइस्ट, कैप्टेन विलियम प्राइस, लल्लू लाल, सदल मिश्र ने अपनी-अपनी सीमाओं में हिन्दी को खड़ा होने की परिस्थितियाँ दी। राजाराम मोहन राय ने भी प्राच्य शिक्षा के स्थान पर मैकाले की नई शिक्षा नीति को अपना समर्थन दिया। उनका विचार था कि व्याकरण की बारीकियों और अद्वैत-वेदान्त, मीमांसा, न्याय को कंठस्थ करने में नवयुवकों के एक दर्जन वर्ष नष्ट करना अच्छा नहीं है।

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा के सन्दर्भ में अंग्रेजों की मानसिकता कलुषित थी। पं० बालकृष्ण भट्ट एक निबन्ध में लिखते हैं—

> ''इन दिनों की वर्तमान शिक्षा का फल यह होता है कि देशत्व का अभाव दिन-दिन बढ़ता जा रहा है और क्यों ऐसा न हो जब बालकों की बाल्य अवस्था से ही उनके मन में बैठाया जाता है कि आर्य लोग वास्तव में यहाँ के असली पुराने बाशिन्दे न थे वरन कहीं बाहर से आये यहाँ बस गये थे। स्वदेशाभिमान को नष्ट कर देने की कैसी अच्छी युक्ति है।''[1]

अंग्रेजों को अपने दफ्तरों के लिए देशी बाबुओं की आवश्यकता थी, जिससे उनका व्यवसाय और प्रशासन निर्बाध गति से चल सके। 'कवि वचन सुधा' में भारतेन्दु जी अंग्रेजी शिक्षा का रहस्य बताते हुए लिखा है—

> ''अंग्रेज लोग केवल हम लोगों को उसी शिक्षा का उपदेश करते हैं, जिसमें किसी प्रकार की शिल्पादिक कोई कला न हो,केवल पंडित मात्र बन जाय।''[2]

इतना ही नहीं कवि वचन सुधा' में प्रकाशित अपने एक लेख 'क्या हमारे देशबान्धव अब भी सचेत न होंगे' में अंग्रेजी शिक्षा पर टिप्पणी करते हैं—

> ''अंग्रेजों ने हम लोगों को विद्यामृत पिलाया और उससे हमारे देश-बान्धवों को बहुत लाभ हुए। इसे हम लोग अमान्य नहीं करते, परन्तु उन्हीं के कहने के अनुसार हिन्दुस्तान की बृद्धि का समय आने वाला है, सो तो एक तरफ रहा पर प्रतिदिन मूर्खता, दुर्भिक्षता और दैन्य प्राप्त होता जाता है। अंग्रेजों ने उनको अपनी विद्या की रुचि लगाकर राजनीति में उनके चित्त का आकर्षण किया और सच्ची विद्या उन्हें न दिया और यही कारण है कि हम लोग इनकी माया से मोहित हो गये और हम लोगों को अपनी हानि दृष्ट न पड़ी।''[3]

---

1. बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र की भूमिका से
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 71
3. वही, पृष्ठ 72

इसीलिए कालान्तर में अंग्रेजी शिक्षा से लोगों का मोहभंग हुआ। तभी तो एक तरफ जहाँ हिन्दू पुनरुत्थान आन्दोलन चला, वहीं दूसरी तरफ नवजागरण का स्वर भी सुनाई पड़ने लगा। प्रेस के आविष्कार के कारण सांस्कृतिक , सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक विचारों के प्रचार-प्रसार को न केवल एक माध्यम मिला, वरन् समाचार पत्रों के माध्यम से विचार-विनिमय भी होने लगा। ये पत्रिकायें एक ओर जनतांत्रिक भावनाओं का पोषण कर रही थीं, तो दूसरी ओर सामाजिक रूढ़ियों पर आघात करते हुए राष्ट्र निर्माण में योग दे रहा थीं। ब्रह्मसमाज प्रार्थना समाज, आर्य समाज जैसी संस्थाएं इसी समय पुराने धर्म को नये समाज के अनुरूप ढ़ालने का प्रयास कर रही थी। ब्रह्मसमाज ने राजाराम मोहन राय के नेतृत्व में अनेकों सामाजिक कुरीतियों परप्रहार किया, जाति प्रथा को उन्होंने अमानवीय और राष्ट्रीयता विरोधी कहा। सती प्रथा के खिलाफ जहाँ आन्दोलन चलाया, वहीं विधवा विवाह, स्त्री पुरुष के समान अधिकार का भी समर्थन किया। रानाडे ने 'प्रार्थना समाज' के माध्यम से मनुष्य की समानता पर जोर दिया। वे जाति-प्रथा के विरूद्ध और अन्तर्जातीय विवाह के पक्षधर थे। वे भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचार-प्रणाली के अनुरूप ढालने की कोशिश कर रहे थे। विवेकानंद ने भी रामकृष्ण मिशन के माध्यम से समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। उन्होंने लिखा है—

> ''दुनिया के सभी दूसरे राष्ट्रों से हमारा अलगाव ही हमारे पतन का कारण है और शेष दुनिया की धारा में समा जाना ही इसका एक मात्र समाधान है। गति जीवन का चिन्ह है।''[1]

विवेकानन्द ने जाति-प्रथा, कर्मकांड, पूजा-पाठ और अंधविश्वास पर आधारित हिन्दू धर्म की कड़ी आलोचना की। उनके शब्द हैं—

> ''हमारे सामने खतरा यह है कि हमारा धर्म रसोईघर में न बंद हो जाए। हम अर्थात् हममें से अधिकांश न वेदान्ती हैं, न पौराणिक और न ही तांत्रिक। हम केवल 'हमें मत छुओ' के समर्थक हैं। हमारा ईश्वर भोजन के बर्तन में है और हमारा धर्म यह है कि 'हम पवित्र हैं, हमें छूना मत।'[2]

आध्यात्मिक स्तर पर उन्होंने मनुष्य-मनुष्य की समता, एकता, बंधुत्व और स्वतंत्रता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने कहा—

> ''मेरा ईश्वर दुःखी मानव है, मेरा ईश्वर पीड़ित मानव है, मेरा ईश्वर हर जाति का निर्धन मनुष्य है।''[3]

कहना न होगा कि पश्चिम की भौतिकता से चमत्कृत देशवासियों को पहली बार यह अहसास हुआ कि हमारी अपनी परम्परा में भी कुछ ऐसी वस्तुएं हैं, जिन्हें दुनियाँ के सामने गौरवपूर्ण ढंग से रखा जा सकता है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज के लिए वेदों को आधार माना। वे वेदों को शाश्वत और अपौरुषेय मानतेथे। इन्होंने सामाजिक और नैतिक मूल्यों को देखते हुए एक आचार-सहिंता बनाई। इसमें जाति-भेद, मनुष्य-मनुष्य या स्त्री पुरुष में असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। वैदिक धर्म के व्याख्याता होने के बावजूद ये पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे। अपने हिन्दूवादी दृष्टिकोण के बावजूद आर्य समाज

1. आधुनिक भारत —डॉ० बिपिन चन्द्र, पृष्ठ 153
2. वही, पृष्ठ, 153
3. आधुनिक भारत —डॉ० बिपिन चन्द्र, पृष्ठ 154

ने राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाने में आश्चर्यजनक योगदान किया। उत्तर भारत के आचार विचार रहन-सहन, साहित्य-संस्कृति पर आर्य समाज का गहरा प्रभाव पड़ा। गद्य की भाषा के परिष्कार में भी इस आन्दोलन का अभूतपूर्व योग है। छुआछूत पर जितना प्रबल आघात इस आन्दोलन ने किया, उतना और किसी ने नहीं किया।

इस्लाम धर्म में व्याप्त कुरीतियों एवं जड़ताओं के उन्मूलन के लिए मिर्जा गुलाम अहमद के 'अहमदिया आन्दोलन' एवं सैयद अहमद खाँ के 'अलीगढ़ आन्दोलन' ने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह कर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को प्रभावित किया।

स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने इस देश में नई अर्थव्यवस्था, औद्योगिकता, संचार-सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिए स्थापित किया, फिर भी इससे देश का हित हुआ। एक जड़ व्यवस्था से छूटकर देश को नूतन गत्यात्मकता का अनुभव हुआ, परम्परायें टूटने लगीं। नूतन परिवेश में, ऐतिहासिक माँग के फलस्वरूप, लोग अपने को नये ढंग से ढालने लगे। अंग्रेजों की प्रशासनिक और आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप भारत में मध्यवर्ग का उदय हुआ, जो कालान्तर में उपन्यास के उदय के लिए जिम्मेदार हुआ। यह मध्यवर्ग सरकारी मुलाजियों, शिक्षकों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों तथा छोटे-छोटे व्यावसायिओं के समूह के रूप में निर्मित हुआ। न चाहकर भी शासन प्रबन्ध में अंग्रेजों को भारतीयों की सहायता लेनी पड़ी और इसके लिए उन्हें शिक्षा का प्रसार करना पड़ा। नये शिक्षित वर्ग के बीच शेक्सपीयर, डीफो, जानसन, स्कॉट, लिटन की रचनायें लोकप्रिय हो रही थी। बर्टनकृत 'अरेबियन नाइट्स' और जी डब्ल्यू० एम० रेनल्ड के घटनाप्रधान उपन्यास इस काल के भारतीय अंग्रेजी पाठकों के बीच बहुत लोकप्रिय हुए। धीरे-धीरे समाज का शिक्षित वर्ग अंग्रेजी नावेल से परिचित हुआ, जो भारतीय साहित्य के लिए सर्वथा नया साहित्य रूप था।

भारतीय उपन्यास का उदय 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध में ही सम्भव हो पाया, यद्यपि इसके लिए परिस्थितियाँ पिछले पचास वर्षों से निर्मित होती आ रही थी। इसके उदय की पृष्ठभूमि बंगाल में पहले तैयार हुई। 'आलालेर घरेर दुलाल' (टेकचन्द ठाकुर), 'नवबाबू विलास' (1825 भवानीचरण बन्द्योपाध्याय), 'अंगुरीय विनिमय' (1862, भूदेव मुखर्जी) के रूप में बंग्लासाहित्य में उपन्यास का उदय हुआ, लेकिन इसे स्वस्थ स्वरूप बंमिक चन्द्र चट्टोपाध्याय ने दिया। 1865 में बंकिम बाबू ने पहला उपन्यास 'दुर्गेश नन्दिनी' लिखा और एक साल के बाद 'कपाल कुण्डला' फिर तीन साल के अन्तराल के बाद 'मृणालिनी'। नामवर सिंह का कथन है—

> ''तथाकथित 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' का तिरस्कार करके ही बंकिमचन्द्र के रोमांस धर्मी उपन्यासों ने भारतीय राष्ट्र और भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की।'' [1]

बंकिम बाबू ने अपने ऐतिहासिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार के उपन्यासों द्वारा अपने समय की जिन्दगी को केन्द्र में रखा, पर उनकी दृष्टि मुख्यत: मानवीय सम्बन्धों और सामाजिक समस्याओं के गम्भीर चित्रण पर केन्द्रित रहती है। बंकिम बाबू के बाद रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 'गोरा' और 'घरे-बाइरे' में अंतर्जीवन और वाह्य जीवन के व्यापक सत्यों के रासायनिक मिश्रण और समन्वय द्वारा विश्व उपन्यास साहित्य को एक नवीन और महत्त्वपूर्ण मोड़ दिया। विशुद्ध औपन्यासिक कला और औपन्यासिक

---

1. 'अंग्रेजी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास' —डॉ० नामवर सिंह, पृष्ठ 7, साखी, प्रवेशांक-सं केदारनाथ सिंह

रस के स्तर पर शरतचन्द्र ने रवीन्द्र युगीन उपन्यासों से प्रगति की। इनके लेखन से उपन्यास में चरित्रगत वैचित्र्य उभर उठा और रोमांचक घटनाओं का स्थान सामान्य जीवन की आकस्मिक वाह्य घटनाओं अथवा केवल शारीरिक भंगिमा या मानसिक उत्तेजना ने ले लिया। 'देवदास', 'चरित्रहीन', 'श्रीकान्त', 'गृहदाह', **'पथेरदावी'** ने अपने-अपने स्तर पर हिन्दी उपन्यास को कथ्य एवं शिल्प दोनों ही स्तरों पर समृद्ध किया।

स्पष्ट है कि बंगला उपन्यास ने हिन्दी उपन्यास के उदय में जहाँ प्रेरणा का काम किया, वहीं हिन्दी के उपन्यासकारों ने बंगला उपन्यासों का अनुवाद करके भी प्रेरक शक्ति अर्जित की। बाबू गदाधर सिंह ने बंग विजेता और दुर्गेश नंदिनी का अनुवाद किया। बाबू राधाकृष्णदास, कार्तिक प्रसाद खत्री बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बंगला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परम्परा चलाई, वह बहुत दिन तक चलती रहीं। भारतेन्दु युगीन हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

> ''नाटकों और निबन्धों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंग-भाषा की देखा-देखी नये ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बंग भाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अत: साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।''[1]

इसके अतिरिक्त यदि प्रारम्भिक उपन्यासों पर ध्यान दिया जाय तो उनमें बीज रूप से भारत का प्राचीन कथा साहित्य भी प्रेरक तत्त्व के रूप में दिखाई पड़ती है। किशोरी लाल गोस्वामी के 'पुनर्जन्म या सौतिया दाह' (1907) में सुशीला और सुन्दरी का चरित्र 'वासवदत्ता' और 'रत्नावली' के आदर्श पर ढ़ाला गया है। पं० देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय 'सुन्दर सरोजिनी' उपन्यास की कहानी मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों के आदर्श पर बुनी गयी है, जिसमें नायक-नायिका के बीच प्रेमोदय का आधार स्वप्न दर्शन माना गया है। ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' संस्कृत 'कथा' के आदर्श पर रची गयी एक प्रेमकहानी है। वस्तुत: प्रारम्भिक उपन्यासकारों का कथा रचना संस्कार अंग्रेजी 'नावेल' और बंगला उपन्यास के साथ ही संस्कृत की कथा-आख्यायिका तथा हिन्दी की मध्ययुगीन प्रेम-कहानियों के सम्मिलित प्रभाव से निर्मित हुआ था। यह भी सच है कि क्रमश: हिन्दी उपन्यास प्राचीन संस्कारों से युक्त होता गया और अब पूर्णत: अंग्रेजी का 'नावेल' हो गया है।

हिन्दी उपन्यास के उद्भवकालीन वातावरण पर दृष्टि डालें तो साहित्य मुख्यत: दो प्रकार की प्रवृत्तियों से परिचालित है। एक प्रवृत्ति मनोरंजन की थी, दूसरी सामाजिक जागरण की। ऐय्यारी-तिलिस्मी, जासूसी एवं चित्र-विचित्र रहस्यमय वासना-परक प्रणयचित्रों से युक्त दोनों ही प्रकार के उपन्यास मनोरंजन की प्रवृत्ति से ही परिचालित थे। सामाजिक जागरण की प्रेरणा से परिचालि उपन्यास उपदेशप्रधान और सुधारवादी थे। इनमें से कुछ सनातन धर्म की प्राचीन परम्परा के पोषण में प्रवृत्त थे और कुछ नवीन बौद्धिक जागरण का स्वागत करते हुए नये सुधारों का समर्थन कर रहे थे। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास की एक क्षीण धारा भी दिखाई देती है। किन्तु इन ऐतिहासिक उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति इतिहास से हटकर प्रणयकथाओं, विलासलीलाओं, रहस्यमय प्रसंगों तथा कौतूहलवर्द्धक घटनाचक्रों की कल्पना में लीन हो जाती है।

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 249

मनोरंजनप्रधान उपन्यास, सामाजिक जागरण के उपन्यास एवं ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में किया गया यह वर्गीकरण तत्कालीन मन:स्थिति को समझने में सहायक होते हुए भी कृतियों के विवेचन में सुविधाजनक नहीं है। मनोरंजन का तत्त्व न्यूनाधिक हर युग के कथा-साहित्य का प्रेरक रहा है। प्रेमचन्द पूर्व सामाजिक जागरण से प्रेरित उपन्यास भी मनोरंजन के तत्त्व से सर्वथा रहित नहीं है। यहाँ तक कि प्रेमचन्द ने भी आत्मपरिष्कार के साथ-साथ मनोरंजन को साहित्य का मुख्य उद्देश्य स्वीकार किया है। उनके शब्द हैं—

> ''हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था''। [1]

इसलिए विषय की दृष्टि से इसे तीन वर्गों मे रखा जा सकता है—

1. सामाजिक —घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और भाव प्रधान
2. ऐतिहासिक —शुद्ध ऐतिहासिक, ऐतिहासिक रोमान्स
3. घटना प्रधान शुद्ध मनोरंजक—ऐय्यारी-तिलिस्मी, जासूसी, साहसिक एवं चित्र-विचित्र घटनात्मक

सामाजिक— हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' इस बात का दस्तावेज है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ सामाजिक यथार्थ की पहचान से होता है। लाला श्रीनिवास दास का 1882 ई० में प्रकाशित यह उपन्यास, जिसे आचार्य शुक्ल ने 'प्रथम अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास' कहा, 'अपनी भाषा में नयी चाल की पुस्तक' [2] है। लेखक ने नयी चाल को समझाते हुए लिखा है—

> ''अपनी भाषा में अब तक वार्ता रूपी जो पुस्तकें लिखी गयी हैं उनमें अक्सर नायक, नायिका वगैरह का हाल ठेठ से सिलसिलेवार लिखा गया है ''जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ-साहूकार का लड़का था। उसके मन में इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला'' ऐसा सिलसिला कुछ भी नहीं मालूम होता। लाला मदन मोहन एक अंग्रेजी सौदागर की दुकान में अस्बाब देख रहे हैं। लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भूदयाल उनके साथ हैं। इनमें मदन मोहन कौन, ब्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शिम्भूदयाल कौन हैं? इनका स्वभाव कैसा है? परस्पर सम्बन्ध कैसा है? हर एक की हालत क्या है? यहाँ इस समय किसलिए इकट्ठे हुए हैं? ये बातें पहले से कुछ भी नहीं बतायी गयीं। हाँ, पढ़ने वाले धैर्य से सब पुस्तक पढ़ लेंगे, तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायेगा और आदि से अंत तक सब मेल मिल जायेगा।'' [3]

स्पष्ट है कि इस नाटकीय आरम्भ को ही लाला श्री निवास दास ने 'नयी चाल' कहा है। रचना की 'नयी चाल' की प्रेरणा उन्हें अंग्रेजी उपन्यास से मिली, जिसे उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है—

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, (निबन्ध) उपन्यास, पृष्ठ 82

2. परीक्षा गुरु —लाला श्रीनिवास दास, की भूमिका से।

3. 'परीक्षा गुरु' की भूमिका से

''मुझको महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरह फारसी के साथ ही स्पेक्टेटर, लार्डबेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कपूर आदि के पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालो सैं बड़ी सहायता मिली है। [1]

इस तकनीकि नवीनता की दृष्टि से निश्चय ही परीक्षा गुरू हिन्दी का प्रथम अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास है। इस उपन्यास में दिल्ली के एक कल्पित रईस लाला मदनमोहन का स्वाभाविक चित्र उतारा गया है। लाला मदन मोहन रईस आदमी हैं। उनका जीवन झूठे खुशामदियों के बीच भोग-विलास में व्यतीत होता है। उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर हैं। इनके रूप में लेखक ने भारतीय नवजागरण के एक प्रतिनिधि चरित्र को प्रस्तुत किया है। उसमें ज्ञान की अकूत पिपासा है। शास्त्रों और आचार ग्रंथों का उसने गंभीरतापूर्वक अध्ययन ही नहीं किया है, भरसक वह उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास भी करता है। उनके उद्धरण और सन्दर्भ देकर वह मदनमोहन को सही रास्ते पर लाने का प्रयास करते हुए एक तरह से पाठक-वर्ग को भी इस सबका लाभ पहुँचा रहा होता है। विदेशों के अनेक दार्शनिकों एवं चिन्तकों का अध्ययन भी उसने किया है और समस्त ज्ञान का उपयोग वह अपने और दूसरों के जीवन को सार्थक बनाने के लिए करता है। चापलूसों के चक्कर में फँसे मदन मोहन को सही रास्ते पर ले आता है। लेखक के अनुसार ''जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती, वह एक बार की परीक्षा से मन में बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरू मानते हैं।'' [2]

परीक्षा गुरू का महत्त्व यदि एक ओर बहुत निजी और वास्तविक लगने वाले घटना प्रसगो के बीच कथा के विकास की दृष्टि से है तो दूसरी ओर मानवीय व्यवहार की विविधता और विस्तार में भी है। अनेक जातियों, वर्गों और धर्मो के पात्रों के माध्यम से इसकी कथा बुनी गई है। वकील, व्यापारी, दलाल, हाकिम, वेश्यायें, ठेकेदार, सम्पादक आदि विभिन्न पेशें एवं व्यवसायों के लोगों से बसा यह एक वास्तविक समाज है। इसी विस्तृत समाज के बीच लेखक अच्छे-बुरे की पहचान पर बल देता है। डॉ० विजयशंकर मल्ल ने परीक्षा गुरू के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

''परीक्षा गुरू अपने समकालीन मध्यवर्गीय समाज और देश-दशा का विस्तृत परिचय देता है। एक नये मध्यवर्गीय व्यापारी की स्थिति का चित्रण करने वाले इस उपन्यास में इस वर्ग की पुरानी और नई पीढ़ी का वैषम्य सांकेतिक ढ़ंग से अच्छे रूप में दिखलाया गया है। नायक मदन मोहन नवशिक्षित मध्यम वर्ग की कमजोरियों का मूर्तिमान रूप है। झूठी सम्मान-भावना, अकर्मण्यता, अंग्रेजों की नकल आदि में वह एकदम मध्यवर्गीय कमजोरियों का पुंजीभूत रूप है।'' [3]

इस काल के सामाजिक उपन्यासों में एक ओर यदि सनातन धर्म और आर्यसमाज के संघर्ष को अंकित किया गया है, वहीं अधिकतर उपन्यासों में आर्यसमाज की प्रगतिशील भूमिका के प्रभाव में स्त्री की शिक्षा, विधवाओं की स्थिति और पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के दुष्प्रभावों को उद्‌घाटित किया गया है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका में पं०

---

1. 'परीक्षा गुरु' की भूमिका से
2. 'परीक्षा गुरु' की भूमिका से
3. आलोचना, अक्टूबर, पृष्ठ 54, 67

गौरीदत्त ने इस तथ्य पर जोर दिया है कि 'स्त्रियों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं, अपने-अपने ढंग से वे सब अच्छी होने पर भी उसने इसे भिन्न और नए रंग-ढ़ंग से लिखा है।' [1] लेखक ने यह दिखाने की कोशिश भी की है कि एक ही काम को पढ़ी-लिखी और बेपढ़ी स्त्री के करने में क्या और कैसा अन्तर होता है। इसी प्रकार 'भाग्यवती' की भूमिका में भी श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो', को अपनी रचना के उददेश्य के रूप में प्रस्तुत किया है। ''मैं निश्चय करता हूँ कि इस ग्रंथ के पढ़ने से लोक परलोक विहित-अविहित, योग्य-अयोग्य सर्व प्रकार के व्यवहारों का ज्ञान हो जायेगा। और चाहे यह अनछुई और कल्पित कहानी और अनुत्पन्न पुरुषों के उपदेश हैं, परन्तु पढ़नहार को सब ऐसे प्रतीत होंगे कि जैसे प्रत्यक्ष खड़े होते और सामने बैठे शिक्षा करते हैं।'' [2] अपने इसी घोषित उद्देश्य के फलस्वरूप लेखक नायिका भाग्यवती के चरित्र में सद्व्यवहार और सेवा के महत्त्व पर विशेष बल देता है। एक शिक्षित और गुणवती स्त्री अपने मायके और ससुराल दोनों ही परिवारों में कैसे उजाला कर सकती है, भाग्यवती के चरित्र द्वारा लेखक इस तथ्य पर बल देता है। अपनी शिक्षा के कारण ही वह अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, पाखण्ड और अंधविश्वासों से स्वयं भी बचती है और दूसरों को भी बचाती है। 'भाग्यवती' में एक दोहे की सहायता से लेखक इसे स्पष्ट करते हैं—

विद्या बन्धु विदेश में, विद्या विपत सहाय।
जो नारी विद्यावती, सो कैसे दुःख पाय॥
राजभाग सुखरूप धन, विपत समय तज जॉह।
इक विद्या विपता समय, तजे न नर की बाँह। [3]

पं० गौरीदत्त की तरह पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी भी अंग्रेजी शासन और व्यवस्था की प्रशंसा करते हैं। अपनी नायिका द्वारा वे उसके 'चतुर और प्रजावत्सल' रूप की प्रशंसा करवाते हैं।

भारतेन्दु-युग के लेखकों का मुख्य अन्तर्विरोध ब्रिटिश राज के उत्साहपूर्ण सहयोग और अपने देश की सांस्कृतिक विरासत के द्वन्द्व के रूप में देखा जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा था—

> ''राजभक्ति और प्रजा का हित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है? जैसे हँसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक संग नहीं हो सकता ऐसे ही यह भी असंभव और दुर्घट है...राजभक्ति का फल पहले देखने में बड़ा मीठा है पर परिणाम में महामन्दकारी और रूखा है।'' [4]

बालकृष्ण भट्ट अपने 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886) और 'सौ अजान एक सुजान' (1892) नामक उपन्यासों में वे ब्रिटिश प्रभाव के प्रतिपक्ष के रूप में भारतीय आदर्शों और परम्परा को प्रतिष्ठित करते दिखाई देते हैं। 'नूतन ब्रह्मचारी' में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण बिट्ठल राव के पुत्र ब्रह्मचारी विनायक के सरल व्यवहार के प्रभाव से डाकुओं के सरदार का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है। यह विद्यार्थियों को चारित्रिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। लेखक के अनुसार—

---

1. 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका से
2. भाग्यवती —श्रद्धाराम फिल्लौरी की भूमिका से
3. भाग्यवती से
4. 'बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र' की भूमिका से।

''शिक्षा विभाग में जिस तरह की पाठ्य पुस्तकें प्रचलित हैं उन्हें थोड़ा ही पढ़ने से मालूम हो सकता है कि बालकों पर इसका क्या परिणाम होगा। हमारी इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायेगा कि बालकों के पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धि वाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है।'' [1]

'सौ अजान एक सुजान' पर 'परीक्षा गुरु' का प्रभाव स्पष्ट है। उपन्यास की घटनायें भिन्न हैं लेकिन उसका लक्ष्य और ढाँचा वही है। इसमें भी पं० चन्द्रशेखर नामक एक सदाचारी और विद्वान अध्यापक, सेठ हीराचंद के पुत्र रूपचंद के असामयिक निधन के बाद उसके कुसंगत और दुर्गुणों में फँसें पुत्रों को सुमार्ग पर लाता है। ये दोनों ही वर्णन प्रधान उपन्यास हैं और किसी भी कलात्मक उपलब्धि की अपेक्षा अत्यन्त स्थूल ढंग से चरित्र निर्माण को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते हैं।

मेहता लज्जाराम शर्मा वैचारिक स्तर पर सनातन हिदू दृष्टि के समर्थक उपन्यासकार हैं, जो समाज में तीव्रगति से विकसित अंग्रेजी सभ्यता और शिक्षा के दुष्प्रभावों को अंकित करके भारतीय संस्कृति और संस्कारों को प्रतिपक्ष के रूप प्रस्तुत करते हैं। 'धूर्त रसिकलाल' (1899) में रसिकलाल नामक एक धूर्त व्यक्ति के मित्रघात और विश्वासघात की कहानी है। 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (1899) रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों को आमने-सामने रखकर पश्चिमी और भारतीय जीवन पद्धतियों की तुलनात्मक समीक्षा में प्रवृत्त होता है। 'आदर्श दम्पत्ति' (1904) में वे स्त्री की सामाजिक असुरक्षा को अंकित करते हैं। 'सुशीला विधवा' (1907) में भारतीय समाज में विधवा की दयनीय स्थिति का चित्रण है, जिसे चाहते हुए भी पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है। 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' भी अपने नाम के अनुरूप, अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक वनमाली के बहुविध स्खलन और नैतिक विचलन को केन्द्र में रखकर अन्ततः अपनी पतिव्रता पत्नी द्वारा उसके सुधार की कहानी है। 'आदर्श हिन्दू' (1915) में लेखक हिन्दू के लिए तीर्थयात्रा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। अपने इस उपन्यास में इन्होंने आर्य समाज के सुधारवादी कार्यक्रमों की आलोचना करके सनातनी हिन्दू दृष्टि और कर्म की मर्यादा का बखान करता है। अपने इस उपन्यास में लेखक ने भारतीय समाज में तेजी से विकसित होने वाले मध्यवर्ग के अनेक द्वन्द्व और अन्तर्विरोधों को विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया है।

किशोरी लाल गोस्वामी भी वैचारिक स्तर पर सनातन हिन्दू धर्म के अनुकूल हैं। इनके सामाजिक उपन्यासों में 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' (1890 ई०), 'लीलावती वा आदर्श सती' (1901 ई०) 'राजकुमारी' (1902 ई०) 'चपला वा नव्य समाज' (1903 ई०), 'पुनर्जन्म वा सौतिया दाह' (1907 ई०), 'माधवी माधव वा मदन मोहिनी' (1909 ई०), 'अँगूठी का नगीना' (1918 ई०) आदि प्रसिद्ध हैं। इनके प्रायः सभी उपन्यास स्त्री प्रधान हैं और उनमें प्रेम के विविध रूपों का चित्रण मिलता है। उन्होंने जहाँ एक ओर सती-साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम का चित्रण किया है, वहीं दूसरी ओर साली बहनोई के अवैध प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन, देवदासियों की विलास-लीला आदि का भी सजीव अंकन किया है।

इस परम्परागत सनातन हिन्दू दृष्टि से भिन्न साम्प्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू' इस कालावधि का एक उल्लेखनीय उपन्यास है। भाग्यवती की तरह यह भी अपने लिखे जाने के लगभग नौ वर्ष बाद प्रकाशित

---

1 नूतन ब्रह्मचारी की भूमिका से

हुआ। हिन्दू मुस्लिम सौहार्द्र की दृष्टि से उल्लेखनीय इस रचना में गोवध की समस्या केन्द्र में है। लेकिन इसका प्रशंसनीय पक्ष यह है कि यह किसी रूढ़ हिन्दू या धार्मिक दृष्टि के उत्साहपूर्ण समर्थन से मुक्त है।

स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यास का यह विकास काल गहरे नैतिक आग्रहों और दबावों का काल है। इसीलिए ऐसा लगता है कि प्रेम को उपन्यास के लिए लगभग एक वर्जित क्षेत्र माना जाता था। युवा मानसिकता को दीक्षित करके संस्कारों का निर्माण ही इस काल के सामाजिक उपन्यासों का एकमात्र लक्ष्य था। ऐसी स्थिति में ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामा स्वप्न' (1888) ब्रजनंदन सहाय के 'राजेन्द्र-मालती' और 'सौन्दर्योपासक' (1912) तथा अयोध्या सिह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899) और 'अधखिला फूल' (1907) आदि इस वर्जित क्षेत्र में प्रवेश के आरंभिक महत्त्वपूर्ण प्रयास हैं।

ठाकुर जगमोहन सिह का 'श्यामा स्वप्न' श्यामसुन्दर नामक एक क्षत्रिय युवक और श्यामा नामक एक ब्राह्मण लड़की के प्रेम को केन्द्र में रखकर विकसित होता है। पड़ोस का साहचर्य भाव ही अनजाने ही उनके मन में प्रेम बनकर समा जाता है। छोटी-बड़ी बाधाओं के बीच, श्यामा की छोटी बहन की मध्यस्थता और सहयोग से यह प्रेम काफी दूर तक जा पहुँचता है। आत्महत्या की धमकी देकर वह श्यामा को अपने और निकट ले आता है जिसकी परिणति अन्तत: श्यामा के गर्भवती हो जाने में होती है। लेकिन सामाजिक रूढ़ियाँ इस अंतर्जातीय विवाह की अनुमति नहीं देती। प्रगाढ़ प्रेमानुभूति और सामाजिक रूढ़ियों का द्वन्द्व उपन्यास में गहरी करुणा के साथ अंकित है।

'श्यामा स्वप्न' की परम्परा की विस्तार की दृष्टि से ब्रजनंदन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ दृष्टि का सूचक है। इसका नायक अपने ही विवाह के समय अपनी साली के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगता है। प्रेम की इस असफलता की गहरी कसक को लेखक गहरी संवेदना के साथ अंकित कर सका है। दोनों ही प्रेमी अपने-अपने ढंग से इस पीड़ा को झेलते-भुगतते हैं। सौन्दर्योपासक की पत्नी भी इस दु:खद व्यापार में शामिल हो जाती है। साली और पत्नी दोनों ही अकाल मृत्यु को प्राप्त करते हैं और शोक मनाने के लिए सौन्दर्योपासक कथानायक बचा रहता है। प्रेम की सूक्ष्म तरंगों और संसार की कटुता के प्रति नायक की हार्दिक और भावावेगपूर्ण प्रतिक्रियाओं में ही उपन्यास विकसित होता है।

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' का महत्त्व उसकी प्रेमकथा में निहित है। इस उपन्यास की कहानी एक गाँव को केन्द्र में रखकर विकसित होती है। देवबाला नामक किशोरी के देवनंदन नामक किशोर से हुए प्रेमानुभव के रूप में ही कहानी को बुना गया है। उदात्त एवं आदर्श प्रेम के बलिदान पूर्ण समापन को लेखक ने गहरी करुणा के साथ अंकित किया है। पति के चारित्रिक स्खलन और सारे दुर्व्यवहार के बावजूद देवबाला एक आदर्श एवं संयमशील हिन्दू स्त्री की मर्यादा का पालन करती है। इसी प्रकार हरिऔध जी के दूसरे उपन्यास 'अधखिला फूल' में भी एक हिन्दू स्त्री के आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक अंधविश्वासों की आलोचना की गयी है।

इन सामाजिक उपन्यासों के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी कहा जा सकता है कि इनमें समाज के बुनियादी सत्यों की पकड़ नहीं है। इसीलिए ये उपन्यास यथार्थ की संश्लिष्टता और चरित्रों की मनोवैज्ञानिक गहनता से अछूते हैं। नैतिकतामूलक उपदेशवादिता उपन्यास के शिल्प को कमजोर करती है।

ऐतिहासिक— अंग्रेजी के आलोचक लेस्सली स्टीफन ने ऐतिहासिक उपन्यास को एक वर्णसंकर रचना के रूप में परिभाषित किया था, क्योंकि वह दो परस्पर विरोधी चीजों—इतिहास और कल्पना—के मेल से बनता है। लेकिन इस सबके बावजूद ऐतिहासिक उपन्यास, 'उपन्यास' विधा की यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

किशोरीलाल गोस्वामी ने यद्यपि कि सामाजिक, तिलिस्मी-जासूसी उपन्यास भी प्रचुर मात्रा में लिखें, किन्तु उनकी मुख्य पहचान एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप मे ही स्वीकृत है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के संबंध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, ''हमने अपने बनाये उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से नमस्कार कर दिया है।'' वस्तुत: इतिहास के प्रति यह अगंभीर दृष्टि ही उनके ऐतिहासिक उपन्यासों को गम्भीरता से लिये जाने के लिए प्रमुख बाधक तत्व है। उन्होंने अपने उपन्यासों के लिए इतिहास का जो कालखंड चुना है वह मुख्यत: मुस्लिम और राजपूत काल से सम्बद्ध है, किन्तु उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या 'हिन्दू-दृष्टिकोण' से अधिक की है जिसमें यत्र-तत्र मुसलमानों से बदला लेने की उनकी इच्छा और प्रवृत्ति को भी देखा जा सकता है। वे राजपूती शौर्य और स्त्री की गरिमा को मुसलमानों के अत्याचारी और नृशंसता के विरोध में खड़ा करते हैं। उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों में 'प्रणयिनी-परिणय' (1890 ई०) 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' (1890 ई०) 'लवंगलता वा आदर्शबाला' (1890 ई०) 'तारा वा छात्रकुल कमलिनी' (1902 ई०) 'सुलताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (1904), और 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' (1911 ई०), 'लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा' (1917 ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों के इन दोहरे शीर्षकों को देखकर ही इतिहास और अपनी रचनावस्तु के प्रति उनकी दृष्टि को समझा जा सकता है। इन उपन्यासों में अभिप्रेत काल के समाज का यथार्थबोध नहीं प्राप्त होता। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्द हैं—

> ''इनमें उस काल की जटिल सामाजिक स्थितियों, मानव-मन की आकांक्षाओं, प्रश्नों, व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का तो सूक्ष्म निरीक्षण नहीं प्राप्त होता, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह भी नहीं लक्षित होता। कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नहीं होता।'' [1]

इन उपन्यासों में रोमांचकारी घटनाओं की सृष्टि कर इन्हें जहाँ एक ओर मनोरंजक बनाया गया है, वहीं उपदेश का स्वर भी सुनाई पड़ता है। किशोरी लाल गोस्वामी के 'तारा' उपन्यास में रानी चन्द्रावली अपने भाई से कहती है—'' भारतवर्ष के भाग्य विपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास आँखों के आगे नाच रहा है, तोभी स्वार्थ से अंधे होकर तुमने यवनों पर अंधविश्वास कर लिया है। भाई जागो मोह-निद्रा को छोड़ सनातन धर्म और क्षत्रिय कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।'' [2] इतिहास के प्रति गंभीर और किसी सीमा तक वस्तुनिष्ठ दृष्टि अपनाने के कारण मेहता लज्जाराम शर्मा कृत 'जुझार तेजा (1914) और ब्रजनंदन सहाय कृत 'लाल चीन' (1916) मिश्र बन्धुओं का 'वीरमणि' अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास हैं, जिन्होंने हिन्दी में, ऐतिहासिक उपन्यास के उस आरम्भिक दौर में भी, एक साहित्य रूप के तौर पर, उसकी संभावनाओं का संकेत सफलतापूर्वक किया है। आगे चलकर वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, शिव प्रसाद मिश्र ने ऐतिहासिक उपन्यास को सशक्त रूप से नई पहचान दी।

---

1. हिन्दी उपन्यास —डॉ० रामदरश मिश्र
2. तारा —किशोरी लाल गोस्वामी

घटना प्रधान शुद्ध मनोरंजक उपन्यास— इसके अन्तर्गत शुद्ध मनोरंजन को लेकर लिखे गये उपन्यास—'तिलिस्मी-ऐय्यारी' एवं 'जासूसी' उपन्यास आते हैं जो घटना बहुलता से ओत-प्रोत हैं। वैसे तो घटनात्मकता सामाजिक, ऐतिहासिक उपन्यासों में भी दिखाई पड़ती है; किन्तु तिलिस्मी ऐय्यारी, जासूसी उपन्यास घटनावैचित्र्य के लिए ही रचा गया। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—''इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना वैचित्र्य रहा; रससंचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं।'' विस्मय जन्य आनन्द की सृष्टि करना ही तो इन उपन्यासों का लक्ष्य होता है। ऐसे उपन्यास रचना पर खीझ कर प्रेमचन्द ने कहा था—

> ''साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। [1]

तिलिस्मी-ऐय्यारी— 'तिलिस्म' अरबी में ग्रीक भाषा से आया शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—अद्भुत और आश्चर्यजनक कल्पना। 'ऐय्यार' का अर्थ होता है, चालक, वेग से चलने वाला या दूर तक दौड़ने वाला। खत्री जी के अनुसार, ''ऐयार उसको कहते हैं जो हर एक फन जानता हो। शक्ल बदलना और दौड़ना उनका मुख्य कार्य है।'' [2] तिलिस्मी उपन्यासों में ऐय्यारों का उल्लेख होता है, क्योंकि इन्हीं पर नायक की सम्पूर्ण कार्यशक्ति केन्द्रित होती है।

हिन्दी में तिलिस्मी ऐय्यारी उपन्यास का प्रारम्भ देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' से होता है, जो 'तिलिस्म-होशरूबा' के पैटर्न पर आधारित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ''पहले मौलिक उपन्यास लेखक जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे।'' [3] चन्द्रकान्ता के अभूतपूर्व स्वागत के बाद खत्री जी ने राजकुमारी से महारानी बनी चन्द्रकान्ता के पुत्रों की कथा के माध्यम से इसी कथा शृंखला को 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (1894-1905) के चौबीस भागों से पूर्ण किया। इसके बाद इसी शृंखला को अपने ऐय्यार पात्र भूतनाथ को केन्द्र में रखकर 'भूतनाथ' लिखा, जिसे उनके पुत्र ने पूरा किया। 'नरेन्द्र मोहनी' (1893), 'कुसुम कुमारी' (1898), 'वीरेन्द्रवीर अर्थात् कटोरा भर खून' (1895) और 'काजर की कोठड़ी' (1902) आदि उपन्यास भी उन्होंने लिखा।

'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' हिन्दी उपन्यास के नवस्फुटित यथार्थवादी रुझान के प्रति उदासीन रहकर उपन्यास की एक नवीन धारा का प्रवर्तन करता है। उसका वैचारिक आधार बहुत क्षीण है। मध्यकालीन पद्यकथाओं के ढंग पर ही उसमें प्रेम-सम्बन्धों के विकास को अंकित किया गया है। 'चन्द्रकान्ता' का महत्त्व एक ओर यदि उसकी असाधारण कल्पना शक्ति में निहित है तो दूसरी ओर रहस्य को सुरक्षित रखने वाले कथा संगठन में। एक अन्य उपलब्धि यह है कि तिलिस्मी कहानी में भी वे अलौकिक चमत्कार और जादू-टोने के तत्त्वों का तिरस्कार करते हैं। इस उपन्यास में बड़ा से बड़ा चमत्कार मानवीय बुद्धि का परिणाम है। इसी तथ्य को उपन्यास का एक पात्र सिद्धनाथ बाबा कहता है—

> ''जो काम आदमी के या ऐयारों के लिए नहीं होसकता, उसे मैं भी नहीं कर सकता...।'' [4]

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, 'उपन्यास' निबन्ध पृष्ठ 82।

2 चन्द्रकान्ता, पृष्ठ 2, फुटनोट

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 273

4 चन्द्रकान्ता-2, पृष्ठ 33

उत्सुकता को बढ़ाने के लिए लेखक अपने कथासूत्र को चरम तक ले जाकर अधूरा छोड़कर फिर दूसरा सूत्र उठा लेता है। कितने ही पृष्ठों के बाद, कभी-कभी तो पूरा एक खण्ड समाप्त हो जाने के बाद, उस छूटे हुए सूत्र को पुन: उठाकर आगे बढ़ता है। इस सन्दर्भ में लेखक की स्मरण शक्ति अभिभूत करने की सामर्थ्य रखती है। यही कारण है कि तिलिस्मी उपन्यास इनके युग में हरिकृष्ण जौहर (कुसुमलता; भयानक भ्रम, नारी पिशाच; मयंमोहनी या मायामहल आदि), राम लाल वर्मा (पुतली महल), किशोरी लाल गोस्वामी ने (तिलस्मी शीशमहल) आदि लेखकों ने भी लिखे, लेकिन इस विधा का जैसा सम्पूर्ण विकास और दोहन देवकीनंदन खत्री ने किया, दूसरा कोई लेखक उसके आस-पास भी नहीं पहुँच सका।

देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों ने विशेषकर 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' ने एक विशाल पाठक वर्ग का निर्माण किया। इस दृष्टि से इसके प्रभाव को संक्रामक भी माना जा सकता है। आचार्य शुक्ल भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं—

> ''हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकी नंदन का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने और किसी ग्रंथकार ने नही। चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिन्दी सीखी। चन्द्रकान्ता पढ़ चुकने पर वे 'चन्द्रकान्ता' की किस्म की कोई किताब ढूँढ़ने में परेशान रहते थे। शुरू-शुरू में 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिन्दी के लेखक हो गये।''[1]

उसकी इस लोकप्रियता का कारण यदि उपन्यास का कथा संगठन, रहस्य की भावना को बढ़ाने और सुरक्षित रखने की उसकी कला थी, तो निजी तौर पर देखे गये जंगलों, खण्डहरों और प्रकृति के अन्य रूपों का चित्रात्मक वर्णन भी था। भारतेन्दु युगीन साहित्य की दृष्टि में यह एक नयी चीज थी। लेकिन सबसे अधिक महत्त्व इन उपन्यासों की भाषा और उसके क्रमिक विकास पर केन्द्रित लेखक की दृष्टि है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

> ''उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है जिसे थोड़ी हिंन्दी और थोड़ी उर्दू पढ़े लोग भी समझ लें। कुछ लोगों का यह समझना कि उन्होंने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली 'आमफहम' भाषा का बिल्कुल अनुसरण किया जो एकदम उर्दू की ओर झुक गयी थी, ठीक नहीं। कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्यिक हिन्दी न लिखकर 'हिन्दुस्तानी' लिखी।''[2]

जासूसी— इग्लैंड में कॉनन डायल, फ्रांस में मार्स लेब्लांक और अमेरिकी पो के जासूसी उपन्यासों ने हिन्दी में जासूसी उपन्यास के उद्भव की परिस्थिति दी। 1898 में गोपालराम गहमरी ने सर्वप्रथम बंगला से 'हीरे का मोल' उपन्यास अनुदित कर प्रकाशित कराया। इसकी लोकप्रियता से उत्साहित होकर गहमरी जी ने सैकड़ों की संख्या में जासूसी उपन्यास लिखे जिसमें 'गुप्तचर' (1899) 'बेकसूर की फाँसी' (1900), सिरकटी लाश (1900), 'डबल जासूस' (1900), 'जमुना का खून' (1901), 'खूनी की खोज' (1903), 'मेरी और मेरीना' (1905), 'रहस्य-विप्लव' (1905), 'भयंकर भेद'

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 273
2. वही।

(1907) 'जासूस की डायरी' (1912), 'जासूस की बुद्धि' (1914) आदि उल्लेख हैं। गहमरी जी के इन जासूसी उपन्यासों का उद्देश्य भी देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की तरह ही, पाठक वर्ग का मनोरंजन था। इन उपन्यासों का मुख्य आकर्षण अपराधी की पहचान को अंत तक सुरक्षित रखते हुए पाठकों के कौतूहल को बनाये रखना था। प्रेमचन्द ने जासूसी उपन्यासों की शैली के सन्दर्भ में लिखा है—

> ''जासूसी उपन्यासों के लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना जाहिरा असंभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों नहीं सूझी, यह तो बिल्कुल साधारण बात थी।'' [1]

देवकीनंदन खत्री की भाँति ही गहमरी जी अपने इन उपन्यासों की कथा भूमि के लिए अपने सुपरिचित स्थानों—गहमर, जमनियाँ, काशी, बम्बई आदि को ही चुनते हैं। इसी कारण उनके ब्यौरों में प्रामाणिकता और विश्वसनीयता का पुट है। अपने हल्के-फुल्के और अगंभीर रूप के बावजूद ये जासूसी उपन्यास अपने युग के सुधारवादी अग्रहों से मुक्त नहीं है। कर्मानुसार फल-प्राप्ति का दर्शन इनसे भी प्रस्फुटित होता था, क्योंकि वास्तविक अपराधी को ढूँढ़कर उसे उसके द्वारा दिये गये अपराध का दंड दिलाना ही जासूस का काम था। भाषा के स्तर पर भी इसका लक्ष्य मानवीय चरित्र की सूक्ष्मताओं को पकड़ने की अपेक्षा कौतूहल को बनाये रखने में निहित है। इसीलिए प्रेमचन्द जैसे सतर्क और यथार्थदर्शी लेखक को ये उपन्यास कत्ताई पसंद नहीं थे। उन्होंने अपने 'उपन्यास का विषय' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—

> ''मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे उपन्यासों की बाढ़ सी आ गयी है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो।'' [2]

कहना न होगा कि प्रेमचन्द का संकेत तिलिस्मी—जासूसी उपन्यासों के रचना विधान की ओर है। इसी निबन्ध में आगे चलकर वे लिखते हैं—

> ''जिन्हें जगत् गति नहीं व्यापती वे जासूसी तिलस्मी चीजें लिखा करते हैं।'' [3]

लेकिन इस सीमित लक्ष्य के बावजूद भी क्षेत्रीय मुहावरों एवं शब्दों के प्रयोग ने इसे नयी जीवंतता दी है। रामलाल वर्मा ने 'चालाक चोर', 'जासूस के घर खून', 'जासूसी कुत्ता' आदिं; किशोरी लाल गोस्वामी ने 'जिन्दे की लाश', जयरामदास गुप्ता ने 'लंगड़ा खूनी' आदि लिखकर गहमरी जी की परम्परा को आगे बढ़ाया।

हिन्दी उपन्यास के उद्‌भव और विकास का यह काल 1872 ई० से 1917 ई० तक माना जा सकता है। यह रचनात्मक ऊर्जा की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि हिन्दी उपन्यास आगे चलकर जिन दिशाओं में फैलने या शिखरों को स्पर्श करने वाला था, उसके संकेत इस कालखण्ड के उपन्यासों में बीज रूप में ही सही विद्यमान हैं। सुधारवादी आन्दोलनों के

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ('उपन्यास रचना' निबन्ध) पृष्ठ 76

2. साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 59

3. साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 59

कारण स्त्री की नियति, उसे शिक्षित करके संस्कारित करने की प्रवृत्ति इस दौर के सामाजिक उपन्यासों की प्रमुख विशेषता के रूप में रेखांकित किया जा सकता। यात्रा वृत्तान्त और स्वप्न शैली के अपने प्रयोग के कारण पं० अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' (1894) उपन्यास के शिल्प-तंत्र के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। बाबू नबाब राय जो आगे चलकर 'प्रेमचंद' के नाम से हिन्दी उपन्यास में एक क्रांति प्रस्तुत करने वाले थे, इसी कालखण्ड में, उर्दू में उपन्यास लेखन शुरू कर चुके थे। उनके उर्दू उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसबाब' (1906) का अनुवाद 'प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह' नाम से 1907 में हिन्दी में प्रकाशित हुआ जिसे आलोचकों ने प्रेमचन्द के मौलिक उपन्यासों में शामिल करके विचार किया।

1918 में 'सेवा सदन' के साथ हिन्दी उपन्यास मंच पर आये प्रेमचन्द ने हिन्दी को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। "भारतेन्दु युग के निबन्धों और उपन्यासों के पढ़ने वाले बहुत थोड़ी संख्या में थे। 'चन्द्रकान्ता' और 'तिलिस्म होशरूबा' के पढ़ने वाले लाखों थे। प्रेमचन्द ने इन लाखों पाठकों को 'सेवासदन' का पाठक बनाया, यह उनका युगान्तकारी काम था।" [1] भारतीय समाज में विधवा की नियति, अनमेल विवाह, दहेज और स्त्री शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन—मोटे तौर पर यहीं से प्रेमचन्द अपनी रचनात्मक यात्रा शुरू करते हैं। कहना न होगा कि इस दृष्टि से वे पूर्व प्रेमचन्द युगीन परम्परा का ही विकास करते हैं। डॉ० राम विलास शर्मा ने तो भारतेन्दु युगीन उपन्यास की परम्परा के ही विकास की अगली कड़ी मानकर उनका मूल्यांकन किया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार तो प्रेमचन्द को पूर्ववर्ती लेखकों से प्रभावित मानना निराधार है, लेकिन यह भी सच है कि प्रेमचन्द को इस पहले से चली आती कथा-धारा से अलग करके देखना भी गलत है। इस प्राप्त और उपलब्ध कथाधारा को अपनी उपस्थिति से ऐसा आकार देते हैं कि वह एक नई उद्‌भावना जैसी लगने लगती है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के शब्द हैं—

> "हिन्दी साहित्य का यह रूप उपन्यास जन्मना निम्न श्रेणी का होने पर भी कितना महत्त्वाकांक्षी था, यह इसी से पता चलता है कि जब वह मनोरंजन का साधन बनकर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था, यद्यपि उसे पूर्णतः कृतकार्य होने के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक प्रेमचन्द ने उसका अछूतोद्धार नहीं कर दिया। [2]

प्रेमचन्द का महत्त्व यह है कि अपने पूर्ववर्ती लेखकों से अपनी विषय वस्तु लेकर भी वे उसे उसी तरह से प्रस्तुत नहीं करते जैसे उनके ये पूर्ववर्ती लेखक करते थे। भारतेन्दुयुगीन लेखक सनातन हिंदू आदर्शों के उत्साहपूर्ण समर्थन की झोंक में भारतीय समाज में पुरुष के वर्चस्व को ही महत्त्व दे रहे थे। स्त्री के प्रति दृष्टि सामंती थी, जो स्त्री की पराधीनता को ही उसके जीवन का सबसे बड़ा सत्य मानकर चलती थी। प्रेमचन्द के रूप में अपने रूपान्तरण से पहले, 'रूठीरानी' में ही प्रेमचन्द इस सामन्ती मूल्य दृष्टि पर गहरा आघात करते हैं। 'रूठी रानी' की नायिका स्त्री के प्रति समाज के दोहरे मानदण्डों के प्रयोग का सक्रिय विरोध करती है और इसके लिए अनुमान से कहीं अधिक मूल्य चुकाती है। अपनी इसी रचनात्मकता के दौर में लिखित 'देवस्थान रहस्य', जो मूलतः ऊर्दू में 'असरारे मुआविद' के नाम से लिखा गया, में प्रेमचन्द (मुंशी नवाबराय के रूप

1. प्रेमचन्द्र और उनका युग —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 31
2 प्रेमचन्द्र और उनका युग —डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 39

में) मठों और मंदिरों की चौखट पर मत्था नहीं टेकते, जैसा हिन्दू दृष्टि और भारतीय संस्कृति के नाम पर भारतेन्दुयुगीन लेखक कर रहे थे। डॉ० राम विलास शर्मा के शब्द हैं—

> ''धार्मिक पाखण्ड और वेश्यावृत्ति में कितना निकट संबंध है, प्रेमचन्द से छिपा नहीं है। कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए प्रेमचन्द मंदिर के पुजारियों को बख्शते हैं और न मस्जिद के मौलवियों को।'' [1]

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती लेखकों ने उपन्यास को या तो शिक्षा और उपदेश के लिए अपनाया था या फिर मनोरंजन के लिए। इस कालखण्ड के उपन्यास भले ही समाज सुधार के कुछ प्रमखु मुद्दों को अपनी विषय वस्तु के रूप में उठाते दिखाई देते हों, लेकिन वे उस राजनीतिक समझ और चेतना का कोई प्रमाण नहीं जुटाते जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों 'भारत-दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' में मिलता है या फिर बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दुबाबू के निबन्धों में। प्रेमचन्द ही पहले लेखक थे जिन्होंने एक सहविकसित कलारूप के तौर पर उपन्यास की प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता की लड़ाई लड़ी। उन्होंने उपन्यास को सामाजिक और राष्ट्रीय सवालों से जोड़ा और उसकी कलात्मकता का विकास किया। उन्होंने 'उद्देश्य' और 'मनोरंजन' की दो भिन्न धाराओं को मिलाकर एक किया। उन्होंने उपन्यास को मनोरंजन से अलग किये बिना भी, मनोरंजन की सीमा से मुक्त किया। उन्होंने उपन्यास की पठनीयता, रोचकता को क्षति पहुँचाये बिना भी जीवन और समाज के व्यापक सन्दर्भ से जोड़ा। मानव-चरित्र के उद्घाटन से उपन्यास को जोड़कर एक ओर यदि उन्होंने उपन्यास को इकहरे और स्थूल पात्रों से बचाकर उसमें सजीव मानव की प्रतिष्ठा की, तो वहीं मनोवैज्ञानिक उपन्यास के उदय की रूपरेखा तैयार की। उपन्यास में मध्यवर्ग को महत्त्व देते हुए भी इससे बँधे नहीं। एक कृषि प्रधान देश के रूप में भारत की पहचान को स्वीकृति देते हुए उन्होंने उपन्यास को बुनियादी वर्गों किसान और मजदूर से जोड़ा। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्द हैं—

> ''प्रेमचन्द की दृष्टि मूलतः किसान केन्द्रित है, वही उनका मापदण्ड है। परंतु इस मापदण्ड में भी गरीब, दलित और मजदूर को वे भूलते नहीं हैं।'' [2]

यही कारण है कि जितने वे भारतेन्दु युग की यथार्थवादी परम्परा का विकास करने वाले लेखक हैं, आनुपातिक रूप से उससे कहीं अधिक उसका अतिक्रमण करने वाले लेखक का उदाहरण हैं।

प्रेमचन्द के बाद जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती'; विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक ने 'माँ' और 'भिखारिणी' शिवपूजन सहाय ने 'देहाती दुनिया', सियाराम शरण गुप्त ने 'गोद' 'अंतिम आकांक्षा' और 'नारी', वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़कुण्डार' आदि; चतुरसेन शास्त्री ने 'हृदय की परख', 'अमर अभिलाषा'; आदि के माध्यम से हिन्दी उपन्यास के विकास में योग दिया। इनमें विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, विषयवस्तु एवं भाषा दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचन्द के सबसे निकट है। शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' ने आंचलिक उपन्यास के उद्भव को दिशा दी। 'देहाती दुनिया' का गाँव अपनी निर्धनता, अज्ञानता, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों की मार सहता हुआ भारत का एक प्रतिनिधि गाँव हैं। कथानक पर्याप्त असंबद्ध

---

1. साहित्य : तत्व और आलोचना, पृष्ठ 100
2. प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, की भूमिका से

है, लेकिन व्यंग्य और बिम्बों के मेल से बनी भाषा से चरित्रांकन की जो पद्धति अपनाई गयी है, उससे ही उपन्यास को एक विशिष्ट पहचान मिलती है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्द हैं—

> '' 'देहाती दुनिया' को जिस अर्थ में 'ठेठ देशज ठाठ का उपन्यास' कहा जा रहा है, वहभदेस विद्रूप को अपनी अंतर्वस्तु में खपा लेने की युक्ति जानता है। पाखण्ड या लोक रीति के नाम पर प्रचलित चरम विकृतियों का निर्मम उद्‌घाटन प्रगतिशील दृष्टि के अभाव में असम्भव है।'' [1]

वृन्दावनलाल वर्मा एवं चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखकों ने भले ही आगे चलकर अपनी मुख्य पहचान ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर लिखे जाने वाले उपन्यास लेखक के रूप में बनाई हो, लेकिन अपने उपन्यास लेखन की शुरुआत सामाजिक उपन्यासों से ही की थी, जिसकी पृष्ठभूमि में प्रेमचन्द की प्रेरणा थी। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और जैनेन्द्र कुमार, प्रेमचन्द की उपस्थिति के बावजूद, उनसे भिन्न और अलग राह की ओर बढ़ रहे थे। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर रहे थे, तो 'उग्र' जी प्रेमचन्दीय सामाजिक यथार्थ को ही किंचित भिन्न और उग्र रूप में अभिव्यक्त करने के कारण ही 'घासलेटी' और 'प्रकृतिवादी' जैसी चिप्पियों द्वारा पहचाने जाकर उपहास और भर्त्सना का पात्र बन रहे थे। प्रेमचन्दीय विचारों और इच्छाओं की ओर से उदासीन होकर वृन्दावन लाल वर्मा का 'गढ़ कुण्डार' ऐतिहासिक उपन्यास को एक आश्चर्यजनक प्रौढ़ता प्रदान करता दिखाई देता है। प्राचीन आदर्शों के नाम पर समूची जीवन परम्परा में साँस लेते पाखण्ड और आडम्बर को भगवती चरण वर्मा अपने 'चित्रलेखा' में निर्ममतापूर्वक शब्द देते दिखाई देते हैं।

कहना न होगा कि प्रेमचन्द के काल में ही उनके विरुद्ध आवाज उठने लगी थी। आरोप का मुख्य बिन्दु यह था कि उन्होंने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और प्रेमानुभूति के प्रति उपेक्षा दिखाई। इस आरोप के समर्थन में मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में एक ऐसा रचनात्मक विस्फोट दिखाई देता है, जिसने हिन्दी उपन्यास की सन्दर्भ और प्रकृति में क्रान्तिकारी मोड़ पैदा किया। प्रेमचन्द के समय में ही भगवती प्रसाद बाजपेयी ने प्रेम सम्बन्धों को लेकर अनेक उपन्यास लिखे। प्रेमचंदयुगीन लेखकों में उषादेवी मित्रा ने नारी जीवन की अनेक समस्याओं पर नारी के रूप में अनुभव करके उपन्यास रचे। प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व उनके उपन्यासों की केन्द्रीय समस्या है, जिसमें अन्ततः नारी त्याग, सेवा, ममता और करुणा आदि मानवीय गुणों का परिचय देती है। इनके उपन्यासों में 'वचन का मोल' , 'जीवन की मुस्कान', 'पिया' तथा 'पथचारी' आदि उल्लेख्य हैं। परिवार से सामाजिक आन्दोलनों की ओर आती भारतीय स्त्री की संक्रमणकालीन मनोदशाओं का अंकन उषादेवी मित्रा ने पर्याप्त विश्वसनीय धरातल पर किया है।

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द युग साधारण मनोविज्ञान और राष्ट्रीय जागृति का काल है, जिसमें सामाजिक कुरीतियों के निराकरण का प्रयत्न, पतन और पराजय के प्रति आदर्शों की स्थापना, उत्पीड़ित, शोषित और दुःखी मानवता के लिए हार्दिक संवेदना है। कथा में इतिवृत्त, निश्चित घटना, कार्य व्यापारों का आधिक्य, रचना शैली की सोद्‌देश्यता, सरलता है; किन्तु सन् 1936 ई० के बाद हिन्दी उपन्यास एक नया मोड़ लेता है। प्रेमचन्द ने यथार्थ के स्वरूप का उद्‌घाटन करते हुए भी उसे आदर्शोन्मुख कर दिया। उनके शब्द हैं—

---

1 उपन्यास का पुर्नजन्म —परमानंद श्रीवास्तव, पृष्ठ 21

> ''हम वही उपन्यास उच्च कोटि के समझते हैं जहाँ Realism और Idealism का समन्वय हो गया है। उसे आप Idealitic Realism कह सकते हैं। Idea को सजीव बनाने के लिए Realism का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।'' [1]

प्रेमचन्द युग के अनेक लेखक, प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की अवधारणा का अतिक्रमण नहीं कर सके जबकि स्वयं प्रेमचन्द गोदान में कुछ सीमा तक चोट करते हुए दीख पड़ते हैं। प्रेमचन्द के पश्चात्, हिन्दी उपन्यास जिस सर्जनात्मक विस्फोट की सूचना देता है, उसका एक रूप यदि मनोवैज्ञानिक और प्रयोगशील उपन्यास के रूप में दिखाई देता है, तो दूसरा सामाजिक उपन्यासों के रूप में। इन सामाजिक उपन्यासों की एक धारा प्रगतिवादी या समाजवादी उपन्यासों की है, जो अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द के उपन्यासों की सामाजिक परम्परा में आते हुए भी उससे अलग हैं। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, अमृत राय, भैरव प्रसाद गुप्त और भीष्म साहनी आदि इस प्रगतिवादी धारा से जुड़े लेखक हैं जो देश की स्वाधीनता के लगभग एक दशक पूर्व से स्वाधीन भारत में भी जन विरोधी और पूँजीवादी नीतियों के विरुद्ध सार्थक हस्तक्षेप करते रहे हैं। दूसरी धारा उन उपन्यासों की है, जो सामाजिक जीवन के यथार्थ को तो लेते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि मार्क्सवादी नहीं होती है। ये उपन्यास भी प्रेमचन्द के उपन्यासों से अलग हैं, यद्यपि उन्हीं की परम्परा में आते हैं। अलगाने वाला बिन्दु है यथार्थवादी दृष्टिकोण। ये उपन्यास वास्तव में यथार्थवादी हैं, उनमें आदर्शोन्मुखता की परिणति नहीं जुड़ी है। इस धारा में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', निराला, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर अमृतलाल नागर और नरेश मेहता आदि उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने भले ही प्रेमचन्द के समान राजनैतिक विशिष्टता का परिचय न दिया हो, लेकिन अपने समाज के बहुवर्णी यथार्थ को पर्याप्त विश्वसनीयता के साथ अंकित किया है। निराला एवं भगवतीचरण वर्मा की स्थिति भिन्न किस्म की है। अपने समाज के प्रति निराला का दृष्टिकोण आलोचनात्मक है, सृजनात्मक कम। वे यथास्थितिवाद का विरोध करके सामाजिक परिवर्तन की मूल गामी आकांक्षा के साथ दिखाई देते हैं। प्रेमचन्द ने साहित्य और कला को मनोरंजन के स्तर पर उठाकर जीवन और समाज के व्यापक सवालों से जोड़ा था। भगवती चरण वर्मा ने उपन्यास को फिर मनोरंजन से जोड़कर देखा—

> ''प्रगतिवाद में राजनीतिक दर्शन और समाजशास्त्र को साहित्य का साक्ष्य माना गया है, आनन्द और मनोरंजन को केवल साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। मेरे मत में यही प्रगतिवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है, क्योंकि प्रगतिवाद में, कला के मूल स्रोत को ही अस्वीकार करके साहित्य की महत्ता हरण कर ली गई है।'' [2]

प्रेमचन्द और उनकी परम्परा के लेखकों से भिन्न भगवती चरण वर्मा ने 'व्यक्ति' को एक पृथक आधारभूत सत्ता मानते हुए समाज से अलग और हटकर माना। व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं प्रेम, नैतिकता, पाप-पुण्य आदि को ही सामाजिक समस्याओं के रूप में अपने उपन्यास में स्थान दिया। कहना न होगा कि प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास में, सामाजिक यथार्थ के अंकन में, पर्याप्त वैविध्य दिखाई देता। उपन्यास में आया यह परिवर्तन वस्तुतः उसके विकास का ही परिचायक है।

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 82, 'उपन्यास' निबन्ध

2. साहित्य की मान्यताएँ, पृष्ठ 26

मनोवैज्ञानिक उपन्यास फ्रायड के यौनवाद एवं युंग के मनोविश्लेषण के आलोक में विकसित होने वाली उपन्यास की नवीनधारा है। हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द ने 'मानव-चरित्र' के अध्ययन पर बल दिया था, लेकिन उनके पात्रों का मनोविज्ञान जटिलताओं एवं सूक्ष्म तनावों से काफी कुछ मुक्त हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों ने मानवीय व्यवहार और अनुभव के सूक्ष्म स्तरों को उद्घाटित और अन्वेषित करने का प्रयास किया।

इलाचंद्र जोशी से शुरु हुई यह आधुनिकता की यात्रा जैनेन्द्र, भगवती बाबू से होते हुए अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में अपना सर्वोत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। ''अपने भाषिक खुरदुरेपन के कारण तथा प्राय: निबन्धात्मक प्रविधि अपनाने के कारण जोशी के उपन्यासों की महत्ता एवं लोकप्रियता भले ही कम होती गई हो', किन्तु 'परदे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी' तथा 'जहाज का पंक्षी' जैसे उपन्यास जिस मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाते हुए मानव-स्वभाव, चरित्र तथा व्यवहारों का जो उद्घाटन करते हैं, वह हिन्दी में अद्वितीय तो है ही, इसकी तुलना ऑस्कर वाइल्ड के विख्यात उपन्यास 'पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' जैसी कालजयी कृतियों से की जा सकती है, जिनकी अपनी परम्परा रही है।'' [1] जोशी जी को प्राय: फ्रायडवादी लेखक के रूप में स्वीकृति दी है। अपने को फ्रायड से प्रभावित मानते हुए भी वे इसे पूरी तरह सत्य नहीं मानते। इस सन्दर्भ में उनकी टिप्पणी है, ''मैं फ्रायडवाद का समर्थक नहीं हूँ हालांकि मेरे आलोचकों ने मेरी रचनाओं को फ्रायडवादी बनाकर बदनाम कर रखा है। फ्रॉयड का मनोविश्लेषण अवचेतना के बहुत ऊपरी स्तर को छूकर रह जाता है। और गहरे स्तरों के सम्बन्ध में भी बड़ा भ्रम उत्पन्न करता है। ...पर चाहे फ्रॉयडवाद हो चाहे कोई दूसरा मनोविश्लेषणवाद। वह यदि आपके हाथ में एक ऐसा अस्त्र देता है, जिससे आप बुर्जुआ मनोवृत्ति को चीरकर खण्ड-खण्ड करने मे सफलता प्राप्त कर सकते हैं, तब उसे अपनाने में आपको क्यों आपत्ति होती है?'' [2] कहना न होगा कि इलाचंद्र जोशी जैसी उपन्यासकारों की कृतियाँ पुनर्परीक्षण की माँग करती हैं। जैनेन्द्र ने यद्यपि की प्रेमचन्द की छत्रछाया में ही लिखना प्रारम्भ किया था, किन्तु उनके उपन्यास संवेदना और शिल्प दोनों ही स्तरों पर प्रेमचन्द की विपरीत दिशा में जाते दिखाई देते हैं। जैनेन्द्र के साथ हिन्दी उपन्यास एक नये युग और नये संसार में प्रवेश करता है। एक तो उन्होंने पहली बार मितृकथन तथा संक्षिप्तता की कला का उपयोग किया। अपने एक निबन्ध 'प्रेमचन्द का गोदान यदि मैं लिखता' में वे सबसे पहले प्रेमचन्द के वाग् - विस्फार का विरोध करते हैं। प्रेमचन्द के पात्रों की अनावश्यक वाचालता भी उन्हें शब्दों का अपव्यय लगती है। हिन्दी कथा साहित्य में उन्होंने पहली बार व्यक्तिगत सम्बन्धों को विश्लेषित करने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। उनके उपन्यास व्यक्ति और परिवार पर केन्द्रित है इसलिए उनका बाह्य फलक सीमित है। वे आंतरिक चेतना के कथाकार के रूप में सामने आते हैं, इसलिए इलाचंद्र जोशी आदि के 'ऐकेडेमिक' मनोविज्ञान का उपयोग किये बगैर भी गहरे अर्थों में मानवीय मनोविज्ञान के उपन्यास लेखक हैं। 'परख', 'सुनीता' आदि में अत्यन्त सघन नैतिक द्वन्द्व मिलता है, किन्तु 'त्यागपत्र' अधिक साहसिक उपन्यास है और हिन्दी उपन्यास में एक क्रान्तिकारी कदम भी। 'भाषा तथा प्रविधि की दृष्टि से तो यह उपन्यास आज तक एक चमत्कारिक उपलब्धि प्रतीत होता है। त्यागपत्र एक क्लासिक कृति है, जिसके साथ हिन्दी उपन्यास में उस आधुनिकता का आरंभ होता है, जिसे 20 वीं सदी की आधुनिकता कह सकते हैं, जहाँ गहरे अर्थों में प्रश्न तथा शंका करने की गुंजाइश शुरु होती है।' [3]

1. बहती नदी पर पड़ती धूप और छांव —डॉ० विजयमोहन सिंह, पृष्ठ 4, इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 2000
2. विवेचना, संस्करण 48, पृष्ठ 58
3. इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 2000, पृष्ठ 10 —डॉ० विजय मोहन सिंह का लेख

अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी', 'त्यागपत्र' से आगे की कृति है जो आधुनिकता के प्राय: सभी पक्षों को अपने में समेट लेता है। वह शिक्षा, संस्कार, परंपरा, आदर्श तथा उससे जुड़े सारे प्रतिमानों को छिन्न-भिन्न कर देता है। इसी अर्थ में वह विद्रोही है, क्योंकि साहित्य में पहली बार वह निषेध की शुरुआत करता है। ''शेखर मूलत: विद्रोह का आख्यान है। ....'शेखर' का विद्रोह सामान्यत: रोमाण्टिक प्रकार का है, पर उसमें राग के अतिरेक से अलग होने की चेष्टा भी दिखाई देती है।''[1] 'नदी के द्वीप' उपन्यास को अज्ञेय ने 'चार संवेदनाओं का अध्ययन' कहा है, जो स्पष्टतया उसके चार पात्रों—रेखा, भुवन, गौरा और चन्द्रमाधव की ओर संकेत हैं। उपन्यास एक प्रेमकथा के रूप में लिखित है, लेकिन प्रेमकथा न तो सामान्य ईर्ष्या-द्वेष से परिचालित है और न उसमें आत्मत्याग या आत्मपीड़न का परम्परागत रूप मिलता है। यहाँ प्रेम का रोमांस बिल्कुल भिन्न प्रकृति का है जहाँ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला है और राग में भी एक खास तरह का संयम है। पर शरीर का उत्सव भाव भी यहाँ साथ-साथ उपस्थित है। ''इस तरह भावुकता, बौद्धिकता और देह का आकर्षण सब मिलकर 'नदी के द्वीप' की प्रणय संवेदना को एक विशिष्ट पर उदार रूप देते हैं। और यह रूपांकन सम्भव हुआ है प्रधानत: उपन्यासकार की संवेदनशील और सुकुमार भाषा की सर्जनात्मक शक्ति द्वारा के द्वारा।'[2]

स्वतंत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग के जैनेन्द्र, जोशी, अज्ञेय देवराज, भगवती बाबू, अश्क, अमृतलाल नागर, यशपाल जैसे अनेक लेखक स्वातंत्र्योत्तर युग में भी पूरी सक्रियता के साथ हिन्दी उपन्यास यात्रा में उपस्थित हैं। जैनेन्द्र का 'दशार्क' (1985), इलाचंद्र जोशी का 'जहाज का पंछी' (1954) अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी', 'नदी के द्वीप' (1951), भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र' (1959), 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' (1970), अश्क का 'गिरती दीवारें' (1947), 'शहर में घूमता आईना' (1963), अमृत लाल नागर का 'बूँद और समुद्र' (1956) 'अमृत और विष' आदि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मात्रा की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं।

देश की स्वाधीनता एक ऐसी विभाजक रेखा है, जो समाज और साहित्य को देखने का सारा दृष्टिकोण ही बदल देती है। शुरु में इस परिवर्तन की रेखायें स्पष्ट नहीं थी। लोगों को ऐसा भी अहसास हुआ कि 14 अगस्त की रात में सोने और 15 अगस्त की सुबह उठने में कहीं कुछ ऐसा नहीं था, जिसे मूल्यगत अन्तर का संकेत माना जा सके। ''बलवंत सिंह के 'काले कोस' के निसार की तरह जो लोग मर पिचकर पाकिस्तान गये थे, उन्हें एक सा ही आसमान देखकर हैरत हुई थी और कृष्णा सोबती की 'आजादी शम्मोजान' की तरह जो लोग यहीं रह गये थे, गली में हुई सजावट और झड़ियों के बावजूद उनके लिए कमरे की उन्हीं बोसीदा दीवारों और झिंगली खाट पर वे ही पुराने और बीमार से ग्राहक थे, जिनके साथ उसे पहले की तरह ही वही सब कुछ करना था।''[3] स्वाधीन देश के प्रथम प्रधानमंत्री नेहरू, भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के विरुद्ध लम्बी चौड़ी घोषणाओं के बावजूद, तेजी से फैलती और पसरती इस हाहाकारी बाढ़ के आगे असहाय थे। राजनीति का अपराधीकरण एव अपराधी का राजनीतिकरण की स्थितियाँ माहौल को और प्रदूषित कर रही थी। 15 अगस्त 1948 को यशपाल ने विप्लव के अंक में फहरते हुए राष्ट्रीय झण्डे का चित्र देते हुए, जो लिखा वह प्रेमचन्द के गबन के देवीदीन की ही बात का—गद्दी पर जॉन की जगह गोविन्द बैठ गया था—विस्तार था, ''15 अगस्त 1948 के दिन और इसके बाद की पूरी इबारत इस प्रकार है

1. शेखर : एक जीवनी : विविध आयाम —सं० रामकमल राय शेखर : व्यक्तित्व का नया आयाम —डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख।
2 अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या —डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 68
3 हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश, पृष्ठ 181

: पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन सरकारी इमारतों पर फहरेगा जिनसे जनता के दमन के और सार्वजनिक अधिकारों को कुचलने के हुक्मनामें निकलते हैं। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन थानों और कोतवालियों पर फहरेगा जहाँ से रोटी की पुकार करने वाले निहत्थे किसानों और मजदूरों पर आक्रमण किया जाता है। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन जेलों पर फहरेगा जिनमें निरपराध राजनैतिक बन्दी सिसक रहे हैं, यह राजनैतिक बन्दी भूखी जनता के वही प्रतिनिधि है, जिन्होंने ब्रिटिश दमन की चोट को सबसे आगे बढ़कर सहा था। पन्द्रह अगस्त के दिन इस झण्डे के नीचे जमींदारशाही सैकड़ों वर्षो तक निरीह जनता को लूटते रहने की वीरता के परिणाम में अपनी आय से अधिक मुआवज़े का आश्वासन पायेगी। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्रीय झण्डे की छत्र-छाया में पूँजीपति शाही अपने मुनाफे की लूट पर राष्ट्रीय अधिकार को आँच न आने का आश्वासन पायेगी।'' [1]

यह एक मोहभंग की स्थिति थी, जिसमें सबसे बड़ा योगदान देश विभाजन की त्रासदी का था। यह न केवल देश का विभाजन था, वरन् मूल्यों के विघटन का चर्मोत्कर्ष था। विभाजन ने साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा, अविश्वास एवं मानवीयता के ह्रास की जो समस्या उत्पन्न की, उसमें सभी परम्परागत मूल्य ढह गये और एक नई स्थिति का उदय हुआ, जिसे हम आधुनिक व्यक्ति का आन्तरिक संकट भी कह सकते हैं। मनुष्य अपने पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों में शरणार्थी बन गया और उसकी सारी प्रतिबद्धतायें, एक-एककर खण्डित होती गयीं। मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से नया बुद्धिजीवी वर्ग पराजय की आत्मग्लानिपूर्ण असहाय अनुभूति में पूरी तरह टूट गया और आगजनी, बलात्कार, अपहरण एवं हत्याओं का क्रम चलता रहा। इन स्थितियों को यशपाल ने 'झूठा सच', भीष्म साहनी ने 'तमस' में पूरी बेबाकी के साथ प्रस्तुत किया है।

स्वाधीनता ने लोगों की आशाओं एवं आकांक्षाओं को तोड़ा था और लगभग समूचे देश को हताशा और मोहभंग की ऐसी अंधी सुरंग में धकेल दिया था, जिसमें घुटन-बेबसी और अंधेरे के सिवा कुछ नहीं था। लेकिन इन सबके होते हुए भी उसने समाज की जड़ता को एक झटके से ही तोड़ दिया था और विभाजन की विभीषिका के बाद जब स्थिति सामान्य हुई तो ऐसा लगा कि हम एक पर्याप्त बदले हुए परिवेश में है। शिक्षा और नौकरी की सम्भावनाओं ने और पजाबी समाज एवं संस्कृति के अपेक्षाकृत खुलेपन एवं वर्जनाहीनता ने उत्तर भारतीय समाज को भी गहराई से प्रभावित किया था। लड़कों की बेरोजगारी की तुलना में लड़कियों के लिए नौकरी के अवसर अधिक थे। इस कारण घर-परिवार एवं समाज में उनकी परम्परागत स्थिति में अन्तर आना स्वाभाविक था। नौकरी की खोज में गाँव से शहर आने वाले युवकों ने जिस नगरीय सभ्यता को जन्म दिया, उसने नये सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को पैदा किया। इन्हीं मूल्यों ने स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की दिशा बदल दी। इन उपन्यासों में व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों का पुनर्मूल्यांकन व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध सूत्रों को अन्वेषित करने की दृष्टि से हुआ। उपन्यासकारों का मुख्य लक्ष्य सामाजिक परिधि में व्यक्ति को भयमुक्त एवं आशंका रहित करके वह आत्मविश्वास देना था, जिससे व्यक्ति में उस समर्थता का विकास हो सके, जिसके माध्यम से वह उन संकटों, अन्तर्विरोधों, उलझनों एवं अवरोधों का साक्षात्कार कर सके, जो नित्य उसकी अनुभूतियों से, आस्थाओं से टकराकर उसे जर्जरित करती रहती है। स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूरव्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता

1. हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश, पृष्ठ 182

है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम में कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्व की करुणा को अभिव्यंजित करता है। कुल मिलाकर उसमें समकालीन जीवन के विविध रूपों की, विशेषकर पूर्ववर्ती युग की तुलना में, पर्याप्त विविध झाँकी मिलती है, मनुष्य के कई एक परिचित-अपरिचित रूपों के, परिवेश, और उसके साथ सम्बन्ध के, मानवीय सम्बन्धों और परिस्थितियों के चित्र मिलते हैं।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में जीवन का विस्तार अधिक है, जिसके विविध रूप, स्तर एवं आयाम हैं। कहीं यह विस्तार काल में बड़ा है, कहीं मानव अनुभूति की दृष्टि से और कहीं मनुष्य के टूटने बनने की दीर्घ और बहुमुखी गाथा अंकित करने का प्रयास करता है। इन उपन्यासों में सामाजिक उतार-चढ़ाव भी पूरी भास्वरता के साथ उपस्थित हैं। कहीं 'राग दरबारी', 'लाल पीली जमीन', 'यह पथ बन्धु था', 'उखड़े हुए लोग', 'महाभोज', 'अलग-अलग वैतरणी', 'नीला चाँद', 'सोना माटी' है, तो कहीं 'सूखा बरगद' (मंजूर), 'काला जल' (शानी), 'आधा गाँव', 'सात आसमान', 'मित्रो मरजानी' है। 'एक चूहे की मौत', 'अंधेरे बन्द कमरे', 'कुरु-कुरु स्वाहा', 'कसप', 'बेघर', 'रात का रिर्पोटर', 'जिन्दगीनामा', 'मुझे चाँद चाहिये', 'नौकर की कमीज' की परम्परा भी अपने बहुआयामी स्वरूप के साथ उपस्थित है। कहीं यह विस्तार जीवन के किसी एक अंश की, विशेषकर परम्परागत अंश को, उसके समस्त पिछड़ेपन और संकीर्णता, अंध विश्वासों और संस्कारों के साथ प्रस्तुत करता है और नयी तथा पुरानी नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक मान्यताओं के बीच टकराहट के सन्दर्भ मे दिखाता है। जीवन के किसी एक विशेष क्षेत्र या खण्ड को अधिकाधिक समग्रता के साथ प्रस्तुत करने की और साथ ही मध्यवर्गीय जीवन की एकरस कुण्ठा से उकताकर नया भाव जगत खोजने की प्रेरणा ने कुछ ऐसे उपन्यासों की सृष्टि की है, जिनमें किसी जाति विशेष अथवा धन्धे के लोगों के जीवन को चित्रित किया गया है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), 'मुर्दों का टीला' (रांगेय राघव), 'अल्मा कबूतरी' (मैत्रेयी) इस प्रकार की औपन्यासिक सर्जना का उल्लेखनीय उदाहरण है।

जिन्दगी के बाह्य यथार्थ से साक्षात्कार की एक अन्य अभिव्यक्ति हुई है, आंचलिक उपन्यासों में, जिसका उदय रेणु के 'मैला आँचल' से होता है। डॉ० शिवप्रसाद सिह ''आंचलिकता की प्रवृत्ति को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक प्रवृत्ति मानते हैं। जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्तःधारणा काम कर रही थी'' [1]। नागार्जुन रेणु के पहले से लिख रहे थे, किन्तु उन्हें 'मैला आँचल' के आने के बाद आंचलिक उपन्यास का चिन्ह मिला। इनका 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरुण के बेटे' आंचलिक उपन्यासों की समस्त शिल्पगत विशेषताओं से पूर्ण न होते हुए भी मात्र अंचल केन्द्रित कथावस्तु और आंचलिक भाषा प्रयोग के कारण ही आंचलिक माने जाते रहे हैं। शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' रांगेय राघव का 'कब तक पुकारुँ', आंचलिक उपन्यास के स्वरूप को विस्तृत करता है। विवेकी राय का का 'बबूल', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' केशव प्रसाद मिश्र का 'कोहवर की शर्त' केवल आंचलिक भाषा प्रयोग के आधार पर ही आंचलिक उपन्यास मान लिया जाता है, जबकि इनमें से अधिकांश में आंचलिक वातावरण का भी निर्माण नहीं हुआ है।

---

1 डॉ० शिव प्रसाद सिंह —आधुनिक परिवेश व नव लेखन, पृष्ठ 118

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' के बाद शहरी आंचलिकता का भी प्रश्न उठा। ज़नपदीय, प्रादेशीय एवं स्थानीयता के रंग से रंगे हुए उपन्यास भी इस युग को नया तेवर देते हैं।

इस दौर के उपन्यासों में एक नया स्वर स्त्री के परम्परागत ढाँचे को तोड़कर नयी-नयी चेतना व स्फूर्ति प्रदान करता है, जो उसे सतीत्व व देवीतत्व के कटघरे से निकालकर उसे इन्सान के रूप में देखने समझने का यत्न करता है। "अब वह केवल खिलौना नहीं केवल रमणी भी नहीं, मात्र संगिनी भी नहीं, अधिकाधिक व्यक्ति होती जा रही है।" [1] नारी लेखिकाओं ने भी परम्परागत नारी चिन्ताओं और प्रश्नों से मुक्त होकर उपन्यास साहित्य को नयी भूमि दी है, जो राजनीति, मानवीय सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था, स्त्री नियति और शोषण, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध जैसे अन्य अनेक प्रश्नों से निर्मित हुई है। पुरुष एवं स्त्री की बराबर प्रतिभागिता और अधिकार की माँग का यह साहित्य जीवन-जगत के अनेक विसंगतिपूर्ण प्रश्नों से भरा पड़ा है। इन महिला उपन्यासकारों में कृष्णा सोबती अग्रगण्य हैं, जिन्होंने महिला लेखन को सम्पूर्ण लेखन में परिवर्तित कर दिया है। मन्नू भण्डारी की उपन्यास यात्रा महिला लेखन को नये स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। प्रेम व जीवन के संवेगात्मक पक्षों पर सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित लेखन के बाद मन्नू ने 'महाभोज' लिखकर हिन्दी उपन्यास को समाज के एक व्यापक व ज्वलंत सत्य से जोड़ दिया है। आपातकाल के तत्काल बाद की परिस्थितियों और राजनीति के अर्थहीन होती जाती परिस्थितियों के बीच जनमानस की यातना, संघर्ष और उसके स्वप्न भंग को जितनी संजीदगी एवं ओजस्विता के साथ इन्होंने अंकित किया है, वह अन्यतम है। इस यात्रा को राजी सेठ ने 'तत्सम' से आगे बढ़ाया है। 'निष्कवच' में उन्होंने अपने मूल रूप से विस्थापित युवा पीढ़ी की मानसिकता को विश्लेषित करने की कोशिश की है। ऊषा प्रियंवदा, ममता कालिया, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, गीतांजली श्री अपनी औपन्यास्यिक यात्रा के माध्यम से जन-जीवन में सार्थक हस्तक्षेप के साथ उपस्थित है। 20 वीं सदी का अंतिम दशक अगर इसलिए याद किया जाये कि उसमें हिन्दी महिला उपन्यास लेखन ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि पा ली है तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।

20 वीं सदी का अंतिम दशक विविध भाव भूमियाँ लिये हुए हैं। इन्हें किसी एक खाँचे में फिट करके नहीं देखा जा सकता। गिरिराज किशोर का 'पहला गिरिमिटिया', कामतानाथ का 'कालकथा', कमलाकान्त त्रिपाठी का 'बेदखल', 'पाहीघर' एक ओर अतीत जीविता को समकालीनता से जोड़ता है तो दूसरी ओर सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए', विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' है, जो उपन्यास के ढाँचे को तोड़कर नयी दिशा देता है। श्रीलाल शुक्ल का 'विश्रामपुर का संत' 'रागदरबारी' की आगे की यात्रा तय करता हुआ हिन्दी उपन्यास को महत्त्वपूर्ण देन है। अवध के किसान आन्दोलन को लेकर लिखा गया कमलाकान्त त्रिपाठी का 'पाहीघर' एवं 'बेदखल', 'गोदान', 'मैला आँचल' की सघर्ष गाथा की समकालीन प्रस्तुति है।

---

1. नेमिचन्द्र जैन —अधूरे साक्षात्कार, पृष्ठ 6

(ii) उपन्यास का शिल्प

शिल्प-विधि के लिए अंग्रेजी में 'टेकनीक' शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है—विधि, ढंग या तरीका, जिसके द्वारा किसी लक्ष्य की पूर्ति की गयी हो। 'एक ऐसी विधि, जिसे अपनाकर कोई सृजनशील कलाकार आत्माभिव्यक्ति के लिए तकनीकी तत्त्वों का प्रयोग करता है।' [1] अंग्रेजी शब्दकोश मे इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—''कलात्मक कार्यवाही की वह रीति, जो संगीत अथवा चित्रकला में प्राप्य है तथा कलात्मक कारीगरी।'' [2] इसी से मिलती जुलती परिभाषा वृहद् हिन्दीकोश में भी है—''शिल्प से अभिप्राय हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से है।''

स्पष्ट है कि 'शिल्प' शब्द के कोशगत अर्थ का प्रयोग वस्तु, मूर्ति, चित्र आदि ठोस, दृश्य और स्थिर रूप वाली ललित कलाओं के सन्दर्भ में ही होता रहा है, जहाँ कोई वस्तु बुनी जाती है, गढ़ी जाती है, निर्मित होती है, तराशी जाती है अर्थात् हाथ की कारीगरी दिखाई जाती है। अंग्रेजी में भी 'टेकनीक' शब्द के समानार्थी जो अन्य कई शब्द हैं—मैकेनिक्स, आर्टिस्ट्री, कंस्ट्रक्शन, सेटिंग या डिजाइन आदि प्रयोग में लाये जाते हैं, ये भी इसी तथ्य की ओर संकेतित करते हैं। उपन्यास में शिल्प-शब्द का प्रयोग या शिल्प विधि का प्रयोग उपर्युक्त कोशगत अर्थ से कुछ भिन्न रूप में होता है। डॉ० गोपाल राय के अनुसार—

> ''साहित्य की अमूर्त कला में 'रूप', 'ढाँचा', 'बनावट', 'आकल्पन' 'स्थापत्य' आदि पदों का प्रयोग तनिक अनिश्चित और ढीले ढाले अर्थ में ही हो सकता है। ये पद पद वस्तु, मूर्ति चित्र आदि कलाओं के प्रसंग में निश्चित अर्थ के साथ प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि वहाँ ये आँखों को स्पष्ट दिखाई देते हैं। 'उपन्यास' का रूप या ढाँचा,...मानसिक प्रत्यक्षीकरण का विषय है, जो गतिमान बिम्वों के जुलूस के रूप में अस्तित्त्व प्राप्त करता है।'' [3]

यद्यपि की आलोचकों ने उस 'वस्तु' के लिए कई नाम—'स्ट्रक्चर', 'फॉर्म', 'डिजाइन', 'पैटर्न', 'रिद्म' आदि—दिये हैं, पर कोई भी दावे के साथ यह नहीं कह सकता कि उसके द्वारा प्रयुक्त नाम उपन्यास की भीतरी बनावट या संघटना वाली वस्तु को पूर्णत: व्यंजित कर सकने में समर्थ है।

ई० एम० फॉर्स्टर अपनी पुस्तक 'ऐस्पेक्ट्स ऑफ द नॉवेल' में 'पैटर्न एण्ड रिद्म' शीर्षक के अन्तर्गत औपन्यासिक शिल्प के इस तत्त्व के संदर्भ में लिखते हैं—

---

1. "The manner in which a creative uses the techinical elements of his art to express himself."
2 "Mode of Artistic execution in Music, Painting and techinical skill in Art."
3. उपन्यास का शिल्प —गोपाल राय, पृष्ठ 5

''उपन्यास का यह तत्त्व कुछ उपन्यासों में 'पैटर्न' या 'संघटना' के रूप में दिखाई देता है और कुछ में 'रिद्म' या 'लय' अथवा 'अंत: सामंजस्य' के रूप में। वास्तव में 'संघटना' उपन्यास का एक सौन्दर्यात्मक पहलू है, जिसकी पुष्टि या संवर्द्धन उपन्यास के किसी भी तत्त्व—चरित्र या दृश्य—आदि से हो सकता है पर सबसे अधिक यह उपन्यास के कथानक से ही होता है।''

यह एक प्रकार से कथानक की स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया का परिणाम होता है अथवा उसी से उत्पन्न होता है। निश्चित कथावस्तु के अभाव में यह चीज पैदा ही नहीं हो सकती। जिस उपन्यास में पैटर्न का अभाव होगा, उसकी पूर्ति के लिए उपन्यास में जिस कला का प्रयोग उपन्यासकार करता है, उसे 'लय' या 'रिद्म' कह सकते हैं। डॉ० गोपाल राय लिखते हैं—

''उपन्यास की बनावट अन्य कलाओं की बनावट से भिन्न होती है और अन्य चाक्षुव कलाओं की तरह उसका रूप स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं होता। यह कहीं 'फार्म' के रूप में दिखाई पडता है, कहीं 'स्ट्रक्चर' के रूप में; कहीं डिजाइन के रूप में दिखाई पड़ता है, कहीं 'रिद्म' के रूप में; कही उसका 'पैटर्न' होता है, कहीं 'सर्फेस'।''[1]

वस्तुत: यह शिल्प विधान एक माध्यम है—अरूप और रूप के बीच, अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच कवि और पाठकों के बीच। यह ऐसी कला है, जिसका आश्रय प्रत्येक रचनाकार को लेना पड़ता है। डॉ० त्रिभुवन सिंह के शब्द हैं—

''शिल्प अथवा रचना-विधि का सम्बन्ध उस परिणति से है, जो कृति को सभी रचना विधायक तत्त्वों के सहयोग से कृतिकार की प्रतिभा द्वारा प्राप्त होती है।''[2]

राजेन्द्र यादव इसे और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

''जिन संवेदना—चित्रों से लेखक अपने—अनुभवों—अनुभूतियों को पाता है, उन्हें अधिक समृद्ध, संपादित और सार्थक करके, अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से अनुशासित करके, इस प्रकार संप्रेषित करता है कि वे दूसरों के लिए भी संवेदनीय बन जायें, उन संवेदना-चित्रों को अधिकाधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए लेखक को शिल्प का सहारा लेना पड़ता है।''[3]

वस्तुत: शिल्प विधि एक ऐसी वस्तु सापेक्ष परिवर्तनशील प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से कलाकार अपनी अमूर्त जीवनानुभूतियों, संवेदनाओं, विचारों और भावों को आकर्षक और संवेदनीय ढंग से मूर्त रूप में अभिव्यंजित करता है।

'शिल्प-विधि' के संगठनात्मक सूत्र की व्याख्या करते हुए एडवर्ड एम. एन्थोनी ने कहा है—

''शिल्प विधि विषय-वस्तु के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोण के सामंजस्य से अभिव्यक्ति के विविध मार्गों की तलाश की एक पद्धति है।''[4]

1. उपन्यास का शिल्प —डॉ० गोपाल राय, पृष्ठ 5
2. हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग —डॉ० त्रिभुवन सिंह पृष्ठ 240
3. राजेन्द्र यादव : 'एक दुनिया : समानांतर' (भूमिका), पृष्ठ 69
4. "The Organirgational Key is that techinique carry out a method which is consistent with an approach" Edurard m. Anthony : Technique English as a second language. Page 93

यहाँ दृष्टिकोण से तात्पर्य उस परस्पर-संबंद्ध वैयक्तिक मान्यताओं के पुंज से है, जो उपन्यास, उपन्यास रचना तथा इसके पठन की मूलभूत प्रकृति से संबद्ध होता है। दृष्टिकोण उपन्यासकार और उसकी संभावित कृति के सम्बन्ध में एक स्वयंसिद्धि की तरह होता है तथा यह उपन्यास की विषयवस्तु की प्रकृति के वर्णन के साथ-ही-साथ उपन्यासकार के अवलोकन बिन्दु, दर्शन एवं आस्था को भी संकेतित करता है। पद्धति उपन्यास की विषयवस्तु या कथानक के समस्त तत्त्वों के शृंखलाबद्ध प्रस्तुतीकरण की एक ऐसी क्रमानुक्रमिक योजना है, जिसमें एक अंग का दूसरे अंग से कोई विरोध भाव न हो। दोनों में अंतर इतना ही है कि दृष्टिकोण एक स्वयंसिद्धि है और पद्धति प्रक्रियात्मक। दृष्टिकोण के अन्तर्गत अनेक पद्धतियाँ हो सकती हैं और किसी विशेष पद्धति का चयन इस पर निर्भर करता है कि उपन्यासकार अपनी विषय वस्तु का प्रस्तुतीकरण किस रूप में करने जा रहा है तथा उसकी विषयवस्तु या कथानक की प्रकृति कैसी है।

स्कॉट जेम्स का विचार है—

> ''सावधानीपूर्वक लिखा गया कोई भी उपन्यास पद्धति और शिल्प-विधि में अपनी अलग समस्या उपस्थित करता है।'' [1]

फ्रांसुआ मोरियाक भी लगभग इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं—

> ''प्रत्येक उपन्यास, जो अपने इस नाम को सार्थक करने का अधिकारी है, अपना पृथक नियम रखता है, जैसे छोटा या बड़ा ग्रह अपनी अलग वनस्पति तथा प्राणधारी समूह रखता है।'' [2]

मार्क स्कोरर शिल्प विधि को ही वह साधन मानते हैं,—

> ''जो लेखक को अपने अनुभव का, जो वास्तव में विषय-वस्तु को अपने अनुभव का, जो वास्तव में विषय-वस्तु है, प्रयोग करने के लिए बाध्य करता है; क्योंकि शिल्पविधि ही एक मात्र वह साधन है जिनके माध्यम से वह अपने विषय की खोज कर सकता है, इसकी जाँच-पड़ताल और विस्तार कर सकता है। और केवल इतना ही नहीं, वरन् विषय वस्तु में अन्तर्निहित अर्थ को अभिव्यक्त कर उसका मूल्यांकन भी कर सकता है।'' [3]

इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं कि मात्र शिल्प-विधि ही कला के तत्त्वों को वस्तुपरक बनाती है। अत: वही उन वस्तुओं का मूल्यांकन भी करती है। यह एक ऐसी स्वयंसिद्धि है जो अपना विनाशकारी स्वरूप तब प्रदर्शित करती है, जब कोई लेखक अपनी विषय वस्तु की महत्ता को तात्कालिक माँग के चलते यह घोषणा करता है कि वह शिल्पगत अलंकरण का निर्वाह नहीं कर सका है। तब उस लेखक की कला भी उसकी अवमानना कर देती है। अंग्रेजी साहित्य में एच० जी० वेल्स इसके उदाहरण हैं, जिन्होंने शिल्प की उपेक्षा करते हुए कहा—

> ''मैंने लेखन को (लेखन-कला) कभी उतना महत्त्व नहीं दिया। मैं सचेतन और सावधान लेखकों के पवित्र राज्य की सीमा से बाहर हूँ।'' [4]

---

1. Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique. —Scott James, . The making of liter ature.
2 "Every novel, worthy of the name is like another planet, whether large or small, which has its own laws just as it has its own flora and fauna" —writers at work.
3. Technique as Discovery Perspectives on Fiction —Mark Schorer, Page 200
4. "I have never taken any very great pains about writing. I am outside the hierarchy of conscious and deliberate writers altogether." Ibid, Page 205

शिल्प से पलायन की इसी दुष्प्रवृत्ति ने वेल्स को युगीन साहित्य से अलग-थलग कर दिया था।

स्पष्ट है कि मार्क स्कोरर शिल्प की उपयोगिता और महत्ता से इतने अभिभूत हैं कि शिल्प को ही सब-कुछ मान लेने को तैयार हैं।[1] हेनरी जेम्स की दृष्टि में 'उपन्यास का फार्म उस हद तक विषय वस्तु है कि उसके अभाव में विषय वस्तु बिल्कुल ही नहीं है।' मेंडिलो तो शिल्प-विधि को अभिव्यक्ति का साधन मात्र न मानकर साध्य ही मानने पर जोर देते हैं—

> ''वह जमाना लद चुका जब शिल्प को प्राप्त अनुभवों को व्यवस्थित रूप में सजाने अथवा मनमाने ढंग से प्रयोग करने के साधन-मात्र के रूप में लिया जाता था।''[2]

इन शिल्पवादी आलोचकों के विपरीत ऐसे समीक्षक भी हैं, जो रचना-निर्माण में शिल्प की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए भी इसे विषय से अन्योन्याश्रित मानते हैं। ये कृति के रूपाकार को आन्तरिक प्रक्रिया से उद्‌भूत न मानकर बाह्य वस्तु मानते हैं, जो वस्तु से अन्योन्याश्रित है। जैनेन्द्र के अनुसार—

> ''कहानी और कहानीकार में संबंध अभिन्नता का है, लेकिन सृजन के बाद वह कहानीकार से अलग हो जाती है।........शिल्प यदि आवश्यक है, तो इसलिए कि इससे किनारे बनते हैं, नदी का पानी नहीं बनता।''[3] अन्य स्थल पर जैनेन्द्र लिखते हैं—

> ''टेकनीक उस ढाँचे के नियमों का नाम है। पर ढाँचे की उपयोगिता इसी में है कि वह सजीव मनुष्य के काम में आये। वैसे ही 'टेकनीक' साहित्य सृजन में योग देने के लिए है।''[4]

स्पष्ट है कि रचना के लिए शिल्प आवश्यक तो है, पर वह इसकी आत्मा नहीं है। परमानंद श्रीवास्तव इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं—

> ''शिल्प-विधि रचना-प्रक्रिया का एक पक्ष है। रचना का 'वक्तव्य' शिल्प के भीतर से व्यक्त होता है, इसके द्वारा संप्रेषित होता है।''[5]

मोहन राकेश का मत है कि—

> ''कहानी या उपन्यास की शिल्प विधि का विकास लेखक की प्रयोग-बुद्धि पर इतना निर्भर नहीं करता, जितना उसके मैटर की आंतरिक अपेक्षा पर।''[6]

---

1 "When we speak of technique, then, we speak of nearly everything For technique is the means by which the writer's's experience, which is subject — matter, compells him to attend to it" —Technique as Discovery, perspectyives of fiction. Page 200

2 The time has long passed when technique could be taken simply to mean the ways in which a given body of experience may be organised and manipulated to the best advantage , Time nad the Novel, Page 234

3 साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ 352

4. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ 360

5. हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया, पृष्ठ 233

6. 'कहानी : नये सन्दर्भ की खोज', 'नयी कहानी : सदर्भ और प्रकृति' पृष्ठ 97

ई० एम० फार्स्टर किसी न किसी प्रकार के रूपाकार को आवश्यक तो मानते हैं, पर उसे रचना की आन्तरिक सन्तुलन-व्यवस्था की ऊपरी परत या नियोजन का वाह्य साक्ष्य ही मानते हैं। स्कॉट जेम्स भी विषय-वस्तु तथा शिल्प-विधि को अलग-अलग मानते हैं। उनका कहना है कि—

"रूपाकार (फार्म) विषय-वस्तु पर सृजनशील मस्तिष्क द्वारा आरोपित बाह्य आकार है।" [1]

उपन्यास की विषय वस्तु और लेखक द्वारा इसके प्रस्तुतीकरण में अपनाये गये अवलोकन-बिन्दु को अधिक महत्त्व देने वाले समीक्षकों ने शिल्प विधि को न केवल अभिव्यक्ति का एक साधन माना है, बल्कि यह भी माना है कि रचना के उद्देश्य या आशय के परिप्रेक्ष्य में ही इसकी महत्ता भी निर्धारित की जानी चाहिये। पर्सी लब्बक इस सन्दर्भ में कहते हैं—

"किसी पुस्तक का रूपाकार लेखक के इरादे या उद्देश्य पर ही निर्भर करता है और जब तक उसका उद्देश्य ज्ञात न हो, रूपाकार (फॉर्म) के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।" [2]

जे० डब्ल्यू० बीच के विचार भी इससे भिन्न नहीं है—

"शिल्प विधि वह माध्यम है जिसके द्वारा लेखक के उद्देश्य को जाना जा सकता है।" [3]

नामवर सिंह भी साहित्य के रूप को केवल रूप नहीं मानते, बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम मानते हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क वस्तु को शिल्प से भिन्न बतलाते हुए कहते हैं कि—

"जहाँ तक मेरे मन का प्रश्न है, मैं समझता हूँ कि सबसे महत्त्व की चीज वस्तु और देखने वाली दृष्टि है। उसके बाद शिल्प का स्थान आता है।" [4]

यहाँ पर अश्क पर्सी लब्बक के अवलोकन बिन्दु वाले सिद्धान्त का पूर्णतः समर्थन करते दिखाई देते हैं; क्योंकि लब्बक भी उपन्यासकार की शिल्प-विधि का निर्धारण उसके दृष्टिकोण पर ही मानते हैं, अर्थात् उपन्यासकार का कथा या विषय-वस्तु के साथ जो संबंध होता है, उसको वह जिस दृष्टिकोण से देखता है, वही अंत में उसके उपन्यास शिल्प के स्वरूप को भी निर्धारित करता है। इसी तथ्य को समरसेट मॉम थोड़ा दूसरे ढंग से कहते हैं—

"वर्ण्य-विषय में गम्भीर रुचि न रखने के फलस्वरूप ही कलाकार शिल्प से अभिभूत होता है....उसमें डूब जाता है।" [5]

वस्तुतः उपन्यासकार जिस उद्देश्य से अपनी रचना में प्रवृत्त होता है, यदि वह उसके प्रति अत्यन्त सजग है, तो वह वर्ण्य विषय की उपेक्षा करके शिल्प विधि के प्रति न तो आग्रहवान हो सकता है, और न उसे ऐसा करने का अवकाश ही मिल सकता है। मार्क स्कोरर का विचार है—

---

1. 'It is objective order that has been imposed on matter by the mind'., The making of literature, Page 350.
2. The form of the look depends on ir (the intention of the novelists) and unit it is known there is nothing to be said, of form, —The craft of fiction., Page. 12
3. "... Technique is the means by which he does realize them (Intentions)" —The Twentieth century novel, Page 2
4. हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग — प्रेम भटनागर से उद्धृत
5. वही।

> "उपन्यास में लेखक के लिए अपने प्रत्येक वैसे शिल्प के प्रति श्रद्धा, तल्लीनता और आग्रह का भाव होना चाहिए, जो उसे अपनी विषय-वस्तु के अन्वेषण और मूल्यांकन में सहयोग दे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि उस शिल्प के द्वारा अपनी विषय-वस्तु में निहित समग्र अर्थों के विस्तार का सूक्ष्म अन्वेषण भी करे।"

लेग्गेट का तो यहाँ तक कहना है कि उपन्यास के रूपाकार का विषय वस्तु के बिना कोई अस्तित्त्व ही नहीं है। एफ० आर० लिविस केवल विषय वस्तु को ही प्रधानता नहीं देते, बल्कि यहाँ तक मानते हैं कि शिल्पगत संगठनात्मक निपुणता के लिए विषय वस्तु की समृद्धि भी आवश्यक है।

इस प्रकार शिल्प-विधि के सन्दर्भ में दो अतिवादी दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। एक वर्ग के आलोचकों द्वारा तकनीक या शिल्प-विधि को ही सब कुछ मान लिया जाता है और उसी में कृति का सर्वस्व अंतर्भूत मान लिया गया दूसरे वर्ग के आलोचक शिल्प विधि को वस्तु या उद्देश्य सापेक्ष मानकर उसे लेखक के उद्देश्य, दृष्टिकोण, आदर्श, विषय की अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र मानने के लिए ही तैयार हैं। पर इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं, जिनके चलते उपन्यास की शिल्प विधि को परिभाषित करना दुष्कर है।

(1) रचना पद्धति में अनवरत परिवर्तनशीलता

(2) रचनाकारों की व्यक्तिगत रुचि या कला के प्रति अपनाया गया दृष्टिकोण

(3) कलाकार की व्यक्तिगत क्षमता और प्रतिभा

इसी कठिनाई के चलते हेनरी जेम्स ने उपन्यास की सम्पूर्णता को शिल्प, शैली, रूपाकार या चरित्र, कथानक आदि अलग-अलग खण्डों में विभाजित कर इनका भिन्न-भिन्न औपन्यासिक इकाईयों के रूप में विश्लेषण विवेचन करने में असमर्थता व्यक्त की है। उनके अनुसार—

> "उपन्यास एक जीवित वस्तु है— प्रत्येक प्राणवंत सृष्टि की तरह एक अविभाज्य अप्रतिहत ईकाई और इसके प्रत्येक अवयव में दूसरे अवयवों का कुछ-न-कुछ भाग या कोई न कोई अंश उचित अनुपात में निहित रहता ही है। इसलिए जो भी समीक्षक उसके परस्पर गुंफित विन्यास के आधार पर भौगोलिक रेखाएँ खींचने या छलावा करने की कोशिश करता है, वह कुछ बनावटी ढंग का सीमांकन ही करता है।" 1

'उपन्यास' के लिए अंग्रेजी में 'नॉवेल' शब्द के प्रयोग की सार्थकता भी इसी ओर संकेत करती है कि इसमें 'नवीनता' और 'परिवर्तनशीलता' की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। 'उपन्यास' विधा को समसामयिक या आधुनिक जीवन के त्वरित परिवर्तन तथा परिवेश और मूल्यगत बदलाव के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के लिए स्वयं को परिवर्तन और नूतनता की प्रक्रिया से गुजारने के निमित्त एक लचीला स्वरूप धारण करना अनिवार्य हो जाता है। इसी नित-नूतनता और सतत परिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उपन्यास की रचना-पद्धति भी सदा परिवर्तित होती रही है, और इसके साथ ही

---

1. The art of fiction, the great criticc, —Henary James, Page 66

नवीन विषय-वस्तुओं की माँग के अनुसार अभिव्यक्ति के माध्यम और शिल्प-विधान में भी नित-नूतन प्रयोग करने की पूरी छूट दृष्टिगत होती है। जैसा की मोहन राकेश ने लिखा है कि "हर साहित्यकार आधुनिकता की चुनौती को अपने परिवेश और निजी स्तर पर स्वीकारता तथा आत्मसात् करता है। इसलिए एक की प्रतिक्रिया का दूसरे की प्रतिक्रिया से भिन्न होना स्वाभाविक है।" [1] वाल्टन लिट्ज का मत भी यही है—

> "चेतना या बोध में क्रांति नये शिल्प की माँग करती है। जब-जब संसार के प्रति परंपरागत बोध समाप्त हो जाता है तब अभिव्यक्ति के पारंपरिक रूपाकार भी पंगु हो जाते हैं।" [2]

ई० एम० फार्स्टर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> "साहित्य के रूपाकार तथा शिल्पविधियाँ रूढ़ कला-सिद्धान्त नहीं है, ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलते रहते हैं।" [3]

शिल्प विधि में इस परिवर्तन के मुख्यत: दो कारण दृष्टिगत होते हैं—

(1) एक तो नवीन विषयवस्तु की आन्तरिक माँग

(2) इसके लिए परंपरित अभिव्यक्ति-माध्यमों की अपूर्णता या असमर्थता।

तॉलस्तॉय ने यह कहकर की, 'प्रत्येक महान कलाकार अनिवार्यत: अपने एक अलग रूपाकार की भी सृष्टि करता है" [4] इसी बात की पुष्टि की है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने भी इसी तथ्य की ओर संकेतित किया है। उनके अनुसार—"उपन्यासों के शिल्प में हमेशा परिवर्तन होता रहा है। इसमें समय के मुहावरों को अपनाने की कोशिश भी है। इस मुहावरे को कभी देश से लिया गया है, कभी विदेश से। यह कभी उपन्यास के उद्देश्य के बारे में है, तो कभी रचना-विधान के बारे; कभी बोध को लेकर है तो कभी संवेदना को लेकर।" [5]

इस प्रकार इनके अनुसार शिल्प के बदलाव की अनिवार्यता के चार कारण हैं—

(1) समय के मुहावरों को अपनाने की कोशिश अर्थात् युगधर्मिता या बदलते हुए जीवन की अभिव्यक्ति के प्रयत्न।

(2) उपन्यास का उद्देश्य

(3) रचना-विधान अर्थात् विषय वस्तु के सर्वथा उपयुक्त अभिव्यक्ति के माध्यम

(4) बोध या संवेदना में परिवर्तन अर्थात् बदलते हुए जीवन मूल्यों को युगीन परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने का बोध।

पाठक की रुचि के उत्तरोत्तर परिष्कार से भी शिल्प-विधि में परिवर्तन की एक नयी माँग उपस्थित होती है, क्योंकि रंजकता भी उपन्यास रचना के लिए आवश्यक है। एच० वी० रूथ का मत है कि—

---

1. मोहन राकेश : 'बिन्दुहीन आलोचना', 'नई कहानियाँ' 1961, पृष्ठ 9
2. "A revolution insensibility demands new techniques, when traditional ways of Knowing the world collages traditional forms of experession are in valiated" Walton Lites : The art of james joice, Page 53
3 "Form is not traditional. It alters form generation to generation." —E. M Forster Art for Arts sake. Page 103
4 I think that eveiy gieat artist necessarilly creats his own form also" —Novelist on the novels Page 265
5. हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया, पृष्ठ 233

''कला को हमेशा नवीकृत होते रहना चाहिए। उसका रचनात्मक प्रभाव कौतूहल तत्त्व पर आधृत है। एक बार जब उसके प्रस्तुतीकरण की नवीनता फीकी पड़ी कि पाठक उससे विरत होकर अपने दैनिक कार्यों में लगा।'' 1

मोहन राकेश ने भी इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा—

''लेखक यदि अपनी रचना का स्वयं पाठक बना रहता है, तो उसका असंतोष ही उसे अभिव्यक्ति के नये आयामों को छूने की ओर प्रवृत्त करता है। शिल्प के बदलने में लेखक के असंतोष और मैटर की आंतरिक अपेक्षा, दोनों का ही योग रहता है।'' 2

स्पष्ट है कि शिल्प विधि एक व्यापक शब्द है, इसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति और रूपाकारों की समस्त प्रक्रियाओं से है। शिल्प न केवल अरूप और रूप तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच एक सेतु ही है, बल्कि डॉ० त्रिभुवन सिंह के शब्दों में, ''उपन्यास में अभिव्यक्ति पाने वाले जितने प्रसंग, व्यक्ति अथवा समाज होते हैं, उनका अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाये, यदि शिल्प न हो। इसके अभाव में तो कृति हवाई किला बनकर रह जायेंगी। कल्पना और यथार्थ के भेद को समाप्त करने का काम शिल्प ही करता है, जिसके माध्यम से अभिप्रेत भावों अथवा उद्देश्यों का रूपान्तरण संभव होता है।'' 3

वस्तुत: किसी भी कलात्मक निर्मिति में उसके शिल्प का उसके विषय से अनिवार्य और घनिष्ठ संबंध होता है। चूँकि शिल्प का अस्तित्त्व ही विषय सापेक्ष है, इसीलिए किसी विषय-विशेष की विशिष्टता उसके शिल्प की विशिष्टता पर ही पूर्णत: निर्भर करती है। न तो विषयहीन शिल्प की ही कल्पना की जा सकती है और न शिल्पहीन कोई विषय ही हमारे मानसिक प्रत्यक्षीकरण का उपादान बनने में समर्थ हो सकता है। ई० एम० फार्स्टर के अनुसार—

''यह (शिल्पविधि) कथा वस्तु में उसी प्रकार स्थित रहता है जिस प्रकार बादलों में बिजली और वह तभी दिखाई पड़ता है जब उससे अलग अस्तित्त्व ग्रहण करता है। कभी-कभी सौन्दर्य कृति के आकार में निहित रहता है, उसकी सम्पूर्णता में—उसकी एकसूत्रता में, और तब आलोचक का काम आसान हो जाता है।'' 4

जिस कृति में विषय और रूप परस्परावलंबी, एकीभूत ओर अविभाज्य होते हैं, वहीं सुनिर्मित और सुशिल्पित कही जा सकती है। वस्तु रूप में ढल जाये और रूप वस्तु को पूर्णत: अभिव्यंजित कर सके—कला की पूर्णता इसी में है और सुविन्यस्त कृति का यही मानदण्ड भी है। पर्सी लुब्बक ने भी सुशिल्पित पुस्तक की पहचान के लिए यही मानक निर्धारित किया है—

''सुनिर्मित पुस्तक वही है, जिसका सारा शिल्प विषय की अभिव्यक्ति करे और सारा विषय शिल्पित हो

---

1 Art must always be renewed. Its creatives influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses to his daily habits." —English literature and ideas in 20th century. Page 2

2 मोहन राकेश : 'एक और जिन्दगी' की भूमिका से उद्धृत

3. हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग —डॉ० त्रिभुवन सिंह पृष्ठ 25

4. It (Pattern) springs mainly from the plat, accompanies it like a light in the clouds and remains visible after it has departed. Beauty is sometimes the shape of the book, the book as a whole, the unity.. ." E. M Forster, aspects of the novel Page 154

जाये।'' 1

म्यूर मेकैजी ने भी लिखा है—

''रूप विषय वस्तु के साथ अपनी इच्छा के अनुसार जोड़ दी जाने वाली कोई फालतू या अतिरिक्त वस्तु नहीं है, यह तो उसका अविच्छिन्न और महत्त्वपूर्ण अंग है, जो विषय की सम्यक् जानकारी देने के अतिरिक्त उसके साथ आंतरिक, विशेष तथा कार्यकारण संबंध स्थापित करता है और उसकी (विषय की) आंतरिक संरचना को प्रभावित करता है। विषय को किसी अन्य रूप में प्रस्तुत करने का अर्थ है : उसे छिपाना अथवा कोई सर्वथा भिन्न चीज दिखाना।'' 2

इस प्रकार कलाकृति का बाहरी रूप, कलेवर, आकार अथवा रूपाकार कला की अभिव्यक्ति के प्रकट रूप के ही विभिन्न नाम है, चाहें इन्हें रचनाविधि कहें या शिल्प-विधि, पर इनका एक ही उद्देश्य है—अमूर्त को मूर्त करना, निराकार को साकार करना। शिल्प विधान एक माध्यम है—अरूप और रूप के बीच, अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के बीच, कवियों और पाठकों के बीच। मार्क स्कोरर ने भी इस विचार का समर्थन किया है—

'' 'अरूप' है कलाकार के मन में उठने वाली कोरी अनुभूति या विषय, और 'रूप' है रूपायित अनुभूति—और इन दोनों के बीच सेतु का काम करती है शिल्प विधि।'' 3

इसीलिए पर्सी लुब्बक ने कहा है कि 'जब तक रचनाकार के उद्देश्य या आशय को ठीक से न समझा जाये तब तक उसकी रचना के शिल्प के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।' 4 डॉ० नामवर सिंह ने भी कविता के सन्दर्भ में, जो कहा है, उसे उपन्यास के सन्दर्भ में भी लागू किया जा सकता है—

''किसी कविता की भाषा को 'सुन्दर' कहने के बाद उसके कथ्य को 'असुन्दर' कहना असंगत होगा। कथन को कथ्य से कैसे अलग किया जा सकता है? यदि कथ्य कथन से अलग भी है, तो कथन के अतिरिक्त उसे जानने का साधन क्या है?'' 5

निष्कर्षत: न तो रचना के मूल्य निर्धारण में उसके शिल्प विधान को ही एकमात्र मानदण्ड मानने वाले रूपवादी-कलावादी सिद्धान्त ही सर्वथा पूर्ण और समीचीन हैं और न केवल रचना के कथ्य को ही सब कुछ मान लेने वाले यथार्थवादी मानदण्ड ही। डॉ० नामवर सिंह के शब्द हैं—

---

1 "The well made book is.. in which the matter is all used up in the form, in which the form express all the matter", Percy Lubbock : The craft if fiction, Page 40

2. "Form is not an artitrary addition to content but an important and inseparable part of it, that give temporal spatial and casual relations which effect the concurrent factors of the content and which may include some of its profoundest significance. To present the content in some other form —show is not to present it at all but to something different. —Agnes Muie Machenzie : The process of Literature., Page 14

3. "The difference between content or experience and achived content or art is technique." —Perspectives on fiction. Page 200

4 The form of the book depends on it (the intention of the novelists) and untill it is known, there is nothing to be said of form." —The Craft of Fiction. Page 12

5. 'कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ 108

"कथ्य को कथन के रूप में नि:शेष कर देने में नि:सन्देह आलोचना के अन्तर्गत रूपवादी रुझान का खतरा है, क्योंकि कुछ आलोचक कथन की भाषागत विशेषताओं के विश्लेषण को ही समूची काव्यकृति का विश्लेषण समझने की भूल कर सकते हैं। किन्तु जागरूक समीक्षक शब्द के गिर्द बनने वाले समस्त अर्थ-वृत्तों तक उसके फैलते जाने का विश्वासी है, वह सन्दर्भ के अनुसार शब्द में निहित सभी अर्थापत्तियों को पकड़कर काव्य भाषा (रचना-शिल्प) के आधार पर ही काव्य का पूर्ण मूल्यांकन कर सकता है, जिसमें उसका नैतिक मूल्यांकन भी निहित है।" [1]

वस्तुत: उच्च कोटि की रचना के लिए विषय एवं शिल्प दोनों के समन्वय एवं एकरूपता की आवश्यकता है क्योंकि 'रचना में विषय को ही शिल्पित किया जाता है और विषय के बिना शिल्प का कोई अस्तित्त्व ही सम्भव नहीं है' [2]

उपन्यास के तत्त्व—

अपने उदय के समय से ही उपन्यास के तत्त्वों के सन्दर्भ मे मत वैभिन्य की स्थिति दिखाई देती है। विलियम हेनरी हडसन के अनुसार,— "उपन्यास में घटनायें एव कृत्य होते हैं। कुछ बातें तो परिस्थितियों के अनुसार घटित होती हैं और कुछ विशेष देश-काल में किन्हीं व्यक्तियों के द्वारा की जाती हैं। इन सब से मिलकर अर्थात् जो घटित होता है और जो किया जाता है वह बातें संघटित होकर बनती हैं, जिन्हें समष्टि में कथावस्तु या प्लाट कहते हैं। इस प्रकार की घटनायें कुछ व्यक्तियों के जीवन में घटित होती है और लोगों के द्वारा की जाती हैं या सहन की जाती हैं, और वे पुरुष और स्त्रियाँ जो इस प्रकार के घटनाक्रम को आगे बढ़ाते हैं—मिलकर डैमेटिस परसोनी अथवा चरित्र समूह बनाते हैं। इन चरित्रों के बीच की बातचीत, से संवाद नामक तीसरा उपकरण बनाती है। यह चरित्र-चित्रण के साथ प्राय: अविभाज्य ढंग से जुड़ा होता है। चौथे घटनाओं के घटित होने के लिए एवं चरित्रों के कार्य-व्यापार के लिए समय और स्थान की आवश्यकता है और इस प्रकार देश और काल का एक दूसरा उपकरण बन जाता है। इसके बाद हम अपनी सूची में शैली के उपकरण को रख सकते हैं और इस प्रकार हमारी उपकरण-सूची पूर्ण-सी हो जाती है। पर एक छठा उपकरण रह जाता है, जिसको अन्य उपकरणों के समान महत्त्व देने में हिचका जा सकता है। प्रधान रूप से ही अथवा गौण—लेखक चाहे सजग हो या न हो प्रत्येक उपन्यास को आवश्यक रूप से जीवन का एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना ही पड़ताहै। इसे हम 'उद्देश्य' का नाम दे सकते हैं।" [3]

इस प्रकार हेनरी हडसन ने—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, देश-काल, वातावरण, शैली, उद्देश्य—को उपन्यास के तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। वाल्टर एलन चरित्र-चित्रण को प्रथम स्थान देते हैं। उनके अनुसार—

"परिणामत: चरित्रों के द्वारा ही उपन्यासकार उपन्यास के प्रमुख सामाजिक कर्त्तव्य का सम्पादन करते हुए पाठकों में सहानुभूति-पूर्ण मर्मज्ञता का उदय करते हैं।. .यह उपन्यासकार का ही काम होता है कि वह अपने को किसी भी मानव-प्राणी की सदृशता में अंकित कर सकता है। वह सदृशचरित्र के स्रोत वाला मानव-प्राणी दोषी भी हो सकता है और निर्दोषी भी।" [4]

---

1. कविता के नये प्रतिमान पृष्ठ 115-116
2. "Form can not exist without substance, and a subject, an 'Idea' is substance to which form has been give.' —H. W. Legget : The Idea of Fiction Page 1
3. An Introduction to the study of Litarature, Page 70-71
4. The English Novel —A Short critical History Walter Allen. Page 5

'ग्राहम ग्रीन', ट्रिलिंग ने 'दि लिबरल इमेजिनेशन' में तथा डी० एच० लारेन्स ने 'लेडी चेटरलीज लवर' में इसी के समान्तर विचारधारा प्रस्तुत की है।

प्रेमचन्द भी इन उपकरणों में चरित्र को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं—

> ''मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'' [1]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार तो मानव चरित्र की ग्रंथि खोलने के व्यापार को प्रधानता देते हुए 'चरित्र' को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। 'आस्टिन वैरेन' और 'रेने वेलेक' की 'थियरी आव लिट्रेचर' के अनुसार उपन्यास की विश्लेषणात्मक आलोचना ने परंपरागत क्रम से तीन साधक अंगों की विवेचना की है—'कथावस्तु' (प्लाट), 'चरित्र चित्रण' और 'सेटिंग'। अंतिम अपने संकेतात्मक प्रवृत्ति के कारण आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार 'वातावरण' और 'ध्वनि' में परिवर्तित हो जाता है। इसके साथ ही इनमें से प्रत्येक तत्त्व अन्य तत्त्वों का अवधारण-साधन होता है। हेनरी जेम्स भी अपने 'दि आर्ट आव फिक्शन' नामक निबन्ध में प्रश्न करता है—

> ''चरित्र घटना के अवधारक के अतिरिक्त और क्या है? और घटना चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के अतिरिक्त क्या है?'' [2]

समीक्षाशास्त्र में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने उपन्यास के तीन ही तत्त्व स्वीकार किये हैं। उनका मत है—

> ''कुछ विद्वानों ने उपन्यास के छ: तत्त्व माने हैं—वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली, उद्देश्य। किन्तु वास्तव में उपन्यास के तत्त्व तो तीन ही होते हैं—(1) कथा (2) पात्र (3) व्यापार (घटना-समूह)। उद्देश्य वास्तव में तत्त्व न होकर परिणाम है और संवाद तथा शैली उस कथा को उद्देश्य तक पहुँचाने के साधन हैं। देशकाल भी घटना समूह या व्यापार के अन्तर्गत ही आ जाता है। कुछ आचार्यों ने घात-प्रतिघात या द्वन्द्व तथा कौतूहल को भी तत्त्व माना है, किन्तु ये सब तो उद्देश्य सिद्धि के लिए तत्त्वों के संयोजन-कौशल हैं।'' [3]

ब्रजरत्नदास ने 'हिन्दी उपन्यास साहित्य' में शैली के स्थान पर रस को उपन्यास के उपकरण के रूप में रखा है। इस प्रकार उन्होंने कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, देश-काल तथा रस को उपन्यासों के छ: तत्त्वों को प्रस्तुत किया है।

मेरे विचार से कथानक, चरित्र, वातावरण, भाषा-शैली, उद्देश्य ही उपन्यास के प्रमुख सर्जक तत्त्व हैं। संवाद या कथोपकथन उपन्यास का वैसा अपरिहार्य तत्त्व नहीं है, जैसा अन्य तत्त्व। यद्यपि कि प्रेमचन्द ने भीसंवाद को महत्व दिया है।

---

1. कुछ विचार, पृष्ठ 47
2. The Art of Fiction —Henry James
3. समीक्षाशास्त्र —प० सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 679

''उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाये, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिये। बातचीत का स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।'' [1]

संवाद की चर्चा करते हुए भी प्रेमचन्द प्रकारान्तर से चरित्र वर्णन को प्रमुखता दे रहे हैं। उन्होंने इसी निबन्ध 'उपन्यास का विषय' में लिखा है—

''उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा और यह लेखक की रचना शक्ति पर निर्भर है।'' [2]

प्रेमचन्द के समान इलाचन्द्र जोशी ने भी सबसे पहले उपन्यास के तत्त्वों में 'चरित्र' की चर्चा की है। उन्होंने चरित्रों के स्वतंत्र व्यक्तित्त्व एवं निजी विचारों पर बल दिया है—

''यदि किसी दिन यह प्रमाणित हो जाये कि मेरे सभी प्रमुख-कथा पात्रों के विचार मेरे ही अपने विचार हैं तो उस दिन मेरी कहानी-कला की सबसे बड़ी असफलता सिद्ध हो जायेगी।'' [3]

जोशी जी की दृष्टि में उपन्यास का दूसरा तत्त्व वार्तालाप है, जिसके लिए इन्होंने 'विवेचनात्मक विवाद' शब्द का प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में संवाद के दो उद्देश्य हैं—(1) कथा का स्पष्टीकरण (2) चरित्र उन्मेष। जोशी जी के शब्द हैं—

''मेरे औपन्यासिक पात्रों के विवेचनात्मक विवादों की केवल इतनी ही उपयोगिता है कि वे कहानी के अधिक प्रस्फुटन और स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।'' [4]

''बीच-बीच में उन घटनाओं के—अथवा उन घटनाओं से सम्बन्धित पात्रों के चरित्र के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से कुछ ऐसी समस्याएँ अपने आप मेरे उपन्यासों में आ जाती है, जिन पर विभिन्न पात्र गण अपनी-अपनी रुचियों और जीवन-सम्बन्धी अनुभवों तथा परिस्थितियों के आधार पर विवेचनात्मक विवाद करने लगते हैं।'' [5]

स्पष्ट है कि जोशी जी भी संवाद को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार न करके 'कथा का स्पष्टीकरण' एवं 'चरित्र उन्मेष' के लिए ही महत्त्व दे रहे हैं। इस प्रकार कथोपकथन या संवाद नाटक का अपरिहार्य तत्त्व है, पर उपन्यास में उसकी स्थिति वैकल्पिक ही हो सकती है और यह उपन्यास की अभिव्यक्ति-भंगिमा का ही एक रूप है।

---

1. 'उपन्यास का विषय' निबन्ध ,मुं० प्रेमचन्द्र, पृष्ठ 679
2 साहित्य का उद्देश्य —मुं० प्रेमचन्द्र, 'उपन्यास का विषय' निबन्ध, पृष्ठ 60
3 निर्वासित, भूमिका, पृष्ठ 4
4. निर्वासित भूमिका, पृष्ठ 4
5. निर्वासित भूमिका, पृष्ठ 4

इस प्रकार औपन्यासिक शिल्प के निम्न तत्त्व हैं—

(1) कथानक

(2) चरित्र-निर्माण

(3) देश-काल संयोजन

(4) अभिव्यक्ति की भंगिमाएं या भाषा शैली

(5) उद्देश्य

(1) उपन्यास में कथानक

(अ) कथा का पारम्परिक महत्त्व—उपन्यास गद्य साहित्य की आधुनिक एवं विकसनशील विधा है। प्रारम्भ में उसका उद्देश्य मनोरंजन ही रहा। फलत: प्रारम्भिक विकासकाल में घटना-विन्यास या कथातत्त्व का इतना अधिक महत्त्व रहा कि 'घटना प्रधान' उपन्यासो की एक परम्परा ही चल पड़ी थी। गोपालराम गहमरी ने लिखा है—

> ''घटनायें यथार्थ भी हों तथा सत्य भी और पाठक को सत्य की ओर प्रेरित करने वाली भी हों। इन घटनाओं का संयोजन इस प्रकार हो कि अन्त में सत्य सदा विजयी हो तथा पाठकों पर उनका सद्प्रभाव पड़े।''[1]

उपन्यास पढ़ते हुए हमें किसी न किसी प्रकार की कथा का बोध अवश्य होता है चाहे वह कथा रूप ठोस हो अथवा क्षीण। यह कथारूप कहीं कम दृष्टिगत होता है, कहीं ज्यादा; कहीं सुगठित तो कहीं बिखरा हुआ। भारत भूषण अग्रवाल के शब्दों में—

> ''प्रत्येक उपन्यास में यथार्थ के एक विशिष्ट पहलू को उजागर करने के लिए एक कथानक होता है—चाहे सुसंबद्ध, विशृंखल अथवा विरल।''[2]

उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इलाचंद्र जोशी लिखते हैं—

> ''मैं किसी भी उपन्यास को सबसे पहले एक कहानी मानता हूँ—उसे चाहे आप बड़ी कहानी कह लीजिए। जो कहानी मैं कहना चाहता हूँ उसे यदि मैं अच्छे ढंग से कह सकने में समर्थ सिद्ध हो जाऊँ तो वहीं पर मेरा कर्त्तव्य पूरा हो जाता है और स्वभावत: मेरे प्रयास की सफलता भी निर्धारित हो जाती है। उपन्यास का सबसे पहला और सबसे बड़ा गुण या विशेषता यही है कि उसकी कहानी सुन्दर ढंग से, कलात्मक सौष्ठव के पूर्ण निर्वाह के साथ कही गई हो। इन दो के बाद और किसी भी तीसरी विशेषता का कोई महत्त्व मानने को मैं तैयार नहीं हूँ।''[3]

इस प्रकार उपन्यास एक कहानी मात्र है, जो अच्छे ढंग से कही गई हो। ई० एम० फॉर्स्टर ने भी उपन्यास के कथा तत्त्व पर कठोर प्रहार किया, फिर भी इसके महत्त्व को स्वीकार करता है। उनकी मान्यता है कि यद्यपि 'कथा' उपन्यास का सबसे

---

1 'मेम की लाश' की भूमिका से

2. डॉ० भारत भूषण अग्रवाल —हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृष्ठ 45

3. निर्वासित, भूमिका पृष्ठ 3-4

कुरूप और जुगुप्साजनक पक्ष है, तो भी उसका अपरिहार्य अंग है। वह सभी उपन्यासों में हाईएस्ट कॉमन फैक्टर' है। भिन्न-भिन्न उपन्यासो में उसका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। फॉर्स्टर के शब्द हैं—

> ''जी हाँ, उपन्यास कहानी प्रस्तुत करता है, पर सो क्या? माना कि उस मूल तत्त्व के बिना उपन्यास का अस्तित्व सम्भव नहीं तथा सभी उपन्यासों का सामान्य गुणक कहानी है, किन्तु क्या ही अच्छा होता कि कहानी के स्थान पर वह और कुछ होता, जैसे स्वरानुक्रम अथवा सत्यबोध न कि कहानी जैसा पूर्वजानुरूप निम्न तत्त्व।'' [1]

भगवती चरण वर्मा की भी धारणा है—

> ''उपन्यास कई कहानियों के उस एकीकरण को कहते हैं जो एक सूत्र में बँधी हो, उसमें अलग-अलग न जाने कितनी घटनायें हों, जो एक दूसरे से सम्बद्ध हो सकती है, नहीं भी हो सकती हैं, लेकिन जो सब सामूहिक रूप से मिलकर एक प्रकार की पूर्णता उत्पन्न करती हों।'' [2]

वास्तव में यह कहानी अपने मूलरूप में समयानुक्रम में नियोजित विभिन्न घटनाओं का विवरण मात्र ही है, लेकिन उपन्यास लेखक अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा एवं कल्पना के संयोग से विश्रृंखलित घटनाओं को कार्यकारण सम्बन्ध में नियोजित कर उपन्यास के सुसंबद्ध कथानक के रूप में ढाल देता है। उपन्यास लेखक जिस प्रक्रिया से इन परस्पर असंबद्ध तथा बिखरी हुई घटनाओं को कार्य-कारण के सूत्र में पिरोकर दिक् और काल के परिप्रेक्ष्य में सुसंगत बनाता है और चरित्र के साथ उनकी सार्थकता को प्रामाणित करता है, वही उसकी शिल्प विधि है।

उपन्यास के सन्दर्भ में कथा या कहानी और कथानक में मूलभूत अंतर है। ई० एम० फॉर्स्टर के अनुसार—

> ''हमने कहानी को कालक्रम में नियोजित घटनाओं के वर्णन के रूप में परिभाषित किया है। कथानक भी घटनाक्रम का विवरण है लेकिन यहाँ कारणत्व पर अधिक बल होता है। 'राजा मर गया और तदुपरांत शोक से रानी मर गई' एक कथानक है। कालक्रम सुरक्षित रखा गया है, किन्तु कारण-कार्य सिद्धान्त उस पर पूर्णत: छा जाता है। अथवा पुन: रानी क्यों मर गई, कोई नहीं जानता था, जब तक कि यह नहीं ज्ञात हुआ किस कारण राजा की मृत्यु का शोक था। 'यह रहस्ययुक्त कथानक है।' [3]

आगे इस अन्तर को और स्पष्ट करते हैं—

> ''उन्हें (कथा) केवल 'और तब' 'और तब' से जाग्रत रखा जा सकता है। वे केवल उत्सुकता प्रदान कर सकते हैं। किन्तु कथानक बुद्धि एवं स्मृति की भी अपेक्षा करता है। [4]

कथानक का मूल भी 'कहानी' ही है और उसमें भी समयानुक्रम से विभिन्न घटनाओं का वर्णन ही होता है, पर उसमें घटनाओं के बीच कार्य-कारण संबंध पर अधिक बल दिया जाता है, जबकि कथा में इस कारणत्व का अभाव रहता है। उपन्यास के कथानक में—कौतूहल एवं रोचकता—दोनों ही तत्त्व पाये जाते हैं। कथानक में 'रहस्य तत्त्व' होता है जो 'कहानी' में नहीं होता। कहानी में श्रोता की एक जिज्ञासा शान्तकर दूसरी जिज्ञासा उत्पन्न कर देने की प्रवृत्ति रहती है, जबकि कथानक में

---

1 उपन्यास के पक्ष, पृष्ठ 17
2 साहित्य की मान्यताएँ, पृष्ठ 117
3 उपन्यास के पक्ष, पृष्ठ 61
4. वही

उपन्यासकार स्थान, समय और पात्रों का विस्तृत वर्णन कर रहस्य को काफी दूर तक बनाये रखता है। वह मूल कथा के प्रवाह को किसी विशेष स्थान पर रोककर अपने पाठकों को स्थान, काल या पात्रों के वर्णन में कुछ क्षणों के लिए उलझा देता है और इस प्रकार उनके भीतर की जिज्ञासा को और अधिक तीव्रत्तर बना देता है। यह विशेषता 'कथानक' में होती है, 'कहानी' में नहीं।

लेकिन इन सारी विधियों को अपनाते हुए उपन्यासकार को इस बात का बहुत ध्यान रखना पड़ता है कि उसके कथानक में रोचकता बनी रहे। सुसंबद्धता और सुगठन उपन्यास के कथानक की अनिवार्य विशेषतायें हैं। उपन्यासकार अपने रहस्य की सृष्टि करने के साथ ही उस रहस्य की गुत्थी सुलझाने की भी व्यवस्था कर देता है। घटनायें अनेक स्थानों तथा विभिन्न समयों में शुरु होती है और अलग-अलग पात्रों से उनका संबंध होता है; पर अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वे आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़ जाती हैं और सुगठित कथानक का निर्माण कर देती है। लेकिन कुछ ऐसे भी उपन्यास होते हैं जिनमें कथानक का बिखराव अंत तक बना रहता है। उपन्यासकार उन्हें समेटने में अपने को असमर्थ पाता है। ऐसे उपन्यासों को शिथिल कथानक वाला उपन्यास कहते हैं, जैसे टॉल्स्तॉय का 'युद्ध और शान्ति'। लेकिन आश्चर्य होता है कि कथानक का बिखराव या संगठनात्मक शिथिलता इस उपन्यास की श्रेष्ठता में बाधक नहीं है। वास्तव में उपन्यासकार का दृष्टिकोण या उपन्यास की विषयवस्तु ही उसके शिल्प की नियामक होती है। 'युद्ध और शान्ति' की विषय वस्तु की प्रकृति ही ऐसी है कि उसके कथानक में बिखराव का होना अनिवार्य है। इस उपन्यास में तॉल्स्तॉय का उद्देश्य एक सम्पूर्ण युग के जीवन को उसकी समग्र विविधता और विस्तीर्णता में उपस्थित करना है और इसके लिए एक विस्तृत चित्रफलक का ही उपयोग किया जा सकता था, संकीर्णता का नहीं।

(ब) कथा के प्रति बदलती धारणाएँ : कथा पर आघात

कहना न होगा कि शुद्ध मनोरंजन की उद्देश्य पूर्ति के लिए उपन्यासों में कथा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती थी और उस पर अत्यधिक बल भी दिया जाता था। युग-परिवर्तन के साथ कथा के प्रति धारणाएँ बदलती गई और 20वीं सदी के तीसरे-चौथे दशक से उपन्यासों के कथा तत्त्व के प्रति अरुचि, उदासीनता दिखाई जाने लगी तथा आगे चलकर उससे घृणा एवं द्वेष भी किया जाने लगा। आरम्भ, विकास, संकट बिन्दु तथा उपसंहार—कथातत्त्व की इन चारों अवस्थाओं को नकारा जाने लगा।

'विलियम थैकरे' प्रथम पाश्चात्य उपन्यासकार हैं, जिन्होंने साहित्यिक रूढ़ि के रूप में पारम्परिक कथातत्त्व पर आघात करके उससे अपना संबंध विच्छेद कर लिया था। अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए उन्होने सामाजिक जीवन के विभिन्न वर्गों से कुछ विशिष्ट पात्रों को चुनकर उन्हें अपने उपन्यास में प्रतिष्ठित किया तथा उनके क्रियाकलाप एवं जीवन संबंधी जटिलता के रूपायन से पूरे समाज का चित्र प्रस्तुत किया। थैकरे का 'वैनिटीफेयर' इसी प्रकार का उपन्यास है, जो सफलता के नये क्षितिजों को स्पर्श करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। ई० एम० फॉर्स्टर को कथा में रुचि रखना जंगलीपन या असंस्कृति का लक्षण लगा। कथा से उसके विरोध के दो मुख्य कारण दिखाई देते हैं—

(1) कथा और स्वतंत्र चरित्रों के बीच जो द्वन्द्व चलता रहता है उसमें उसे लगा कि जीवंत चरित्र कथा के गठन को हमेशा तोड़ते-फोड़ते रहते हैं। सुगठित एवं सुरचित कथा में दरारें पैदा करने वाले स्थल ही चरित्रों की गत्यात्मकता या सप्राणता से उपन्यास को शक्तिशाली करने वाले उसे प्रतीत हुए।

(2) उपन्यास में प्रकट होने वाले जीवन की ऊर्जा को, महत्ता को, यथावत्ता को कृत्रिम ढंग से सुनियोजित करने वाली सभी बातों से उसे एतराज था।

इसीलिए उपन्यासकार जेम्स के 'द ऐम्बेसेडर' की चर्चा करते हुए पैटर्न के लिए पात्रों की जीवंतता, स्वतंत्रता और सचेतनता का व्यय करने वाले इस उपन्यासकार से वह खीझ उठता है।

डॉ० चन्द्रकान्त बांदिबडेकर के अनुसार—

> ''कथा में रोचकता, उत्सुकता, जिज्ञासा, उलझन, गुंफन और चमत्कृति उत्पन्न करने की चिन्ता में चरित्र लेखक के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं, चरित्रों में स्थूलता आती है, जीवंतता और स्वतंत्रता खत्म हो जाती है। घटनाओं में कार्यकारण संबंध दिखाते समय चरित्रों की आत्मशक्ति की क्षीणता के साथ जीवन का बहुत कुछ सरलीकरण भी होता है।''

हिन्दी उपन्यासकार प्रेमचन्द उपन्यास को मानव-जीवन का चरित्र समझते थे और जहाँ उन्होंने कथा के चौखटे को उड़ा दिया, वहाँ एक महान उपन्यासकार बन गये हैं—गोदान में कथा का मोह नहीं है। 'गोदान' की कथा होरी-धनिया आदि चरित्रों के साथ सहज-अकृत्रिम रूप में प्रवाहित होती है, कहीं चमत्कारिक मोड़ नहीं है, चौकाने की आकांक्षा नहीं है—वस्तुत: कथानक केवल प्रेमचन्द पूर्व युग में ही महत्त्वपूर्ण रहा है। उपेन्द्र नाथ अश्क ने प्रेमचन्द की तरह कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की श्रेष्ठता दी है। उनके शब्द हैं—

> ''उपन्यास में मुझे कथानक के बदले पात्रों का चरित्र-चित्रण, उनके मन में क्षण-क्षण उठते-बदलते विचार, घटनाओं का घात-प्रतिघात और जिन्दगी के असंख्य छोटे-बड़े ब्यौरों का चित्रण भाता है।'' [1]

इतना ही नहीं एक अन्य स्थल पर कहते हैं—

> ''जो कुछ भी कहा जाये, वह पात्रों के जीवन, उनके जीवन की घटनाओं, अन्तर्द्वन्द्वों और उलझनों के माध्यम से कहा जाये। लेखक, जहाँ तक सम्भव हो, स्वयं उसमें न कूदे।'' [2]

इस प्रकार अश्क ने चरित्र चित्रण को कथानक से श्रेष्ठ ठहराया है। चरित्र-चित्रण में वे मन में क्षण-क्षण उठते-बदलते विचारों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा पात्रों को अधिक से अधिक मानवीय बनाने में विश्वास रखते हैं। उपन्यास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्र ने स्वीकार किया है कि केवल कथा कहना उसका लक्ष्य नहीं है। उपन्यास में मुख्य आदर्श और विचार है और कथा उस आदर्श अथवा विचार के चारों ओर इस प्रकार बुनी जाती है कि वह आदर्श अथवा विचार पाठक तक पहुँच सके। अत: कथा एक माध्यम है। कथा गौण है, मुख्य विचार है। जैनेन्द्र के शब्द हैं—

> ''जो भी हो, मेरे साथ आपबीती प्रमुख नहीं रही है, कल्पना प्रमुख रही है और उस कल्पना में रीढ़ के तौर पर वह विचार प्रमुख रहा है, जो कथा को आगे बढ़ा कर उसे स्वरूप देता चला गया है।'' [3]

इतना ही नहीं, अब उपन्यास में कथानक की पुरानी महत्ता पर भी प्रश्न चिन्ह लग गया है और कथानकहीन उपन्यासों की रचना होने लगी है। मनोवैज्ञानिक और आंचलिक उपन्यासों ने तो शिल्प के ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है।

---

1. ज्यादा अपनी : कम पराई, पृष्ठ 155
2. गिरती दीवारें, पृष्ठ 13
3. इतस्तत : पृष्ठ 145

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरित्र की अंतर्यात्रा कथा को स्वरूप देती है, कथा की गति चरित्र को नहीं। कथा पात्रों के भीतर से विकसित होकर चरित्रकथा बन जाती है। इसलिए ऐसे उपन्यासों की कथानक-संघटना घटना-प्रधान उपन्यासों की कथानक-संघटना की अपेक्षा काफी शिथिल, विशृंखलित तथा क्रमोच्छेदित होती है, जैसे भगवती चरण वर्मा का 'रेखा' या अज्ञेय का 'नदी के द्वीप'। आंचलिक उपन्यासों में न केवल सुसंबद्ध केन्द्रीय कथानक का अभाव दिखाई देता है, बल्कि कभी-कभी इनमें 'कथानक' जैसी कोई चीज ही नहीं होती और सम्पूर्ण उपन्यास या तो अलग-अलग खंड चित्रों के रूप में निर्मित होता है या फिर अलग-अलग विशृंखलित कहानियों के रूप में। उदाहरण के लिए 'रेणु' के 'परती परिकथा' या रुद्र जी के 'बहती गंगा' को ले सकते हैं। इनमें तो केन्द्रीय नायक भी नहीं है, जो बिखरे हुए सूत्रों को एकत्र करे। यहाँ तो डॉक्यूमेंट्री फिल्मों के स्फुट शॉट्स की भाँति ग्रामीण जीवन के विभिन्न चित्रों को अंकित करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।

आधुनिक उपन्यासों में परंपरित कथानक-संघटना की पद्धतियों से अलग हटकर उपन्यासकारों ने कुछ नये और भिन्न शिल्प-कौशलों के प्रयोग द्वारा भी कथा-योजना में परिवर्तन उपस्थित किया है। ये परिवर्तन परम्परागत कथानक के स्वरूप पर आघात करने वाले, विशृंखलित करने या कथाहीनता की ओर ले जाने वाले ही हैं। ऐसे प्रयोगों में एक है—उपन्यास के विभिन्न पात्रों के दृष्टिकोण से कथा-कथन। उपन्यास के मुख्य पात्रों के आत्मकथनों या उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से कथा-कथन के लिए अलग-अलग परिच्छेद या खण्ड निर्धारित कर दिये जाते हैं, पर ये अलग-अलग खंड परस्पर-पूरक ही होते हैं। 'नदी के द्वीप' या 'काले फूल का पौधा' ऐसे ही पृथक-पृथक परस्पर-पूरक खंडों में विभाजित-विशृंखलित कथानक वाले उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में बिखरी हुई खंड कथाओं को एक सूत्र में पिरोकर सुनियोजित कथानक का रूप प्रदान करने का कार्य उपन्यास लेखक नहीं करता, स्वयं पाठक को करना पड़ता है। यहाँ उपन्यास लेखक की दृष्टि तटस्थता की होती है और उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी अप्रकट ही रह जाता है या अधिक से अधिक वह किसी पात्र को ही अपना मानसिक प्रतिनिधि बनाकर अपना दृष्टिकोण उसी के माध्यम से व्यक्त करता है। हेनरी जेम्स ने कथा-कथन की इस विशेष विधि को 'प्वाइंट ऑव व्यू मेथड' (दृष्टिकोण विधि) कहा है। उपन्यास में कथा-कथन की यह शिल्प विधि निश्चित रूप से नाटकों की देन है।

नाटकीय शिल्प ने आधुनिक उपन्यासकारों की कथानक संघटना को एक-दूसरे रूप में भी प्रभावित किया है तथा कथा प्रवाह को खंडित करने में योग दिया है। नाटक की 'दृश्य विधान-विधि' को आधुनिक उपन्यासों में सृजनात्मक स्तर पर स्वीकार किया है। पाठक उपन्यासकार या उसके किसी पात्र द्वारा कथा कहते हुए नहीं सुनता, बल्कि कथा को अपनी आँखों के सामने घटते हुए दृश्यरूप में देखता है। 'नदी के द्वीप', 'चित्रलेखा', 'शेखर : एक जीवनी', 'सोया हुआ जल', 'राग दरबारी', 'मुझे चाँद चाहिये' आदि अनेक उपन्यासों में इस विधि का विपुलता से प्रयोग किया गया है।

डायरी या पत्रात्मक शैली में लिखे गये उपन्यासों में भी कथानक की सुसंबद्धता टूटी है और कथा की शृंखलाबद्धता विच्छिन्न हुई है। इस विधि में भी 'दृष्टिकोण विधि' की ही तरह कथा पृथक-पृथक खंडों में बंटी होती है और उपन्यास के पाठक को ही उनको एक सूत्र में जोड़ना पड़ता है, उपन्यासकार तटस्थ रहता है। जैनेन्द्र का 'जयवर्द्धन', अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी' तथा प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' इसी विधि से लिखे गये उपन्यास हैं।

आत्मविश्लेषणात्मक या आत्मकथात्मक शैली तथा अलग-अलग 'कहानी के रूप में उपन्यास' लिखने की शैली ने भी कथानक के परम्परागत ढाँचे को तोड़ा है। प्रथम शैली के उदाहरणस्वरूप नागार्जुन के 'बलचनमा', नागर जी के 'सेठ·

बाँकेमल' और हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि को ले सकते हैं और दूसरी विधि के अन्तर्गत धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तथा रुद्र जी की 'बहती गंगा' आ सकते हैं।

कथा पर जोरदार आघात करने वाला एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—यथार्थवाद। यथार्थवाद ने कथा पर केवल आघात ही नहीं किया, बल्कि उसकी कमर तोड़कर पर्याय के रूप में वह स्वयं ही विपक्षी के रूप में उभरकर उपस्थित हुआ। डॉ० चन्द्रकान्त वांदिवडेकर का विचार है—

> ''कथा का महत्त्व तब तक था, जब तक साहित्य का उद्‌देश्य रंजनवाद तक सीमित रहा। जीवन के जटिल रूप को समझने-समझाने, जीवन के संघर्ष में प्राप्त जीवन-सत्य को अभिव्यक्त करने, अपने ही जीवन अनुभव को अधिक स्पष्ट रूप में खोजने और पाने तथा जीवन-विषयक चेतना को अधिक सूक्ष्म, अधिक व्यापक एवं सर्व समावेशी बनाने का उद्‌देश्य जब साहित्य के सामने प्रस्तुत हुआ तब रंजनवाद के साथ कथा तत्त्व भी धीरे-धीरे लुप्त होने लगा।'' [1]

यथार्थ में जीवन के ऐन्द्रिय रूप के साथ ही मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक सभी पहलू समाविष्ट है। समाजवादी यथार्थवाद, अति यथार्थवाद, प्रकृतवाद, मनोविज्ञानवाद एव अस्तित्त्ववाद जैसे जीवन विषयक समस्त दृष्टिकोण अपनी-अपनी विशिष्ट दृष्टि से जीवन को देखकर उसके यथार्थ को गहरे स्तर पर समझने-बूझने का प्रयत्न करते हैं। इस यथार्थ को निरूपित करने के लिए उपन्यासो में अनेक प्रयोग भी किये जा रहे हैं, अतार्किकता, फैटेंसी, स्वप्न चित्रण, अमूर्तीकरण, अनपेक्षितता का समावेश, रोजमर्रा के जीवन की अतिशयोक्ति, हास्योत्पादक चित्रण या विरूपीकरण व्यंग्यात्मकता (जो 'डॉन क्विक्झोट' में है), विडम्बना आदि अनेक प्रणालियाँ भी इसी के कारण उभर आई हैं। आज एंटी-रियलिज्म के अन्तर्गत जो कुछ माना जाता है, वह वस्तुत: यथार्थवाद का ही सूक्ष्म आकारहीन भयावह छाया है। इस प्रकार यथार्थ का बहुआयामी चित्रण करने वाली पद्धतियों ने कथा के पारम्परिक महत्त्व, गठन आदि को नष्ट भ्रष्ट करके रख दिया है।

(2) उपन्यास में चरित्र निर्माण

(अ) चरित्र चित्रण का पारम्परिक दृष्टिकोण—उपन्यास साहित्य में कथातत्त्व पर जबर्दस्त प्रहार करके, उसके पारम्परिक ढाँचे को ढहाकर उसके प्रमुख विपक्षी के रूप में चरित्र-चित्रण का उदय हुआ। बदलते जीवन की विभिन्न समस्याएँ, उसके अन्तर्विरोध, उसके यथार्थ रूप का केवल कथा के माध्यम से प्रस्तुति उपन्यासकार के लिए अधूरा लगा। जीवन की इस जटिलता एवं विविध भाव-भंगिमाओं का यथार्थ चित्रण के लिए पात्र तथा उसके द्वारा चरित्र-चित्रण माध्यम ही उपन्यासकारों को पर्याय के रूप में दिखाई दिया। 19वीं सदी की पूँजीवादी व्यवस्था में 'व्यक्ति' को अधिक महत्ता प्राप्त हुई। यह शक्तिशाली, कर्त्तव्यशाली तथा साहसी 'व्यक्ति' उपन्यासों में प्रतिष्ठा पा गया और इस व्यक्ति के चरित्र को ही उपन्यास का पर्याय समझ लिया गया। पाश्चात्य साहित्य में विलियम थैकरे जैसे लोगों ने चरित्र प्रधान उपन्यासों को नयी दिशा दी। ई० एम० फार्स्टर ने भी कथा से मुँह मोड़कर पात्र और चरित्र को ही उपन्यासों का महत्त्वपूर्ण तत्त्व निरूपित किया। उसकी मान्यता है कि पात्र तथा उनके चरित्रों की गत्यात्मकता अथवा सप्राणता से ही उपन्यास अधिक शक्तिशाली बनता है। इसीलिए जब हम टॉल्स्ताय, दोस्तोवस्की, जेन ऑस्टिन, वर्जीनिया वुल्फ विलियम थैकरे, चार्ल्स डिकेन्स, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र

---
1. उपन्यास : स्थिति और गति, पृष्ठ 8

की औपन्यासिक कृतियों का स्मरण करते हैं तो अन्य सब बातें पार्श्व में चली जाती है और हमारे सामने उनके पात्रों की कतार खड़ी हो जाती है।

इसलिए प्रेमचन्द की धारणा—

> ''मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'' 1

इस प्रकार मानव चरित्र के उद्घाटन के लिए उपन्यास में उन अनेक परिस्थितियों का चित्रण अनिवार्य हो जाता है, जिनमें मानव अपनी ग्रंथियों तथा मानसिक ऊहापोह को निरावृत्त करे। इन परिस्थितियों को घटनाओं के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकता है। अत: प्रेमचन्द की दृष्टि में उपन्यास घटनाओं के माध्यम से चरित्र का उन्मेष करने वाली कथा है। अपने समकालीन उपन्यासों के प्रतिकूल लज्जाराम शर्मा ने, सर्वप्रथम घटनाओं से ऊपर उठकर चरित्र निर्माण की ओर संकेत किया था—

> ''...इसमें नित्य की अनेक घटनाओं का एक ही मनुष्य के चरित्र में संग्रह किया गया है।'' 2

स्पष्टत: घटनायें चरित्र निर्माण का साधन हैं, अथवा वे चरित्र का उन्मेष मात्र करती हैं। उपन्यास की परिभाषा करते हुए भी, उन्होंने इस ओर इंगित किया है—

> ''....इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिये जिनसे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो।'' 3

उपेन्द्र नाथ अश्क की भी धारणा है—

> ''उपन्यास में मुझे कथानक के बदले पात्रों का चरित्र-चित्रण उनके मन में क्षण-क्षण उठते बदलते विचार, घटनाओं का घात-प्रतिघात और जिन्दगी के असंख्य छोटे-बड़े ब्यौरों का चित्रण भाता है।'' 4

लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि वे पात्र कृत्रिम और निष्प्राण नहीं, यथार्थ, सजीव और प्राणवान हों। प्रेमचन्द ने लिखा है—

> ''किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलती, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक और मुँह होते हैं, पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भाँति सब आदमियों के चरित्रों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। इसी चरित्र-समानता और विभिन्नता, अभिन्नता और भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।'' 5

राबिन्सन ने भी स्वीकार किया है—

---

1 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 88

2 धूर्त रसिक लाल, की भूमिका से

3. आदर्श दम्पत्ति, भूमिका।

4. ज्यादा अपनी : कम पराई, पृष्ठ 155

5 प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 60

"चरित्र-चित्रण का अभिप्राय है, कहानी में लोगों (पात्रों) को पर्याप्त मूर्तमत्ता और स्वाभाविकता के साथ इस प्रकार चित्रित करना कि वे पाठकों के लिए 'छाया' नाम न रहकर पुस्तक के समतल पन्नों में उभर आयें और कम से कम उस समय के लिए तो व्यक्तित्व धारण कर ही लें।" 1

पात्रों का चरित्र-निर्माण इस प्रकार होना चाहिये कि वे सजीव होकर पात्रों के सामने नर्तन कर उठें। चरित्रों की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बद्धता होना भी आवश्यक है। लोट्जे के शब्दों में तो "पात्रों के चरित्र का क्रमिक निर्माण ही उपन्यास की वास्तविक समस्या है।" 2 अर्थात् उपन्यास को अपने चरित्रों की आन्तरिक वृत्तियों, परिस्थितिजन्य मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा संस्कारजन्य अन्त:करण में उद्भूत विचारों आदि का यथातथ्य चित्रण करना होगा। ई० एम० फार्स्टर के अनुसार—

"पुस्तक में चरित्र तभी वास्तविक उभरता है, जब उपन्यासकार को अपने पात्रों का पूर्ण परिज्ञान होता है। और उस परिज्ञान को पाठकों पर प्रकट करते हुए उन्हें प्रतीति करा देनी होगी कि भले ही वह समय और स्थान के अभाव में अपने पात्रों की पूर्ण व्याख्या न कर सका है, पर उसके पात्र पहेली नहीं है। 3

उपन्यास लेखक तब तक किसी चरित्र का निर्माण नहीं कर पाता, जब तक कि वह अपनी कल्पना का आधार किसी यथार्थ और जीवित व्यक्ति को नहीं बनाता। प्रेमचन्द ने लिखा है—

"कथा साहित्य में सम्प्रति काल्पनिक घटनाओं को यथार्थावृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है, भविष्य में यथार्थ पर कल्पना का आलेप करना होगा, ताकि वह कथा प्रतीत हो।" 4

इन दोनों—यथार्थ, कल्पना—अवधारणाओं को उन्होंने बहुधा 'आदर्श' और 'यथार्थ' के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है....इसलिए वहीं उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो....।" 5

चूँकि कला मात्र ही यथार्थ की अनुकृति है और उपन्यास भी एक कला है, अत: वह अनुकृति ही हो सकता है, हू-ब-हू यथार्थ नहीं। यथार्थ जीवन की इस अनुकृति में ही उपन्यास की सारी प्रतिभा, उसके शिल्प कौशल और कल्पनाशक्ति की परीक्षा हो जाती है। अनुकृति को यथार्थ-सा बना देना या उसमें यथार्थ का भ्रम पैदा कर देने में ही उसकी कला की सफलता है। इसी तथ्य को ई० एम० फार्स्टर कुछ दूसरे ढंग से व्यक्त करते हैं—

" 'कला' के अपने विधान होते हैं, जो हमारे दैनिक जीवन के विधान से भिन्न होते हैं और चूँकि उपन्यास भी एक कलाकृति है, इसलिए इसके पात्रों की वास्तविकता भी कला के विधान के अनुसार ही निर्धारित होनी चाहिये। यथार्थ जीवन और उपन्यासकार द्वारा निर्मित जीवन का पार्थक्य कला के कारण

---

1. The Characterization mens briefly setting of people in the story with a sufficient degree of visibility and plausibility so that they may for the readers emerge from the flat page as more then shadowy names and progress. for the time atleast, the rudements of personality. राइटिंग फॉर यंग पीपुल —एम० एल० रॉबिन्सन, पृष्ठ 11
2. Slow shaping of character is the problem of novel Lotze Hudson —An introduction to the study of literature Page 148
3. Aspects of Novel : E. M. Forrter
4. कुछ विचार, पृष्ठ 69
5. साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 57

ही है। उपन्यास के पात्र वास्तविक हैं, इसलिए नहीं कि वे हमारी तरह है, बल्कि इसलिए कि वे विश्वसनीय हैं।''[1]

स्पष्ट है कि उपन्यास के चरित्र-निर्माण का मुख्य स्रोत उपन्यासकार ही है, उसका अपना अनुभव संसार होता है। इसीलिए चरित्र-निर्माण करते समय उपन्यासकार को बहुत सावधान रहना पड़ता है। इसीलिए फार्स्टर की धारणा है—

''बाध्य किये जाने पर चरित्र आ जाते हैं पर बगावत की शक्ति लेकर आते हैं। उनमें भी यथार्थ की ही तरह बहुत सारे गुण-दुर्गुण तथा विविध प्रवृत्तियाँ होती हैं और वे अपना स्वतंत्र जीवन जीने की कोशिश करते हैं, फलस्वरूप वे कभी-कभी उपन्यास की मुख्य योजना के प्रति बगावत का झंडा भी उठा लेते हैं।[2]

अत: उपन्यासकार को अपने पात्रों का निर्माण करते समय उनके मिजाज, तेवर, स्वभाव का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। चरित्र निर्माण के लिए सामान्यत: उपन्यासकार दो प्रविधियों का प्रयोग करते हैं—विश्लेषणात्मक, नाटकीय। विश्लेषणात्क प्रविधि में उपन्यास की दृष्टि ही सर्वप्रधान होती है। उसी की दृष्टि से चरित्रों का मूल्यांकन करने के लिए पाठक बाध्य होता है। चरित्र-निर्माण की नाटकीय प्रविधि ही आजकल अधिक प्रचलित है। इस प्रविधि में उपन्यासकार अपने पात्रों को प्राणशक्ति से सम्पन्न करके अपना निर्माण स्वयं करने के लिए, अपना रास्ता स्वयं चुनने के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है। थैकरे तो कहा करता था कि वह पात्रों का निर्माण तो स्वयं करता है, किन्तु निर्माण के उपरान्त उन्हें स्वतंत्र कर देता है। वे जहाँ चाहते हैं, उपन्यासकार को ले जाते हैं। सामरसेट माम का भी विश्वास है कि उपन्यासकार द्वारा निर्मित पात्रों की क्रियाएँ उनकी चारित्रिक विशेषताओं से उत्पन्न होनी चाहिये।

चूँकि विषय वस्तु की माँग या उपन्यासकार का अवलोकन बिन्दु उपन्यास की शिल्प विधि का निर्धारण करता है और वही पात्रों की निर्माण-प्रक्रिया में भी उपन्यासकार का मार्गदर्शक होता है, इसलिए उपन्यासकार कभी तो आत्म कथात्मक पद्धति को अपनाता है और कभी पत्रात्मक या डायरी आदि नाटकीय पद्धतियों को; कभी वह सरल (फ्लैट) पात्रों का निर्माण करता है और कभी गूढ़ (राउंड) पात्रों का। उपन्यासकार कभी चरित्र प्रधान, नाटकीय या मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखता है और कभी घटना प्रधान।

इस प्रकार चरित्र के विविध प्रकार दृष्टिगत होते हैं—

(1) प्रतिनिधि (टाइप)
(2) व्यक्तिवादी (इंडिविज्युअल)
(3) मिश्र (मिक्स्ड)
(4) स्थिर (स्टैटिक)
(5) समतल (फ्लैट अथवा राउंड)
(6) विकसनशील (किनेटिक)
(7) प्रतीक पात्र

---

1. That a novel is a work of art, with its own laws, which are not those of daily life, and that a character in a novel is real when it leaves in accordance with such laws....The barrier of the art devides them from us. They (Characters of the novel) are real not because they are like ourselves but because they are convincing. E. M. Forster : Aspects of Novel, Page 69
2. वही, पृष्ठ 74

प्रतिनिधि—प्रतिनिधि पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताओं द्वारा किसी एक वर्ग विशेष अथवा समुदाय विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन पात्रों की अपनी कोई निजी विशेषता नहीं होती और ऐसे पात्रों में मानव की गहरी संवेदना, जटिल भावबोध और स्वतंत्र चिंतनशक्ति को प्रभावित करने की क्षमता नहीं के बराबर होती है। जहाँ भी कहीं थोड़ा अधिक प्रभाव होता है, क्षणिक होने के कारण वह स्थायी नहीं रह सकता। ऐसे टाइप पात्र हमारे राग-विराग के ऊपरी स्तर को आमतौर पर छूते हुए विस्मय, कौतूहल, उत्तेजना आदि पैदा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार के पात्र अधिकतर घटना-प्रधान उपन्यासों में मिलते हैं। प्रेमचन्द के पात्र अपने वैयक्तिक व्यक्तित्व के बावजूद अधिकतर टाइप ही हैं।

व्यक्तिवादी—द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा तकनीकि की उत्तरोत्तर होने वाली बढ़ोत्तरी ने 'व्यक्ति' को उसके अपने अस्तित्त्व का ज्ञान कराया है। इतना ही नहीं, उसे उसकी सीमाओं से अवगत कराते हुए उसके दुर्बल, असहाय कुंठित और फालतू स्वरूप को भी उद्‌घाटित किया है। परिणामत: उपन्यासों में 'व्यक्ति' को एक परम्परागत 'हीरो' के रूप में चित्रित न करके उसकी वैयक्तिक विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाने लगा। प्राय: मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के उपन्यासों के पात्र इसी श्रेणी में आते हैं।

मिश्र—प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकारों ने जो चरित्र चित्रित किये हैं वे प्राय: टाइप ही हैं, किन्तु उपन्यासकार इन्हें एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी प्रदान करने में सफल हुआ है। अत: उनके पात्र न तो टाइप हैं और न व्यक्ति। होरी, धनिया, निर्मला आदि मिश्र चरित्र वाले पात्र हैं।

स्थिर (स्टैटिक)—इस प्रकार के पात्रों में उनकी चारित्रिक विशेषताएँ, अर्थात् उसके गुण-दोष उपन्यास के प्रारम्भ से ही विद्यमान रहते हैं और वे अन्त तक बने रहते हैं। ऐसे पात्रों पर आस-पास के वातावरण आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शुरू से अन्त तक ये पात्र स्थिर रहते हैं और उनके बारे में सिर्फ पाठकों की जानकारी बदलती रहती है। ई० एम० फार्स्टर के अनुसार, स्थिर पात्रों के रूप में प्राय: कोई एक भाव या गुण ही मुख्य रूप से मूर्तिमान रहता है। इस भाव अथवा गुण का ही व्याख्या धीरे-धीरे उनके चरित्र के रूप में होती है ओर खण्डन-मण्डन होता रहता है।

समतल (फ्लैट)—उपन्यासकार जब विशिष्ट उद्‌देश्य से प्रेरित होकर पात्रों या चरित्रों की सृष्टि करता है तब समतल पात्रों की सृष्टि होती है। ऐसे पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार किसी सिद्धान्त या आदर्श को प्रस्तुत करता है। परिणामत: इनका सर्वांगीण विकास न होकर ये चरित्र एकांगी हो जाते हैं। अत: इनमें व्यक्तित्त्व का नितांत अभाव देखा जा सकता है। चार्ल्स डिकेन्स, स्काट, पामेला, टॉम जोन्स, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा मन्मथनाथ गुप्त आदि के उपन्यासों में इस प्रकार के समतल या एकांगी पात्र देखने को मिलते हैं।

विकसनशील—ये चरित्र उपन्यास के प्रारम्भ से ही अपनी पार्श्वभूमि, वातावरण तथा परिस्थिति के दबाव में न आकर कथावस्तु के स्वाभाविक विकास के साथ परिवर्तनशील रहकर विकसित होते हैं। इन पात्रों में स्थिरता और एकरसता न होकर गतिशीलता होती है। अतएव पार्श्व की परिस्थितियाँ बदलें या न बदलें इनका विकास निरन्तर होता रहता है। अनेक बार ऐसे पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार व्यक्ति की अनगिनत अनुभूतियों तथा भाव भंगिमाओं को चरितार्थ करने की कोशिश करता है और इस प्रकार की स्थितियाँ अधिकतर मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के उपन्यासों में देखने को मिलती है। ऐसे चरित्र विलियम थैकरे, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय के उपन्यासों में देखे जा सकते हैं।

चरित्र-चित्रण पर आघात—पात्रों की निर्मिति में उपन्यासकार जैसे-जैसे अधिक सजग होता गया, मानव मन के तल को छूने के सजग प्रयत्नों ने उसे चरित्रों के निर्माण में कारण माने जाने वाले सन्दर्भो का भी ज्ञान कराया और चरित्रों अथवा पात्रों की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाली परिस्थिति एवं परिवेश को अधिक महत्त्व प्रदान हुआ। इस तरह चरित्र-चित्रण की प्रणाली पर आघात का क्रम शुरु हुआ। हिन्दी में चरित्र, चित्रण पर आघात की यह प्रक्रिया सन् 1950 के आसपास शुरु हुई तथा साठोत्तरी काल में वह तीव्रतर होती गई। चरित्र-चित्रण का रूप छिन्न करने वाले प्रमुख तत्त्वों में मनोविज्ञान, दर्शन तथा परिवेश आदि प्रमुख हैं।

मनोविज्ञान ने सबसे कठोर प्रहार व्यक्ति की उसकी अपनी 'पहचान' (आइडेंटिटी) के मूल में स्थित अहं (इगो) पर किया। इससे भी आगे चलकर डी० एच० लारेंस ने चरित्र के मूल रूप—'ईगो' को ही अस्वीकार कर दिया। एक ओर उसने फ्रायडीयन अवचेतन मन की स्थिति को विलक्षण चुनौती दी तो दूसरी ओर व्यक्ति के 'ईगो' के अस्तित्त्व को ही नकारा। इस प्रकार उपन्यासकारों ने व्यक्तित्त्व की अपेक्षा व्यक्ति की मानसिकता और उसकी अवस्था को ही महत्ता प्रदान करना शुरु कर दिया। परिणामत: मानसिकता के उन्मुक्त अप्रतिहत प्रवाह के बीच बड़ी दीनता से खड़े रूखे ठूँठो की तरह चरित्रों की स्थिति हो गई। ये चरित्र चेतना, प्रवाह में उखड़े-पुखड़े केन्द्र बन गये। इस तरह उपन्यासों में संवेदना, संचेतना तथा चेतना प्रवाह के तेज को खंडित रूप से निरूपित किया जाने लगा परन्तु उसके मूल 'ईगो' का अस्तित्त्व ही नहीं रहा और इसी को 'व्यक्तित्त्व का लोप' कहा जाने लगा।

दार्शनिक विचारधाराओं के अन्तर्गत मार्क्सवाद एवं अस्तित्त्ववाद ने चरित्र-चित्रण के परम्परागत स्वरूप को छिन्न-भिन्न कर दिया। मार्क्सवादी विचारधारा व्यक्ति के आर्थिक परिवेश को सर्वोपरि महत्ता देती है, इसलिए ऐसे उपन्यासों के पात्र एक ही पहलू के इर्द-गिर्द घूमने के कारण अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व खोकर उपन्यासकार की कठपुतलियाँ मात्र बनकर रह जाते हैं। मार्क्सवादी उपन्यासकार अत्यधिक मात्रा में अपने विचारों का प्रचारक होता है, अत: उसके द्वारा निर्मित पात्र, चरित्र-चित्रण की सार्थक प्रणाली को खो देते हैं और मार्क्सवादी दर्शन को टाँगने की खूँटियाँ मात्र बन जाते हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध की भयावह विभीषिका के परिणामस्वरूप बेचैनी, कुंठा, खीझ, असहायता, पीड़ा तथा अकेलेपन का भय आदि अनेक स्थितियों के बीच मनुष्य जड़वत हो गया। जीवन की सार्थकता उसका महत्त्व और मूल्य आदि सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट-सा होता दिखाई देने लगा। ऐसी स्थिति में सार्त्र, कामू, बैकेट ने अस्तित्त्ववाद के माध्यम से मनुष्य के अस्तित्त्व को एक नया रूप, नया अर्थ तथा नई दिशा दिया। डॉ० चन्द्रकान्त वांदिवडेकर के अनुसार—

> ''सार्त्र और कामू के लेखन में मनुष्य परिवेश का केवल असहाय प्रतिक्रिया करने वाला फालतू मनुष्य नहीं है। जहाँ वैसा ऊपर से दीखता है, वहाँ विलक्षण वक्रता एवं व्यंग्यात्मक ढंग से अपनी मूल दृष्टि का बोध कराया गया है। प्रत्यक्षत: निरर्थकता की स्थितियों का बोध कराते हुए भी जीवन को कंधों पर उठाकर ले चलने की अभिमन्यु की युयुत्सा का भी परिचय ये साहित्यकार देते हैं।'' [1]

अस्तित्त्ववाद मानवीय जीवन के ठोस एवं साकार रूपों को उजागर करके, व्यक्ति की मानसिक स्थितियों को गहनता से प्रस्तुत करता हैं। ये स्थितियाँ अत्यन्त बौद्धिक, भावात्मक या मानसिक होने के कारण ठोस चरित्र का लोप कर देती हैं।

---

1 उपन्यास : स्थिति और गति —चन्द्रकान्ता वांदिवडेकर, पृष्ठ

व्यक्ति की 'व्यक्तित्व' रूपी पहचान को ही खत्म करके परिवेश व्यक्ति पर हावी हो गया। फलस्वरूप व्यक्ति अप
आपको फालतू, अकेला, असमर्थ या असहाय महसूस करने लगा। अत: व्यक्ति एक ठंडे, असंपृक्त, जड़ पात्र के रूप
चित्रित होने लगा और चरित्र जैसी बात तिरोहित हो गयी। आंचलिक उपन्यासों ने भी अंचल विशेष की भौगोलिक
सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश को उभारकर चरित्र-चित्रण के परम्परागत स्वरूप को तोड़ दिया। समकालीन नायव
विहीन या समूह पात्र वाले उपन्यास भी उपन्यासकार के परिवर्तित अवलोकन बिन्दु या बदले हुए 'विजन' के ही परिणाम हैं

(3) **देश-काल संयोजन**—व्यक्ति या घटना को उसकी पूर्ण यथार्थता में चित्रित करने के लिए उसके दिक् औ
काल का चित्रण भी अनिवार्य होता है। जिस प्रकार प्राणतत्त्व का अस्तित्त्व बोध हमें किसी शरीर तंत्र के भीतर ही हो सकत
है, उसी प्रकार उपन्यास के कथानक, पात्रों तथा अन्य विधायक तत्त्वों का बोध उनके परिवेश में ही होता है। डॉ० त्रिभुव
सिंह के शब्द हैं—

> ''घटनाओं, पात्रों और उनके कार्यकलापों को विश्वसनीयता एवं स्वाभाविकता प्रदान करने का कार्य उपन्यास में देश, काल और वातावरण द्वारा ही सम्भव हो पाता है। किसी व्यक्ति अथवा समाज को ही उपन्यास अपने वर्णन का आधार बनाता है। वर्ण्य व्यक्ति अथवा समाज के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति - नीति और उसके आस - पास घिरी परिस्थितियाँ ही देश, काल और वातावरण की संज्ञा धारण करती हैं।'' [1]

वातावरण या परिवेश दो प्रकार के होते हैं—मानवीय और प्राकृतिक। प्राकृतिक वातावरण भौतिक परिस्थितियों क
ओर संकेत करता है, तो मानवीय वातावरण सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक परिस्थितियों की ओर। ये दोनों ही परिवे
सम्मिलित रूप से मनुष्य एवं उसके कार्यकलाप को न केवल प्रभावित ही करते हैं, बल्कि काफी हद तक परिचालित भ
करते हैं। एमिल जोला का भी विचार है—

> ''मनुष्य कोई नि:संग प्राणी नहीं, उसका अस्तित्त्व समाज में ही होता है, एक सामाजिक वातावरण में, और जहाँ तक हम उपन्यासकारों का उस सामाजिक वातावरण से सम्बन्ध हैं, हम घटनाओं को वातावरण द्वारा निरंतर परिवर्तित मानते हैं। उपन्यासकार का असली दायित्व उसका आन्तरिक और बाह्य वातावरण का व्यक्ति के साथ घात-प्रतिघात दिखाना है।'' [2]

'देश-काल, वातावरण' उपन्यास के उदय के समय से ही एक अनिवार्य विधायक तत्त्व बना हुआ है, पर आधुनिक युग
इसकी महत्ता बहुत बढ़ गयी है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यों में तो यह सर्वप्रमुख तत्त्व बन गया है, यही नायकत्व को प्रा
कर लिया है। इसीलिए सत्यपाल चुघ ने आंचलिक उपन्यास को 'देश प्रधान उपन्यास' कहा है। उनके शब्द हैं—

> ''जिस उपन्यास के सभी उपकरणों का दृष्टि केन्द्र फोकस या प्रकाशन ध्येय परिसीमित देश-विशेष हो जाता है और अन्य तत्त्व इसी से नियत-निर्णीत होते हैं, उस उपन्यास को 'देश प्रधान' कहते हैं। हिन्दी में ऐसे उपन्यासों को 'आंचलिक' संज्ञा से अभिहित किया गया है।'' [3]

---

1. हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, पृष्ठ 287
2. Man is not alone but exists in society, in a social environment, and so for as we novelists are concerned, this enviro ment is constantly modifying events. This is where our real task lies in studing the interaction of society on t individual and of the external or internal., Allott, Miriam : Novelists on Novel, Page 303
3. प्रेमचन्द्रोत्तर हिन्दी उपन्यास की शिल्प विधि पृष्ठ 556

डॉ० शिव प्रसाद सिंह की भी धारणा है—

> "यह वातावरण न केवल लेखक को, बल्कि पाठकों को भी निरंतर प्रभावित करता है। इसलिए आंचलिक लेखक का यह विश्वास होता है कि वह अपने को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से तभी व्यक्त कर सकता है, जब उसका वातावरण, उसकी जनता और स्थान उसके माध्यम से, उसके भीतर से अपने को अभिव्यक्त कर सकें।" [1]

(4) अभिव्यक्ति की भंगिमा : भाषा-शैली

अमूर्त को मूर्त करने के शिल्पगत साधनों में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाठक के लिए भी किसी कृति को समझने-परखने के लिए उसकी भाषा ही प्रथम आधार प्रस्तुत करती है। टालस्टाय के शब्दों में—

> "भाषा विचार का साधन है। भाषा का इस्तेमाल लापरवाही से करने का मतलब है, विचार से लापरवाही करना। उपन्यासों में भाषा का महत्त्व इतना अधिक है कि शैली को भी कभी-कभी भाषा के अर्थ में ही ले लेते हैं। भाषा के माध्यम से ही उपन्यासकार अपने विषय या कथा को निश्चित शिल्प के द्वारा प्रस्तुत करता है। भाषा का मूलाधार शब्द है, जिसे उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूलतत्त्व समझना चाहिये; अर्थात् किसी लेखक या कवि की शब्द योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उसकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली हैं।" [2]

वस्तुत: उपन्यास के शिल्प के सर्जक तत्त्व के रूप में भाषा और शैली को अलग-अलग मानकर चलना उचित नहीं है, क्योंकि उपन्यास की भाषा पर विचार करते समय वस्तुत: हम उपन्यासकार द्वारा प्रयोग की गयी भाषा-प्रयोग की विशिष्ट रीतियों, तरीकों का भाषिक सर्जनात्मकता के विभिन्न स्वरूपों का भी उद्‌घाटन करते हैं। शैली किसी कला या कृति की उस विशिष्टता की द्योतक होती है जिसके चलते वह अपनी ही समान की अन्य कृतियों से भिन्न दिखाई देती है। यह एक विशिष्ट प्रणाली, कार्य-संपादन या नियोजन के एक विशिष्ट ढंग या तरीके को व्यंजित करती है। मार्क स्कोरर शिल्प (टेकनीक) एवं शैली (सल्टाइल) में अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> "दोनों में प्रमुख अंतर को इनकी प्रकृति की भिन्नता ही रेखांकित कर देती है, शिल्प-विधि की प्रकृति वस्तु सापेक्षता की है, जबकि शैली की प्रकृति आत्मपरकता की।" [3]

आचार्य वामन ने जिस 'रीति' को काव्य की आत्मा घोषित किया था, आधुनिक युग में 'शैली' शब्द का प्रयोग उससे कुछ अधिक विकसित अर्थ में किया जाता है। 'रीति' में जिस रचना कौशल को संकेतित किया गया है, वह तो शैली में है ही इसके अतिरिक्त शैली 'शील' से संबंधित होने के कारण रचनाकार के स्वभाव या व्यक्तित्त्व की भी व्यंजक बन जाती है।

उपन्यास के कथ्य, विषयवस्तु तथा उपन्यासकार के अवलोकन बिन्दु और उसके व्यक्तित्त्व के अनुसार ही उपन्यास की भाषिक संरचना और शैली का निर्धारण होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'दिव्या' में जिस प्रकार की भाषा-शैली अपनायी गयी है वह द्विवेदी जी एवं यशपाल के अन्य उपन्यासों में नहीं मिलती। 'रेणु' और 'नागार्जुन' के उपन्यासों में भाषा

---

1. आचलिकता और आधुनिक परिवेश —डॉ० शिव प्रसाद सिंह पृष्ठ 116
2 साहित्यालोचन, डॉ० श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ 259 से उद्‌धृत
3. Technique as discovery, Perspective on Fiction —Mark Schorer, Page 205

का जो रूप दिखाई देता है तथा 'मैला आँचल' और 'बाबा बटेसरनाथ' में जो शैलियाँ अपनायी गई हैं, उसी काल के 'नदी के द्वीप', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'उखड़े हुए लोग' में नहीं मिलती। स्पष्ट है कि लेखक के व्यक्तित्त्व की विशिष्टता के अतिरिक्त कृति के कथ्य की प्रकृति, पात्रों का सामाजिक-मानसिक स्तर और उपन्यास का वातावरण तथा उपन्यासकार का अपना दृष्टिकोण सभी सम्मिलित रूप से उपन्यास की भाषा-शैली के स्वरूप निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

शैली के विविध प्रकारों में भावात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, हास्य व्यंग्यात्मक, पत्रात्मक, डायरी, लोक कथात्मक, चेतना प्रवाहात्मक आदि का उल्लेख किया जाता है, किन्तु मेरे विचार में मुख्यत: निम्नलिखित प्रकार हैं—

(1) वर्णनात्मक

(2) आत्मनिवेदनात्मक

(3) फ्लैश बैक

(4) विश्लेषणात्मक

(5) आंचलिक

इसके अतिरिक्त भी अनेक शैलियों में उपन्यास लिखे जा रहे हैं, जिनका नामाभिधान फिलहाल असम्भव सा प्रतीत होता है।

संवाद तत्त्व को भी उपन्यास के शिल्प की अभिव्यक्ति भंगिमा का ही एक रूप समझना चाहिये, क्योंकि उपन्यासकार की अभिव्यक्ति विशिष्टताओं का अधिकाधिक निखरा हुआ रूप उसी समय दिखाई देता है, जब उपन्यास के दो पात्र या कई पात्र पारस्परिक वार्तालाप में लगे होते हैं। प्रेमचन्द्र की भी धारणा है—

> ''उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाये, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को, जो किसी चरित्र के मुँह से निकले— उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिये। बातचीत का स्भाविक परिस्थितियों के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।'' [1]

अभिव्यक्ति भंगिमा : नये प्रयोग

प्रेमचन्द्र पूर्व युग के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास लेखन में शैली को नवीन रूप देने की दृष्टि से नये-नये प्रयोग करने का प्रयत्न नहीं किया है। तत्कालीन उपन्यासों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि कथा कहने मोह तथा चमत्कृति प्रदर्शन की अत्यधिक लालसा ने इस युग के उपन्यासकारों को एक ही सपाटबयानी शैली ने जकड़ लिया है। शैली का गरिमामय एवं महत्त्वाकांक्षी रूप प्रेमचन्द्र के उपन्यासों में सर्वप्रथम विकसित हुआ। यद्यपि प्रेमचन्द्र ने विविध प्रयोग नहीं किये किन्तु आदर्शोन्मुख यथार्थ की आधार भूमि पर उपन्यासों की सृष्टि करके उन्होंने वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैली का स्वरूप निर्धारण किया है। अमृतलाल नागर के 'अमृत और विष' तथा 'बूँद एवं समुद्र' उपन्यास में भी शैली का अभिनव रूप मिलता है। जैनेन्द्र ने तो मनोविश्लेषणात्मक शैली द्वारा नये अध्याय का सूत्रपात किया। इस क्रम में जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र', 'सुनीता', इलाचन्द्र जोशी का 'संन्यासी', राजकमल चौधरी का 'मछली मरी हुई'; सर्वेश्वर का 'सोया हुआ जल'। रेणु एवं अज्ञेय ने तो शिल्प के क्षेत्र में क्रान्ति कर दिया। अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास आत्म निवेदन, विस्लेषणात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा फ्लैश बैक शैलियों के अप्रतिम संगम का दस्तावेज है, तो 'नदी के द्वीप' में भावप्रधान, काव्यात्मक और

1. साहित्य का उद्देश्य : मु० प्रेमचन्द्र, 'उपन्यास का विषय' निबन्ध, पृष्ठ 61

चेतना प्रवाह शैलियों का। रेणु ने हिन्दी में सर्वप्रथम किसी एक व्यक्ति-विशेष की कथा न कहकर समस्त अंचल तथा उसके परिवेश के दस्तावेज को सर्वथा नई आंचलिक शैली में प्रस्तुत किया; जिसे आगे चलकर शिवप्रसाद सिंह, राम दरश मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, विवेकी राय ने नया संस्कार दिया।

हिन्दी उपनयासों में शिल्प, शैली तथा प्रस्तुतीकरण आदि अनेक दृष्टियों से धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' उपन्यास एक महत्तम उपलब्धि है। इसमें मणिक मुल्ला द्वारा कथित सात कहानियाँ मिलकर उपन्यास बन गई हैं। रांगेय राघव का 'हुजुर' अन्योक्ति शैली में प्रस्तुत किया गया एक नया प्रयोग है। समय संकुचलन की प्रवृत्ति से लिखे गये नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल', अश्क का 'शहर में झूमता आईना' इस दिशा में नवीन प्रयोग हैं।

सन् 1960 के बाद हिन्दी उपन्यासों की शैली में नवीनता और विविधता के साथ बिम्ब, प्रतीक, जटिल भावबोध आदि के प्रचुर प्रयोग से उपन्यासों की कलात्मकता में श्रीवृद्धि ही हुई है। कई उपन्यासों के नाम तक प्रतीकत्मक हैं। मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' बाल मनोविज्ञान पर आधारित कथ्य, शिल्प एवं शैली की दृष्टि से सर्वथा नया और मौलिक प्रयोग है। श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' व्यंग्यात्मक एवं प्रतीकात्मक शैली की एक नई तलाश है, तो बदीउज्जमा के 'एक चूहे की मौत' तथा 'छठा तंत्र' उपन्यासों में फैंटेसी तथा प्रतीकात्मक शैली का बखूबी प्रयोग किया गया है। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' उपन्यास आंचलिक होने पर भी विशिष्ट शैली और कथ्य के नाविन्य से आंचलिकता के रास्ते को भी पलट देते हैं।

समग्रत: स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों में शैली की विविधता देखने को मिलती है जो हिन्दी उपन्यास के विकास के नये-नये क्षितिजों की परिचायक है।

(5) उद्देश्य—

उपन्यास सर्जना का यह एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जो विषय सापेक्ष्य है। उपन्यास के उदय के समय कथा वस्तु और बाद में चरित्र-चित्रण आदि को प्रमुखता प्राप्त होने के कारण 'उद्देश्य' तत्त्व कम-अधिक मात्रा में उपेक्षित ही रहा, परन्तु अन्य तत्त्वों के साथ क्रमश: विकसित होता हुआ महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथा वस्तु, चरित्र-चित्रण पर आधात हुए, किन्तु 'उद्देश्य' तत्त्व निरन्तर समृद्ध होता गया।

हिन्दी उपन्यास के उदय के समय यह 'पाठकों का मनोरंजन' करने के रूप में ही दिखाई देती है। भारतेन्दु काल के आने तक 'मनोरंजन' के साथ-साथ शिक्षा, राष्ट्रीयता, वीरता, सुधारवादी दृष्टिकोण, उपदेश जैसे उद्देश्य उपन्यासों में उभरने लगे। इस प्रकार प्रेमचन्द्र पूर्व युग में मुख्यत: दो उद्देश्य दिखाई देते हैं— मनोरंजन, शिक्षण। मेहता लज्जाराम शर्मा का विचार है—

> ''जिन सुलेखकों को अपने उपन्यास की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पड़े तो मेरी समझ में हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते हैं, क्योंकि लोगों ने ऐसे-ऐसे उपन्यासकारों की रचना द्वारा पाठकों की अरुचि छुटाकर पोथियाँ पढ़ने का चटरस उनके मन में पैदा कर दिया है।'' [1]

---

1 बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी, भूमिका

मनोरंजन, चमत्कृति, नैतिक शिक्षा आदि की कड़ियों में प्रतिबद्ध उपन्यास विधा को प्रेमचन्द्र ने ही मुक्त किया। उनकी धारणा थी कि 'अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है।' [1] भारतीय श्रमिकों, श्रमजीवियों तथा समाज के निम्न स्तर के तबकों के दु:खमय, कष्टमय और दर्द भरे जीवन को यथार्थ अभिव्यक्ति देने का प्रामाणिक यत्न सर्वप्रथम प्रेमचन्द्र ने ही किया। यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा ने अपने-अपने स्तर पर सामाजिक विसंगतियों को उजागर करने का उद्देश्य रखा। मार्क्सवादी उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य वर्ग संघर्ष तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को रूपायित करना ही रहा है। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर लिखे गये उपन्यासों में यशपाल कृत 'दादा कामरेड' रांगेय राघव कृत 'हुजूर' उल्लेख है।

आधुनिक युग में मनोविज्ञान के विकास के कारण व्यक्ति की मानसिकताओं तथा उसके अन्तर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओं को उद्घाटित करने के उद्देश्य को लेकर जैनेन्द्र, इलाचंद जोशी ने अपनी रचनाओं का लेखन किया। नागर जीवन की दौड़धूप भरी जटिल, जिन्दगी से ऊबकर शान्त रमणीय पहाड़ियों में बसे गाँवों की सादगीपूर्ण जिन्दगी के प्राकृतिक सौन्दर्य में रमने की प्रक्रिया के कारण आंचलिक उपन्यासों की अवतारणा हुई है। सन् 1960 के बाद उपन्यासों की धारणायें, दृष्टिकोण, कल्पनायें तथा उद्देश्य नये प्रयोगों में अभिव्यक्ति पा रहे हैं। देश-विदेश की जटिल समस्याएँ, सड़ी-गली मान्यताएँ, राजनैतिक अवसरवाद आदि अनेक बातों के विडम्बनात्मक प्रस्तुतीकरण के उद्देश्य को लेकर अनेक उपन्यासकार सक्रिय हैं। विशिष्ट उद्देश्य एवं दृष्टिकोण को साकार करने के लिए वे कथा के क्षीण अंशों, मार्मिक प्रसंगों, नार्मल एवं एबनार्मल पात्रों की सूक्ष्म मानसिक स्थितियों का प्रचुर उपयोग भी कर रहे हैं। डॉ० चन्द्रकान्त बांदिबडेकर के अनुसार—

> ''जीवन के बहुमुखी यथार्थ को प्रस्तुत करने की अपेक्षा वे विशिष्ट दृष्टि से देखकर वस्तुओं को प्रस्तुत करते हैं। यह एक प्रकार के वैयक्तिक अहं का वस्तु पर प्रक्षेपण है।'' [2]

नये उपन्यासकारों में नई प्रयोगधर्मिता को चलाने की युयुत्सावृत्ति का परिचय मिलता है। इनमें जीवन जीने की चाह है, शक्तिमान व्यक्तित्त्व रूपापन की प्रगाढ़ इच्छा है और साथ में स्वस्थ समाज एवं राष्ट्र के निर्माण की तड़प भी। ऐसे उपन्यासकारों में बदिउज्जमा, हिमांशु जोशी, हृदयेश, शिवप्रसाद सिंह, सुरेन्द्र वर्मा, विनोद कुमार शुक्ल, अब्दुल विस्मिल्लाह, असगर वजाहत, कमलाकांत त्रिपाठी, प्रभा खेतान आदि उल्लेख हैं।

---

1. कुछ विचार, पृष्ठ 9
2. हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति

अध्याय - 2

स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास का शिल्प

अध्याय : दो
स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास का शिल्प

हिन्दी में उपन्यास विधा का उदय 'परीक्षागुरु' से होता है। 'अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास का परीक्षा गुरु ही निकला था।' [1] 'अपनी भाषा में यह नयी चाल की पुस्तक होगी' लिखकर लेखक ने स्वयं भी 'परीक्षा गुरु' की प्रथमता और मौलिकता का दावा किया है। यद्यपि कि परीक्षागुरु से पहले 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामाशिक्षक', 'भाग्यवती' तथा राधाकृष्ण दास का 'नि:सहाय हिन्दू' की रचना हुई थी। 'नि:सहाय हिन्दू' के सन्दर्भ में तथ्य यह है कि वह लिखे जाने के नौ वर्ष बाद 1890 में प्रकाशित हुआ, अत: यह कालक्रम की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' की परवर्ती रचना है। गौरीदत्त की 'देवरानी जेठानी की कहानी', ईश्वरी प्रसाद तथा कल्याण राय की 'वामाशिक्षक' तथा श्रद्धाराम फुल्लौरी की 'भाग्यवती'—1870 के दशक में रचित इन तीनों कथा-पोथियों का हिन्दी उपन्यासों के विकास में वही स्थान माना जायेगा, जो अंग्रेजी साहित्य में 'नावेलों' के विकास में इटालियन 'नोवेला' (नवल कथा) का है। इनमें नई उपन्यास विधा के उदय के बीज मिलते हैं। उपन्यासों की जो विशेषता उन्हें पुराने ढंग की कथा पुस्तकों से अलग करती है वह है उनकी कथावस्तु में स्वाभाविकता। उनमें प्रतिदिन के जीवन को चित्रित किया गया है। इन तीनों कथा पुस्तकों का महत्त्व केवल इस बात में नहीं है कि 1870 के दशक में हमारे समाज में जिस नवजागरण का सूत्रपात हुआ था तथा नये शहरी मध्यवर्ग का क्रमिक विकास हुआ, उसके कुछ दुर्लभ चित्र इसमें मिलते हैं वरन् इस बात में भी है कि हिन्दी उपन्यासों के शिल्प का विकास हमारे यहाँ कि परम्परागत कथा-पुस्तकों से जिस रीति से हुआ, इस बारे में मूल्यवान तथ्य सामने आते हैं। हिन्दी उपन्यास शिल्प के उदय के चिन्ह इसमें खोजे जा सकते हैं। आरम्भिक हिन्दी उपन्यासों के भाषा प्रयोग का अध्ययन करने की दृष्टि से भी इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार मानने में भी मतभेद है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु के 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को 'सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास' बतलाया है, परन्तु यह मौलिक रचना नहीं है 'मराठी से अनुवाद है' [2] अनुवाद भी भारतेन्दु जी का स्वयं नही है। इस प्रकार 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा के प्रमाण पर भारतेन्दु को प्रथम उपन्यासकार नहीं माना जा सकता। उन्होंने स्वयं एक उपन्यास 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' लिखना शुरू किया था, जिसमें उन्होंने जैसे 'परीक्षा गुरु' की सांकेतिक भूमिका ही प्रस्तुत कर दी है। इसे प्रथम उपन्यास नहीं माना जा सकता इसके दो कारण दिखाई देते हैं—

(1) इसका केवल एक 'खेल' ही लिखा गया था। यदि यह रचनापूर्ण हो गई होती तो आलोचकों का ध्यान इसकी ओर अवश्य जाता।

(2) भारतेन्दु ने इसको 'कहानी' की संज्ञा दी है, 'उपन्यास' नहीं, इसलिए विद्वान इसको कहानी समझकर छोड़ बैठते हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास —आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 415
2. विजय शंकर मल्ल : उदय काल प्रेमचन्द्र के आगमन तक (आलोचना उपन्यास अंक) पृष्ठ 65

जो भी हो, कला की दृष्टि से यह कहानी अवश्य ही 'उपन्यास' पद की अधिकारिणी है, और इसके आधार पर भारतेन्दु अन्य गद्य रूपों के समान उपन्यास के भी जन्मदाता माने जाने योग्य हैं।

परीक्षागुरु को सभी आलोचकों ने किसी न किसी रूप से हिन्दी का प्रथम, अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास माना है। इसलिए अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का प्रथम युग श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' (सन् 1882 ई०) से प्रेमचन्द के आगमन तक माना जा सकता है। प्रेमचन्द के दो प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' उनसे पूर्व की प्रवृत्तियों से भरे हुए हैं उनको संक्रान्तिकालीन माना जा सकता है युग प्रवर्तक नहीं। परन्तु 'सेवासदन' का प्रकाशन हिन्दी-जगत् की एक विशिष्ट घटना है, इस उपन्यास में नवीन युग की स्पष्ट सूचना मिल जाती है। जिस प्रवृत्ति का 'सेवासदन' में उपक्रम दिखाई पड़ता है वही प्रेमचन्द के जीवनपर्यन्त 'मंगल सूत्र' के प्रकाशन (1936) तक उसी प्रकार प्रवाहमान है। प्रेमचन्द के जीवनकाल में ही उनसे भिन्न प्रवृत्ति ने पूरी तरह ढाँचा ही बदल दिया। इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास की तीन धारायें हैं—

(1) पूर्व प्रेमचन्द युग (1882 ई०-1918 ई०)

(2) प्रेमचन्द युग (1918 ई०-1936 ई०)

(3) स्वतंत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग (1936 ई०-1947 ई० तक)

(i) पूर्व प्रेमचन्द युग

बंगाल के समान हिन्दी में भी उपन्यास का सूत्रपात समाज की आलोचना के रूप में हुआ था। परन्तु जैसे-जैसे इसकी लोकप्रियता बढ़ती गई वैसे-वैसे इसमें मनोरंजन का समावेश अधिक होता गया। कुछ उपन्यासकारों ने मनोरंजन को सामाजिक चित्रण से अधिक महत्त्व दिया, जैसे देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी। 'जरा चटपटी-चुलबुली नायिका हो, सुन्दर सलोना नायक हो, कुटनियों का कूट, ऐयारों की ऐयारी, माशूक-आशिक के चौचले हों, तिलस्म की पेचदार कथा हो, तब उपन्यास की बहार होती है।' [1] कुछ लेखक [2] मनोरंजन की अधिक परवाह न करके सामाजिक चित्रों पर ही ध्यान केन्द्रित करते थे; भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रद्धाराम फुल्लौरी, श्री निवासदास आदि से ऐसी ही परम्परा चलती है जिसका दूसरा छोर 'राम लाल' उपन्यास के लेखक मन्नन द्विवेदी हैं। इस प्रकार उस काल का उपन्यास शुद्ध कला-कृति नहीं है, उसमें उपदेश और मनोरंजन [3] का भिन्न-भिन्न अनुपातों में मिश्रण हो गया है। इस युग में जितने लेखक साहित्य-सृष्टि के उद्देश्य से लिखते थे उनसे बहुत अधिक लेखक व्यावसायिक दृष्टिकोण से। फलतः लेखक से अधिक महत्त्व कहीं-कहीं प्रकाशक का दृष्टिगत होता है। उपन्यास की सफलता पाठकों को आकृष्ट करना और प्रतियों के हाथों-हाथ बिक जाने मात्र से मानी जाती थी। यही उन उपन्यासों की आलोचना भी है। 'पुस्तक का मूल्य, पुस्तक के पन्ने, छपाई और चित्र तथा मन पर पुस्तक का प्रभाव—इन चार गुणों से उसकी सफलता का प्रतिमान आंका जाता था। कुछ आलोचनामय विज्ञापन द्रष्टव्य है—

1. इसमें 'राजकुमारी' का रंगीन चित्र तो ऐसे दिया गया है कि वैसा सुन्दर चित्र बाजार में चार आने में भी न मिलेगा। (राजकुमारी)

---

1. ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने 'स्वर्णमयी का जैसी करनी वैसी भरनी' उपन्यास में उस काल की सामान्य कला का वर्णन किया है। (डॉ० श्रीकृष्ण लाल द्वारा 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' की भूमिका से
2. मानव चरित्र को उदार और उन्नत बनाने वाले वास्तविक चरित्र का चित्रण करने वाले, और शिक्षितों को कर्त्तव्यपथ पर आरूढ़ करने वाले उपन्यासों की हिन्दी में बहुत ही कमी है। (प्रतिमा सन् 1913)
3. हिन्दी साहित्य में उपन्यास के प्रायः दो ही उद्देश्य समझे जाते हैं। एक तो मनोरजन करना और दूसरे कोई उच्च भाव या आदर्श प्रदर्शित करना। (लालचीन की भूमिका)

2. इसके पढ़ने में कभी तो आँखों से आँसू बहने लगते हैं, कभी आनन्द की लहरें आती हैं और कभी हँसते-हँसते पेट फटने लगता है। (कुसुमकुमारी)
3. इसका आकार 'डिमाई आठ पेजी' पाँच फार्म अर्थात् 40 पृष्ठ है। ('उपन्यास'—मासिक)
4. मैंने इस उपन्यास को प्रशंसा प्राप्त करने अथवा रुपया बटोरने की स्पृहा से नहीं लिखा है वरन् देश सेवा की हार्दिक इच्छा मन में रखते हुए इसको प्रत्येक धर्मालंकार से विभूषित कर....। ('पतिव्रता विपुला' सन् 1919)
5. यों तो अब तक सैकड़ों उपन्यास छप चुके हैं जिनसे मनोरंजन या ऐतिहासिक बातें जानने के सिवा और कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, किन्तु हमें आशा है कि इस उपन्यास से मनुष्य जाति मात्र का उपकार होगा। ('चाची')
6. जब घटनापूर्ण, अश्लीलतामय, चरित्रनाशी, रशीली कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते आप लोगों का जी ऊब जाये तब आप लोग इसे अपने हाथ में लीजिएगा और देखिएगा कि आप लोगों के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है नहीं....। (सौन्दर्योपासक)

स्पष्ट है कि उपन्यासकारों का पाठक से निकट सम्पर्क रहता था अर्थात् उपन्यास लिखते-लिखते वे पाठक से बात करते जाते थे और अपनी कला से उसे ऐसी चीजें दिखाते थे जिनसे उनका मन लगा रहे। यह शैली उस युग की नाट्यप्रियता की देन है। 'वस्तुत: उपन्यासकार उस सूत्रधार के समान था जो पाठकों के परितोष से ही अपने उपन्यास-विज्ञान को सफल मानता है। पाठकों का ध्यान रखकर लिखना यदि लेखक का गुण है तो प्रेमचन्द पूर्व उपन्यास में यह विशेष रूप से दर्शनीय है।'[1] प्रेमचन्द पूर्व युग 'रीतिकाल', 'पारसी रंगमंच', 'उर्दू शायरी' और 'संस्कृत साहित्य' की प्रवृत्तियों से घिरे रहने के कारण इनके प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता था। 'रीतिकाल' से सजावट-प्रियता, 'रंगमंच' से कथोपकथनों में चुस्ती, शायरी से रंगीनी, और संस्कृत से वर्णनप्रियता इस काल के उपन्यासों में न्यूनाधिक मात्रा में व्याप्त हो गया। इस उपन्यास साहित्य के तीन प्रधान सहायक तत्त्व—काव्य, नाटक, अखबार—हैं; काव्य ने रसिकता, नाटकों ने पाठकों का सामीप्य और अखबारों ने उपन्यास को सत्य घटनाओं का आधार दिया।

इस युग के उपन्यासकारों की सबसे बड़ी कमजोरी अपने दृष्टिकोण का अभाव है। फलत: कला और उद्देश्य दोनों में से किसी पर भी लेखक के व्यक्तित्त्व की छाप नहीं मिलती। यह युग अनुवाद और अनुकरण का था। दूसरी रचनाओं जैसे इतिहास, समाचार पत्र, नाटक अथवा उपन्यास से संकेत लेकर लेखक उपन्यास लिख डालते थे, क्योंकि अद्भुत कल्पना प्रवणता से वे ओत-प्रोत थे। कुछ उपन्यासकारों ने सच्ची घटनाओं के आधार पर कथानक निर्माण किया तो कुछ लेखकों ने सुनी सुनाई बातों के आधार पर। परन्तु प्रत्येक लेखक की यह हार्दिक कामना थी उसकी कल्पना पर विश्वास किया जाये; अंग्रेजी के डेफो की विश्वास जमाने वाली कला हिन्दी के इन उपन्यासकारों में भी दिखाई देती है। वे भूमिका में यह घोषणा कर देते थे कि उनकी कृति का आधार एक सच्ची घटना है, व्यक्तियों और स्थानों के नामों के अतिरिक्त सारी बातें सच्ची हैं।

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जो उपन्यास दिखाई देते हैं, वे युगीन सन्दर्भ में अविकसित और असफल भले ही मान लिये जायें, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है। वे हिन्दी साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी नहीं है, तत्कालीन जनता के जीवन का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब भी हैं। सामान्य जनमानस की मनोविज्ञान जितना इन उपन्यासों में दिखाई देता है, वह उल्लेखनीय है क्योंकि उनका निर्माण ही जनता के मनोरंजन के लिए हुआ था।

---

1. प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास —के० प्रकाश, पृष्ठ 74

स्पष्ट है कि प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य में विविध प्रयोगों का बोलबाला था। उपन्यास का कोई प्रौढ़ व प्रतिमानित रूप निर्धारित न होने के कारण, हिन्दी के उपन्यासकार रचना सामग्री व रचनाशिल्प की दृष्टि से नित नये-नये प्रयोग करने में जुटे हुए थे। तत्कालीन बंगला और अंग्रेजी उपन्यासों की तुलना में हिन्दी में समृद्ध उपन्यास साहित्य का अभाव था, और यह अभाव हिन्दी के लेखकों को खटकने लगा था। इस अभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेकों प्रयोग किये, परिणामतः शिक्षाप्रद, ऐतिहासिक, तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों की रचना होने लगी। 'उपन्यास रचना का कोई साहित्यिक लक्ष्य निर्धारित नहीं हुआ था, इस कारण उपन्यास की शिल्पविधि के सभी तत्त्व हमें अविकसित एवं अनगढ़ अवस्था में दिखाई देते हैं। उपन्यास की रचना-सामग्री और उद्देश्य, कथानक और चरित्र-चित्रण अथवा भाषा और वातावरण सृजन, सभी में हमें अनगढ़ता और प्रयोगात्मकता तुरन्त दिखाई दे जाती है। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उपन्यास-रचना का मानव जीवन के साथ कोई गहरा संबंध स्थापित न हुआ था। इसलिए मानव जीवन से प्राप्त होने वाले पोषक तत्त्वों के अभाव में, उपन्यास-शिल्प अनुवाद और अनुकरण की घेरेबन्दी में बँधा रहकर अनगढ़ता और प्रयोगात्मकता की अवस्था पार न कर सका।' [1] 'प्रबन्ध-कला का टकसालीपन या उपन्यास कला की विशेषताएँ तो नहीं मिलतीं, किन्तु वे सुन्दर शिक्षाओं से भरे हुए हैं।' [2]

पूर्व प्रेमचन्द युगीन उपन्यास मुख्यतः दो प्रवृत्तियों से परिचालित हैं—एक शुद्ध मनोरंजन की प्रवृत्ति है तो दूसरी सामाजिक जागरण की। ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी एवं चित्र-विचित्र रहस्यमय वासनापरक प्रणय चित्रों से युक्त दोनों ही प्रकार के उपन्यास मनोरंजन की प्रवृत्ति से ही परिचालित थे। सामाजिक जागरण की प्रेरणा से परिचालित उपन्यास उपदेशप्रधान और सुधारवादी थे। इनमें से कुछ सनातनधर्म की प्राचीन परम्परा के पोषण में प्रवृत्त थे और कुछ नवीन बौद्धिक जागरण का स्वागत करते हुए नये सुधारों का समर्थन कर रहे थे। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास की एक क्षीण धारा भी दिखाई देती है; किन्तु इन ऐतिहासिक उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति इतिहास से हटकर प्रणय कथाओं, विलास लीलाओं, रहस्यमय प्रसंगों तथा कौतूहलवर्द्धक घटनाचक्रों की कल्पना में लीन हो जाती है। इस प्रकार तीन धारायें हैं—

(क) सामाजिक—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, भाव प्रधान

(ख) ऐतिहासिक—शुद्ध ऐतिहासिक, ऐतिहासिक रोमांस

(ग) घटना बहुल शुद्ध मनोरंजक—ऐयारी-तिलस्मी, जासूसी, साहसिक एवं चित्र-विचित्र घटनात्मक

(क) सामाजिक— 1876 में उपन्यासों के स्वाद से वंचित हिन्दी पाठकों को उसका रसास्वादन कराने के लिए भारतेन्दु ने स्वयं एक उपन्यास धारावाहिक रूप से लिखना शुरू किया, किन्तु उसके दो ही पन्ने लिख पाये। उसकी पहली और अंतिम किश्त कविवचन सुधा, भाग 8, संख्या 22, वैशाख कृष्ण 4, संवत 1933 में छपी। इसे उन्होंने आत्मकथात्मक शैली में लिखा था जो उस समय एक नयी चीज थी। उपन्यास की थीम का संकेत—

ज़मीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या
बदलता है रंग आसमाँ कैसे - कैसे

इन दो पंक्तियों में उन्होंने कर दिया था। उन्होंने उपन्यास का शीर्षक रखा था—एक 'कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती' ऐसा प्रतीत होता है कि वह संसार को एक नाटकशाला अथवा जीवन का एक खेल मानकर उपन्यास में जीवन और

---

1. हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास, श्रीमती ओम शुक्ल, पृष्ठ 63
2. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 207

जगत् के नित परिवर्तनशील चित्र-विचित्र रंग रूपायित करना चाहते थे। दो पन्नों में उपन्यास का प्रथम परिच्छेद भी पूरा नहीं हो सका था, किन्तु उसका उठान इतना हृदयग्राही था कि कल्पना की जा सकती है कि इसी उठान के अनुरूप यदि उपन्यास पूरा लिखा गया होता तो हिन्दी उपन्यास साहित्य की वह एक महत्त्वपूर्ण कृति होती। इस उपन्यास के कथानायक से उन्होंने अपने को तदाकार कर दिया था। उपन्यास का आरम्भ आत्मचरित्र के ढंग से इस प्रकार किया था :

> ''हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए, जी बहलाने से काम है। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है। सं० 1930 में मैं जब तेइस बरस का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था....।''

राधाकृष्ण दास ने भारतेन्दु के जीवन चरित्र में लिखा है, वह पूरी तरह औचित्यपूर्ण है, ''उपन्यास की ओर पहिले इनका ध्यान कम था।....यदि भारतेन्दु जी कुछ दिन और भी जीवित रहते तो उपन्यासों से भाषा के भंडार को भर देते क्योंकि अब उनकी रुचि इस ओर फिरी थी।''[1] शिव नंदन सहाय ने भी उनके जीवन चरित्र में लिखा है—''हिन्दी में उपन्यास लिखने के लिए लोगों के हृदय में अंकुर जमाने वाले यही हुए हैं।''[2]

भारतेन्दु जी की प्रेरणा से श्रीमती मल्लिका देवी ने भी तीन उपन्यासों का अनुवाद किया जिनका साहित्यिक महत्त्व इतना ही है कि वे भारतेन्दु की प्रेरणा से रचे गये। 'कुलीन कन्या' अथवा 'चन्द्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश' शीर्षक से एक छोटी आख्यायिका बंगभाषा का आशय लेकर हिन्दी में प्रकाशित की गयी। राधाकृष्ण दास ने लिखा है कि—'चन्द्र प्रभा और पूर्ण प्रकाश' को अनुवाद करके स्वयं शुद्ध किया था, किन्तु इसमें भारतेन्दु का संशोधन इतना ही प्रतीत होता है कि उन्होंने उसके प्रत्येक स्तवक (अध्याय) के शीर्ष पर उसके साथ कथा-प्रसंग का संक्षिप्त निर्देश करने वाले नंददास, बिहारी तथा गोस्वामी तुलसीदास के काव्य से उद्धरण अथवा संस्कृत श्लोक लिख दिये थे। दूसरी रचना 'राधा रानी' एवं तीसरी 'सौन्दर्यमयी' है। कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य में नाटकादि अनेक नई-नई साहित्यविधाओं का श्री गणेश करने के साथ-साथ उपन्यास विधा का भी बीजारोपण करने का श्रेय भारतेन्दु जी को ही है।

परीक्षागुरु के रूप में हिन्दी उपन्यास का उदय इस तथ्य का प्रतीक है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ ही सामाजिक यथार्थ से होता है। परीक्षा गुरु का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसमें वे अपने निजी अनुभवों और सम्पर्क में आये व्यक्तियों का ही अंकन करके उपन्यास की अन्तर्वस्तु से अपने आत्मीय एवं प्रगाढ़ परिचय का बोध जगाते हैं। इसीलिए लाला श्रीनिवास दास 'अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक' कहा है। उनके शब्द हैं—

> ''अपनी भाषा में अब तक वार्तारूपी जो पुस्तकें लिखी गयी हैं उनमें अक्सर नायक-नायिका वगैरह का हाल ठेठ से सिलसिलेवार लिखा गया है ''जैसे कोई राजा, बादशह, सेठ साहूकार का लड़का था। उसके मन में इस बात से रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला'' ऐसा सिलसिला कुछ भी नहीं मालूम होता। लाला मदन मोहन एक अंग्रेजी सौदागर की दुकान में अस्बाब देख रहे हैं। लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भूदयाल उनके साथ हैं। इनमें मदनमोहन कौन, ब्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शिम्भूदयाल कौन हैं। इनका स्वभाव कैसा है? परस्पर सम्बन्ध कैसा है? हर

---

1. पृष्ठ 81
2. पृष्ठ 244

एक की हालत क्या है? यहाँ इस समय किसलिए इकट्ठे हुए हैं? ये बातें पहले से कुछ नहीं बतायी गयीं। हाँ, पढ़ने वाले धैर्य से सब पुस्तक पढ़ लेंगें, तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायेगा और आदि से अंत तक सब मेल मिल जायेगा।''[1]

स्पष्ट है कि इस नाटकीय आरम्भ को ही लाला श्रीनिवास दास ने 'नई चाल' कहा है। रचना की इस नई चाल की प्रेरणा उन्हें अंग्रेजी उपन्यास से मिली, जिसे उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है—

> ''मुझको महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरह फारसी के साथ ही स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कपूर आदि के पुराने लेखों और स्त्री बोध आदि के वर्तमान रिसालो सै बड़ी सहायता मिली है।''[2]

इस उपन्यास में दिल्ली के एक कल्पित रईस लाला मदनमोहन का स्वाभाविक चित्र है, जिनका जीवन झूठे खुशामदियों के बीच भोग-विलास में व्यतीत होता है। उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर हैं, जिन्हें लेखक ने भारतीय नवजागरण के एक प्रतिनिधि चरित्र के रूप में देखा है। उसमें ज्ञान की अकूत पिपासा है। शास्त्र एवं आचार ग्रंथों का उसने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन ही नहीं किया है, वरन् उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास किया है। विदेशों के अनेक दार्शनिकों एवं चिन्तकों का अध्ययन भी उसने किया है और इस समस्त ज्ञान का उपयोग वह अपने और दूसरे के जीवन को सार्थक बनाने के लिए करता है। चापलूसों के चक्कर में फँसे अपने मित्र मदनमोहन को सही रास्ते पर लाता है। लेखक का कहना है ''जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती, वह एक बार की परीक्षा से मन में बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरु मानते हैं।''

परीक्षा गुरु का महत्त्व यदि एक ओर बहुत निजी और वास्तविक लगने वाले घटना प्रसंगों के बीच कथा के विकास की दृष्टि से है तो दूसरी ओर मानवीय व्यवहार की विविधता और विस्तार में भी है। अनेक जातियों, वर्गों और धर्मों के पात्रों के माध्यम से इसकी कथा बुनी गई है। वकील, व्यापारी, दलाल, हाकिम, वेश्यायें, ठेकेदार, सम्पादक आदि विभिन्न पेशे एवं व्यवसायों के लोगों से बसा यह एक वास्तविक समाज है। इसी विस्तृत समाज के बीच लेखक अच्छे-बुरे की पहचान पर बल देता है। डॉ० विजयशंकर मल्ल ने परीक्षा गुरु के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

> ''परीक्षा गुरु अपने समकालीन मध्यवर्गीय समाज और देश-दशा का विस्तृत परिचय देता है। एक नये मध्यवर्गीय व्यापारी की स्थिति का चित्रण करने वाले इस उपन्यास में इस वर्ग की पुरानी और नई पीढ़ी का वैषम्य सांकेतिक ढंग से अच्छे रूप में दिखलाया गया है। नायक मदनमोहन नवशिक्षित मध्यम वर्ग की कमजोरियों का मूर्तिमान रूप है। झूठी सम्मान भावना, अकर्मण्यता, अंग्रेजों की नकल आदि में वह एकदम मध्यवर्गीय कमजोरियों का पूंजीभूत रूप है।''

स्पष्ट है कि परीक्षा गुरु के शिल्प पर विक्टोरियन युग के अंग्रेजी उपन्यासों की छाप दिखाई पड़ती है। वह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें आधुनिक उपन्यास विधा के एक मुख्य तत्त्व—चरित्र-चित्रण के दर्शन होते हैं। लाला श्रीनिवास दास ने अपने युग के बहुत से अंग्रेजी उपन्यासों की भाँति अपने उपन्यास का आरम्भ घटना से करने के बाद पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसने लाला मदन मोहन अथवा ब्रजकिशोर जैसे मुख्य पात्रों के चरित्र-चित्रण पर जितना

---

1. परीक्षा गुरु की भूमिका से
2. वही

ध्यान दिया है उतना ही सहायक पात्रों के चरित्र-चित्रण पर। 'नि:सहाय हिन्दू' की भाँति परीक्षा गुरु के लेखक ने भी मुस्लिम वर्ग के चरित्र को भी सम्मिलित करके वृहत फलक पर समाज का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त परीक्षागुरु के शिल्प की दूसरी विशेषता उसके प्लाट की बंदिश है। उसमें लेखक ने अच्छे कौशल का परिचय दिया है। उसके प्लाट की बंदिश नये चाल के उपन्यासों जैसी है। इसका घटनाकाल केवल पाँच दिन का है। परीक्षागुरु की कथावस्तु का विस्तार लेखक ने बहुत कुछ नाटक की कथावस्तु के ढंग पर किया है। पहले प्रकरण में ही पाठकों को सूचना दे दी गई है कि लाल मदनमोहन दिवालियाहोते जा रहे हैं, हालाँकि स्वयं लाला साहब को अभी अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं था। दूसरे दिन की कथा में उनकी एक और मुख्य चारित्रिक कमजोरी—प्रबंध करने की रीति न जानना उद्‌घाटित की गई है। साथ ही लाला हर किशोर का रुष्ट होने पर अपने बाकी रुपयों का तकाजा करना दिखाकर उस घटनाक्रम के मूल का बीजारोपण कर दिया गया है जो लाला साहब के सर्वनाश का कारण बनता है। तीसरे दिन के घटनाक्रम में कथावस्तु तेजी से चरमबिन्दु की ओर बढ़ने लगती है। लाला साहब प्रात: काल जिस समय कुतुब जाने की तैयारी कर रहे थे, उसी समय लाला हरकिशोर की वजह से लेनदारों की भीड़ उनके दरवाजे पर इकट्‌ठा हो जाती है और उनके हाथ पैर फूल जाते हैं। चौथे दिन के घटनाक्रम में दिखाया गया है कि लाला साहब की दशा बदलते ही उनके स्वार्थी मित्रों का व्यवहार किस प्रकार बदल जाता है। पाँचवे दिन कथावस्तु अपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाती है। लाला हरकिशोर अदालत में दर्खास्त देकर लाला मदनमोहन के खिलाफ वारंट जारी करवाकर उन्हें हवालात भिजवा देते हैं। संकटकाल में उनके दो ही सच्चे शुभचिंतक सिद्ध होते हैं—एक तो उनकी पतिब्रता स्त्री और दूसरे उनके मित्र लाला ब्रजकिशोर। लाला ब्रजकिशोर अपनी बुद्धिमता और नीतिमत्ता का परिचय देते हुए लाला मदनमोहन की स्त्री के गहनों को बचा लेते हैं और लेनदारों से तोड़ करके उन्हें संकट से उबारते हैं। उपन्यास का अंत उस समय के प्रचलित उपन्यासों के ढंग पर उपदेशात्मक अंदाज में किया है।

परीक्षागुरु की भाषा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी है, परन्तु शब्द चयन में ही, बनावट में नहीं। बनावट को देखते हुए तो वह 'दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल' की भाषा है। परीक्षागुरु की शैली नवीन है, जिस पर अंग्रेजी का प्रभाव अधिक है। लेखक स्वयं पृष्ठभूमि में रहकर पात्रों के पारस्परिक कार्य एवं कथोपकथन द्वारा कथा एवं चरित्रों का विकास दिखाता जाता है। उसकी यह शैली नाटकीय है, यद्यपि कि उसने नाटक की 'रीति' से इस 'नवीन रीति' का भेद किया है फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि उस काल में नाटक का शासन था इसलिए समस्त उपन्यास साहित्य इससे प्रभावित है; 'परीक्षागुरु' इसका अपवाद नहीं है।

हम यह कह सकते हैं कि श्रीनिवास दास ने परीक्षा गुरु के शिल्प की प्रेरणा भले ही उन्नीसवी शताब्दी के अंग्रेजी उपन्यासों से ली हो, किन्तु उसका विकास उन्होंने मौलिक ढंग से किया है। उसकी मूल आत्मा भारतीय है। लेखक ने पंचतंत्र और हितोपदेश की परम्परा पर चलते हुए अपने उपन्यास को उपदेश प्रधान बनाने का सचेतन प्रयास किया है। 'आलालेर घरेर दुलाल' और 'एक कहानी : कुछ आपबीती और कुछ जगबीती' से तुलना करने पर 'परीक्षागुरु' अधिक कलापूर्ण एवं दृष्टिकोण में अधिक व्यापक है। टेकचन्द ठाकुर ने नायक मतिलाल के व्याज से धनियों के लाड़-प्यार और कुशिक्षा का वर्णन करके उनकी संतान को उन्मार्ग-गामिनी दिखाया है। सामयिक जीवन के चित्रण की दृष्टि से 'अलाल' अत्यन्त मनोरंजक, सफल और उपयोगी है; फिर भी उसमें लेखक की गम्भीरता अथवा उसकी सूक्ष्म दृष्टि उतनी प्रतिबिम्बित नहीं होती। भारतेन्दु की कहानी अधूरी है, उसमें धनी किशोर का चित्र है जो खुशामदियों के कारण अपनी धन सम्पत्ति को गंवा कर

बदबाद हो जाता है। श्रीनिवासदास ने न तो लाड़ प्यार के दोष दिखाये हैं और न कुशिक्षा के, उनकी दृष्टि लगभग भारतेन्दु के समान है। वे भिन्न और अभिन्न की पहचान, प्रामाकिता और सावधानी को सबसे उपयोगी नीति समझते हैं, परीक्षागुरु का समस्त वातावरण युवंकों के लिए व्यवहार-नीति की शिक्षा में अत्यन्त उपयोगी है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य तथा हिन्दी उपन्यास शिल्प के विकास का अध्ययन करने के लिए परीक्षागुरु का महत्त्व इस बात में है कि हिन्दी उपन्यास यात्रा जिस बिन्दु से आरम्भ हुई वह उसका दिग्दर्शन कराता है। उसे सीधे प्रेमचन्द के उपन्यासों की परंपरा से जोड़ा जा सकता है। यथार्थवादी होते हुए भी सामाजिक सोद्देश्यता को आँखों से ओझल नहीं होने दिया गया है। कुल मिलाकर, परीक्षागुरु हिन्दी में नई चाल का सर्वप्रथम उपन्यास कहा जायेगा।

इस काल के सामाजिक उपन्यासों पर यदि संरचनात्मक दृष्टि डालें, तो एक ओर सनातन धर्म और आर्य समाज के संघर्ष को अंकित किया गया है, तो वहीं पर अधिकतर उपन्यासों में आर्य समाज की प्रगतिशील भूमिका के प्रभाव में स्त्री की शिक्षा, विधवाओं की नियति और पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति के दुष्प्रभावों को उद्घाटित किया गया है। पं० गौरीदत्त ने 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है—

> ''स्त्रियों के पढ़ने-पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं, अपने-अपने ढंग से वे सब अच्छी होने पर भी उसने इसे भिन्न और नये रंग ढंग से लिखा है।''[1]

लेखक ने यह दिखाया है कि एक ही विषय पर पढ़ी लिखी एवं बेपढ़ी स्त्री की सोच क्या है। इसी प्रकार 'भाग्यवती' की भूमिका में श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।[2] को अपने उपन्यास रचना का मूल उद्देश्य माना है। एक शिक्षित एवं गुणवती स्त्री अपने मायके एवं ससुराल दोनों ही परिवारों में कैसे उजाला कर सकती है, भाग्यवती के चरित्र एवं कार्य व्यापार द्वारा लेखक इस तथ्य पर बल देता है। अपनी शिक्षा के कारण ही वह अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, पाखण्ड एवं अंधविश्वासों से स्वयं बचती है और दूसरों को भी बचाती है। 'भाग्यवती' में एक दोहे के माध्यम से लेखक इसे स्पष्ट करते हैं—

> विद्या वन्धु विदेश में, विद्या विपत सहाय।
> जो नारी विद्यावती, सो कैसे दु:खपाय॥
> राजभाग सुखरूप धन, विपत समय तज जाँह।
> इक विद्या विपता समय, तजे न नर की बाँह॥[3]

बालकृष्ण भट्ट अपने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' नामक उपन्यासों में ब्रिटिश प्रभाव के प्रतिपक्ष के रूप में भारतीय आदर्शों और परम्परा को प्रतिष्ठित करते दिखाई देते हैं। 'नूतन ब्रह्मचारी' में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विट्ठलराव के पुत्र ब्रह्मचारी विनायक के सरल व्यवहार के प्रभाव से डाकुओं के सरदार का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है। यह विद्यार्थियों को चारित्रिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। लेखक के अनुसार, ''शिक्षा विभाग में जिस तरह की पाठ्य पुस्तकें प्रचलित हैं उन्हें थोड़ा ही पढ़ने से मालूम हो सकता है कि बालकों पर इसका क्या परिणाम होगा। हमारी इस पुस्तक

---

1. 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका से
2. 'भाग्यवती' की भूमिका से
3. भाग्यवती से

के पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायेगा कि बालकों के पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षाप्रद है और शिक्षा विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धि वाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है।''[1]

परीक्षागुरु (सन् 1882) और नूतन ब्रह्मचारी (सन् 1886) के प्रकाशनकाल में केवल चार वर्ष का अन्तर है तथापि व्यक्तित्व परिस्थिति और दृष्टिभेद से इन दो साहित्यिक उपन्यासों में पर्याप्त अन्तर है। 'नूतन ब्रह्मचारी' की कथावस्तु गुम्फन-शून्य एवं सरल है। एक कथामात्र से कथानक का निर्माण करके लेखक सुकुमार मति बालकों के प्रति संवेदनशील दिखलाई पड़ता है। कथानक में केवल एक कहानी है और झाकियाँ—एक विनायक के यज्ञोपवीत की और दूसरी 15 वर्ष बाद सरदार की मृत्यु की। बालोपयोगी होने के कारण कथानक सरल, सहज एवं स्वच्छ है। वास्तव में कथा से अधिक तो इस उपन्यास में वर्णन है। भट्ट जी ने उत्तर प्रदेश के स्थान पर दक्षिण के नासिक प्रान्त को घटनास्थल बनाकर हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद की सूचना दे दी है। कथा सर्वत: काल्पनिक है। पिंडारियों के वर्णन से ही कथा के ऐतिहासिक काल पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। ऐतिहासिक वायुमण्डल से स्वतंत्र होने के कारण ही इसे सामाजिक उपन्यास के वर्ग में स्थान मिला।

संख्या की दृष्टि से उपन्यास में 6 पात्र हैं—तीन ब्राह्मण और तीन डाकू, परन्तु विनायक और सरदार के अतिरिक्त शेष चार पात्रों का कोई विशेष चित्रण नहीं किया गया है। विट्ठलराव और उनकी पत्नी राधाबाई आदर्श ब्राह्मण दम्पत्ति हैं, ''ये दोनों पति-पत्नी एक मन दो तन होते हुए 'मम व्रते ये हृदयं दधामि मम चित्तं मनुचितं तेस्तु' पाणिग्रहण के समय की इस ऋचा को चरितार्थ कर रहे थे।''[2] इसी प्रकार दोनों डाकू सामान्य साहसिक[3] हैं : 'दया और प्यार अथवा मित्र भाव तो उनसे कोसों दूर थे और यही मन में थी कि वे दोनों साक्षात् वृतान्त के सहोदर भाई हैं अथवा पिण्डीभूत क्रूरता और निठुराई के अंशावतार हैं।' विनायक और सरदार दोनों का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। लेखकीय दृष्टि में विनायक मुख्य पात्र है, उपन्यास का नामकरण उसी के आधार पर है, उसका भोला-भाला जीवन भी विशेष अंकन का विषय है एवं आद्यन्त वह उपन्यास में व्याप्त है। सरदार का व्यक्तित्त्व दुर्बल हैं, उसके अच्छे संस्कार थे, परिस्थितियों ने उससे कुकर्म कराये, सुसंगति पाकर फिर उसके सुसंस्कार जागे।

'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास कथा प्रधान होने के कारण अद्भुत वर्णनात्मकता लिये हुए है, परन्तु कथोपकथन अपेक्षाकृत कम है। लेखक ने कानन और यज्ञोपवीत-समापवर्तन का बड़ा भावनामय चित्र अंकित किया है। भट्टजी की भाषा न तो संस्कृतनिष्ठ है और न हिन्दुस्तानी। वैसवाड़ी का प्रभाव पूर्वकालिक क्रिया 'जाय कह देगी', 'खिलौने को पाय', 'दै-दिवाय बिदा किया', 'पांव की आहट पाय' आदि में और 'राजी न हुआ चाहते थे', 'आया ही चाहता था' आदि क्रियाओं में स्पष्ट है। खुशामदी, अपव्ययी, देश-दशा से उदासीन लोगों पर व्यंग्य कस कर भट्ट जी ने भारतेन्दु-परम्परा का निर्वाह किया है। दूसरे परिच्छेद में वे लिखते हैं कि 'जहाँ एकता है वहाँ यह कब संभव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके।' आर्य समाज और सनातन धर्म के झगड़े को न उठाकर लेखक महोदय ने ब्राह्मणत्व का प्राचीन आदर्श नूतन ब्रह्मचारियों के सम्मुख रखा है।

'नूतन ब्रह्मचारी' के पाठक सुकुमारमति छात्र-छात्राएँ हैं, परन्तु 'सौ अजान और एक सुजान' के पाठक युवक वर्ग हैं। प्रथम उपन्यास में लेखक की शैली बालोपयोगी, सरल एवं उपदेशमयी है, परन्तु इस उपन्यास में साहित्यिक छटा, नीति के

---

1 नूतन ब्रह्मचारी की भूमिका से
2. दूसरा परिच्छेद, पृष्ठ 23
3. पहला परिच्छेद, पृष्ठ 18

वचन, वर्णन की रम्यता, एवं कलात्मक सौन्दर्य पाठकों की प्रौढ़ता का संकेत देती है। 'सौ अजान और एक सुजान' पर परीक्षा गुरु का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उपन्यास में भिन्न घटना प्रसंग हैं, लेकिन उसका लक्ष्य और ढाँचा वही है। इसमें भी पं० चन्द्रशेखर नामक एक सदाचारी और विद्वान अध्यापक हैं जो सेठ हीराचंद के पुत्र रूपचन्द के असामयिक निधन के बाद उसके कुसंगत और दुर्गुणों में फँसे पुत्रों को सुमार्ग पर लाता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भट्ट जी को सफलता कम मिली। इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट नहीं है कि नायक पद किसको मिले। 'इसके पात्र वर्ग प्रतिनिधि एवं गुण दोषों की मूर्ति होने पर भी गहरे रंगों से अंकित नहीं किये गये हैं। उनकी रूपरेखा तो लेखक ने खींच दी है परन्तु रंग पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है; इसलिए दूर से उनका रूप धुंधला दिखलाई पड़ता है। कई बार पाठक की मसि बाहर फैलकर दूसरे पात्र पर भी कुछ धब्बे डाल देती है। चरित्र के विकास का तो प्रश्न ही नहीं आता।'[1] नूतन ब्रह्मचारी के समान इसमें भी कथोपकथन विरल हैं। भाषा सामान्यत: वैसवाड़ी प्रभाव से अंकित व्यावहारिक खड़ी बोली है। बुद्धू पांडे अफीम के झोंक में ऊँघता हुआ पूर्वी भाषा ही बोलता है। मुसलमान चरित्रों के पास बैठकर लेखक-महोदय उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। अंग्रेजी एवं संस्कृत के शब्द भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं।

श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक थी। भट्टजी के उपन्यास उस वर्ग में नहीं हैं। 'निश्चय ही इनका कथानक कल्पित, समकालीन और यथार्थ है, फिर भी लेखक का कवित्व उपन्यास कला पर हावी हो गया है।'[2] 'ये दोनों ही वर्णन-प्रधान उपन्यास हैं और किसी भी कलात्मक उपलब्धि की अपेक्षा काफी स्थूल ढंग से चरित्र-निर्माण को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते हैं।'[3]

वस्तु विन्यास की दृष्टि से मेहता लज्जाराम शर्मा वैचारिक स्तर पर सनातन हिन्दू दृष्टि के समर्थक उपन्यासकार हैं, जो समाज में तीव्र गति से विकसित अंग्रेजी सभ्यता और शिक्षा के दुष्प्रभावों को अंकित करके भारतीय संस्कृति और संस्कारों को प्रतिपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी धारणा है—

> ''जिन सुलेखकों को अपने उपन्यासों की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पड़े तो मेरी समझ में हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते हैं, क्योंकि लोगों ने ऐसे-ऐसे उपन्यासों की रचना द्वारा पाठकों की अरुचि छुटाकर पोथियाँ पढ़ने का चटरस उनके मन में पैदा कर दिया है।''[4]

मेहता जी मनोरंजन को साहित्य का सर्वोपरि प्रयोजन स्वीकार नहीं करते, अत: वे घटनावैचित्र्य की मोहिनी से भी प्रसन्न नहीं हैं। उनका विचार था कि 'हर्ष से कहा जा सकता है कि अब हिन्दी लेखकों की इस ओर प्रवृत्ति हुई है। अब चोरी और डकैती का जमाना चला गया। सौभाग्य है।'[5] स्पष्ट है कि 'घटना' को उपन्यास के तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए भी मेहता जी

---

1. प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास —के० प्रकाश, पृष्ठ 112
2 प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास —के० प्रकाश, पृष्ठ 113
3. हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश
4. 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेव', भूमिका से
5. 'विपित्ति की कसौटी', भूमिका से

ने, अपने समकालीन उपन्यासकारों के समान, उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया। इस युग के वे पहले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने घटना से उबरकर चरित्र-निर्माण की ओर संकेत किया—

"इसमें नित्य की अनेक घटनाओं का एक ही मनुष्य के चरित्र में संग्रह किया गया है।"[1]

प्रेमचन्द युग में आकर चरित्र को जो इतना महत्त्व प्राप्त हुआ तथा प्रेमचन्द ने उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' की संज्ञा दी—उस विचारधारा का अस्पष्ट एवं क्षीण मूल मेहता लज्जाराम शर्मा की विचारधारा में प्राप्त होता है। कथोपकथन में वे चरित्रानुसार भाषा के प्रयोग के समर्थक हैं, "आजकल उर्दू राजभाषा है और यही मुसलमानों में बोली जाती है, इस कारण राजकर्मचारियों और मुसलमान पात्रों की भाषा उर्दू रखी गई है।"[2]

मेहता लज्जाराम शर्मा ने अनेक उपन्यास लिखे हैं। 'धूर्त रसिकलाल में रसिकलाल नामक एक धूर्त व्यक्ति के मित्रघात और विश्वासघात की कहानी है। 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों को आमने-सामने रखकर पश्चिमी और भारतीय जीवन पद्धतियों की तुलनात्मक समीक्षा में प्रवृत्त होता है। 'आदर्श दम्पत्ति' में वे स्त्री की सामाजिक असुरक्षा को अंकित करते हैं। 'सुशीला विधवा' में भारतीय समाज में विधवा की दयनीय स्थिति का चित्रण है, जिसे चाहते हुए भी पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है। 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' भी अपने नाम के अनुरूप अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक बनमाली के बहुविध स्खलन और नैतिक विचलन को केन्द्र में रखकर अन्ततः अपनी पतिव्रता पत्नी द्वारा उसके सुधार की कहानी है। 'आदर्श हिन्दू' मेहता जी का सबसे वृहत्काय और प्रतिनिधि उपन्यास कहा जा सकता है। 'उन्होंने 'आपबीती' शीर्षक से अपनी जीवनी लिखी थी। यदि उसके साथ इसे रखकर देखें तो यह उनका आत्मकथात्मक उपन्यास दिखाई देता है। इसे उन्होंने अपनी पत्नी प्रेमकुँवरि के देहावसान के पश्चात् आबू प्रवास काल में लिखा था। इन्होंने इस उपन्यास के कथानायक पंडित प्रियानाथ से अपने को तथा कथानायिका प्रियंवदा को अपनी पत्नी से तदाकार कर दिया था। उपन्यास का आरम्भ आबू में पंडित प्रियानाथ और प्रियंवदा के प्रेम-सम्भाषण से किया गया है। अपनी ही भाँति प्रियानाथ और प्रियंवदा को संतानविहीन चित्रित किया है। अपनी इच्छापूर्ति के रूप में दिखाया है कि प्रियंवदा अंत में एक महात्मा के आशीर्वाद से पुत्रवती हो जाती है।

अपने पूर्ववर्ती अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इसमें अधिक कथा प्रवाह है। 'इसे उन्होंने स्वांतःसुखाय आत्माभिव्यक्ति के रूप में लिखा है। मुख्य पात्रों में अपनी आत्मा उड़ेल दी है और चरित्रों को जीवंत बना देने के बाद उनकी लेखनी जिस रीति से प्रवाहित होती रही उसी रीति से लिखते गये। इससे उनके इस उपन्यास की कथा में एक अकृत्रिम प्रवाह आ गया है। उनके अन्य उपन्यासों की भाँति इसकी कथा में भी कल्पना का मेल अवश्य है, और ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बहुत से पात्र लेखक के देखे-सुने चरित्रों के आधार पर गढ़े गये हैं।'[3]

उपन्यास की कथा की बुनावट एक यात्रा वृत्तान्त के रूप में है। इसमें एक आचारनिष्ठ, धर्मनिष्ठ, दृढ़ सनातन धर्मी आस्तिक संयुक्त हिन्दू परिवार के पारिवारिक जीवन का अंतरंग चित्रण है। कुटुम्ब में दो भाई प्रियानाथ (एम० ए०) तथा

---

1 'धूर्त रसिक लाल' भूमिका से

2. वही

3 प्रेमचन्द्र पूर्व के हिन्दी उपन्यास, —ज्ञानचंद जैन, पृष्ठ 228

कांतानाथ (बी०ए०) और दोनों की स्त्रियाँ हैं। प्रियानाथ की पत्नी 'प्रियंवदा' का चरित्र मन को छूने वाला है। पति-पत्नी का लोचनों की भाषा में एक-दूसरे से बातचीत करना अथवा दोनों का अपने हृदयगत भावों को मानसिक टेलीफोन के द्वारा एक-दूसरे तक पहुँचा देना—जैसे वर्णन जहाँ उपन्यास लेखक की मानव-चरित्र की सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति का परिचय देते हैं, वहीं यह भी प्रकट करते हैं कि इस उपन्यास के चरित्रों का सृजन करते समय उनकी कलम अपनी जीवन-स्मृतियों में आकंठ डूबी थी।' अपने छोटे भाई कांतानाथ की कर्कशा पत्नी 'सुखदा' का चित्रण प्रियंवदा के चरित्र को और पैना तथा तत्कालीन हिन्दू परिवारों के घरों का यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करने के लिए किया था।

उपन्यास में लगभग एक दर्जन ऐसे चरित्र हैं, जो मन पर छा जाते हैं। इसमें सबसे स्मरणीय चरित्र बूढ़े काछी भगवानदास का है। लेखक ने उसके रूप में उस काल के ग्रामीण समाज का एक सजीव चित्र खड़ा कर दिया है। उपन्यास में दिखाया गया है कि भगवानदास शूद्र होने पर भी अपने गाँव के ब्राह्मणों, राजपूतों, वैश्यों सबका 'बाबा' था। इस काल का हिन्दू समाज छुआछूत, ऊँची-नीची सैकड़ों जातियों में बंटे होने, उनमें आपस में खान-पान और रोटी-बेटी का व्यवहार न होने पर भी, एकता के सूत्र में बँधा था जो धार्मिक-सामाजिक कार्यों एवं जातीय त्योहारों में प्रकट होती थी। उपन्यास में यह भी चित्रित किया गया है कि उस काल के हिन्दू तीर्थ ठगो, उठाईगारों, जेबकतरों, गाय के पाँचवाँ पैर लगाकर नंदिकेश्वर के नाम से पुजापा चढ़ाने वाले धूर्तो, धर्मवंचकों, नराधम साधुओं, श्रद्धालु तीर्थयात्रियों की लूट-खसोट करने वले निरक्षर लंठाधिराज, पंडे-पुजारियों तथा तीर्थ गुरुओं के अड्डे बन गये थे। इन तीर्थों में भिखारियों तथा कोढ़ियों की भारी भीड़ देश की दुर्दशा का सच्चा चित्र प्रस्तुत करती थी।

पुस्तक की भाषा गम्भीर, सरल, किन्तु तत्सम शब्दों से युक्त है। यह बात पूरी तरह सच है कि उपन्यास का शिल्प पक्ष लेखक का सबल पक्ष नहीं है। 'उपन्यास कला की दृष्टि से 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास का विशेष महत्त्व नहीं है, परन्तु समकालीन धार्मिक जीवन का जैसा घटना शून्य विस्तृत वर्णन इस उपन्यास में है वैसा हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं।'[1] प्रेमचन्द के उपन्यासों की जो कड़ी राधाकृष्णदास अथवा श्रीनिवास दास के प्रथम उपन्यास से जोड़ी जा सकती है, उसके सूत्र मेहता लज्जाराम के उपन्यास से भी जुड़े हैं। प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर देवकीनंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी के पाठकों को अपना पाठक बनाया वहीं दूसरी ओर लज्जाराम मेहताके उपन्यासों की पाठिकाओं को भी अपना पाठक बनाया।

किशोरीलाल गोस्वामी भी वैचारिक स्तर पर सनातन हिन्दू धर्म के समर्थक रचनाकार हैं। यह सनातन धर्म गोस्वामी जी में तीन रूपों में दिखाई देता है—आस्था, खंडन का विरोध और सुधारों की स्वीकृति। गोस्वामी जी ने 65 उपन्यास लिखे, जिनकी प्रामाणिक सूची रामनरेश त्रिपाठी सम्पादित 'कविता कौमुदी' में उपलब्ध है। शिवपूजन सहाय के शब्दों वे वह 'धक्कड़ लिक्खाड़' थे। उन्होंने अपने उपन्यासों की रचना मुख्यत: पाठकीय रुचि को ध्यान में रखकर की। उनके समय में तिलिस्मी ऐयारी, जासूसी, ऐतिहासिक तथा घटनावैचित्र्य प्रधान सामाजिक उपन्यास की बड़ी माँग थी। उन्होंने सभी प्रकार के उपन्यासों की रचना की। 1889 के आसपास उन्होंने सत्य घटना समन्वित 'कुसुमकुमारी वा स्वर्गीय कुसुम' की रचना कर सामाजिक उपन्यासों के लेखन में एक नया प्रयोग किया।

---

1. प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास, —के० प्रकाश, पृष्ठ 154,

'कुसुमकुमारी' प्रेमचन्द के सेवासदन से तीन दशक पहले लिखा गया हिन्दी का पहला उपन्यास था, जिसमें वेश्या जीवन की त्रासदी को एक मार्मिक कथा के माध्यम से उभाड़ा गया है। यह हिन्दी का ही नहीं, भारतीय भाषा का पहला उपन्यास था जिसमें समाज की दूषित देवदासी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई गई थी। उसे समाज की सत्यानासिनी प्रथा बताकर बंद करने की माँग की गई थी। जिस जगन्नाथी पंडे ने कुसुमकुमारी को बचपन में पाला था, उसके मुँह से कहलाया गया था—"अब इस घोर कालिकाल में यह सत्यानासिनी प्रथा बंद हो जाये तो अच्छा है, क्योंकि धर्म की व्यवस्था देश, काल और पात्र के अनुसार ही की जाती है, इसीलिए शास्त्रों में प्रत्येक युग में धर्म की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ की गयी हैं।" कुसुमकुमारी भी जब अपने पिता राजा कर्ण सिंह से मिलती है तो प्रश्न करती है—'जिस प्रथा से व्यभिचार और वेश्यावृत्ति की दिन दूनी और रात चौगुनी बढंवार हुई जा रही है, उस प्रथा को धर्म का अंग मानना—यह कैसा विचार है?' और राजा कर्ण सिह देवदासी प्रथा का नाम-निशान मिटा देने की प्रतिज्ञा करते हैं।

लेखक ने उपन्यास के केन्द्रीय चरित्र—कुसुमकुमारी के चरित्र-चित्रण में तो सधी हुई कलम का परिचय दिया ही है, अन्य छोटे-बड़े पात्रों—बसंत कुमार, राजा कर्ण सिंह, कुसुमकुमारी की सहोदरा गुलाबदेई, चुन्नी रंडी, झगरु सपरदाई आदि का चरित्र-चित्रण भी बड़े सजीव ढंग से किया है। उपन्यास शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। उसमें वर्णनात्मक शैली और आत्मकथात्मक शैली दोनों का मिश्रण है। कथा का प्रस्तावना भाग, जिसमें हरिहर क्षेत्र के मेले में सन् 1840 में घटने वाली नौका दुर्घटना का वर्णन है जिसके फलस्वरूप कुसुमकुमारी और बसंतकुमार का प्रथम मिलन हुआ, वर्णनात्मक शैली में है। इसके बाद की कथा आत्मकथात्मक शैली में है और बारी-बारी से उपन्यास के तीनों मुख्य पात्रों—कुसुमकुमारी, बसंतकुमार तथा भैरो सिंह के मुख से वर्णित कराई गई है।

किशोरी लाल गोस्वामी का दूसरा सत्य घटनामूलक उपन्यास 'माधवी-माधव वा मदन-मोहिनी' है, जो 20वीं शती के प्रथम दशक में उस समय आया जब वे हिन्दी उपन्यास जगत में खत्री जी के ही समान लोकप्रिय हो गये थे। इस उपन्यास के मुख्य शीर्षक तथा उपशीर्षक से ऐसा लगता था कि इसमें मुख्य रूपसे दो प्रेम कथाओं—माधव प्रसाद और माधवी तथा मदन मोहन और मदनमोहनी की प्रणयकथा—का वर्णन था, किन्तु उपन्यास का मुख्य कथा रस इन दो प्रणय कथाओं के साथ ही तत्कालीन परम धर्मिष्ठ और निष्ठावान मध्यवर्गीय हिन्दू परिवार के अंत:पुर में होने वाले पापाचार के भंडाफोड़ पर केन्द्रित था। उपन्यास में 20वीं सदी के प्रथम दशक में हिन्दू समाज की का चित्र भी दिखाई देता है। लेखक ने एक जगह कथानायक के मुँह से कहलाया है—'अभी हिन्दू समाज की उन्नति के दिन नहीं आये हैं और उसके आने में अभी देरी बहुत है, क्योंकि जब तक भली भाँति विद्या का प्रचार न होगा, तब तक अविद्या राक्षसी का नाश होने का नहीं।'
उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कथानायक के मुँह से व्यक्त कराये गये विचारों से लेखक की पूर्ण सहानुभूति है।

किशोरी लाल गोस्वामी के तीसरे सत्य घटना मूलक उपन्यास 'अंगूठी का नगीना' की कहानी केवल सच्ची ही नहीं थी, उसमें वर्णित पात्रों के नाम भी सही-सही दिये गये थे। केवल जिले और गाँव के नाम कल्पित रख दिये गये थे। यह एक शुद्ध प्रेमकथा है। कथानायक मदनमोहन गाँव के प्रधान जमींदार का, जो उस काल के समाज में गाँव का राजा ही नहीं; अपनी प्रजा का माँ-बाप होता था, इकलौता पुत्र है। कथानायिका लक्खी उसकी एक गरीब प्रजा, एक सजातीय विधवा ब्राह्मणी की रूपवती, गुणवती विवाह योग्य इकलौती कन्या है। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने इस उपन्यास में भी अन्य उपन्यासों की

तरह ही वर्णनात्मक और आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग किया है। आरम्भ में अद्भुत नाटकीयता के बीच नायक-नायिका के बीच प्रेम का उदय होता है। उपन्यास में दो दर्जन से अधिक छोटे-बड़े पात्र हैं जो तत्कालीन सामंती समाज के विविध स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी पात्रों की रचना में गोस्वामी जी ने जीवंतता का परिचय दिया है। उपन्यास के सबसे स्मरणीय चरित्रों में कथा नायिका के स्वर्गीय पिता पं० कृष्ण गोविन्द शर्मा का चरित्र है, जो बाल कृष्ण भट्ट के 'सौ अजान और एक सुजान' के शिरोमणि मिश्र का अहसास करा देता है। 'लखनऊ की कब्र' की भाँति अपने इस उपन्यास में किस्सागोई तथा दास्तानगोई के फन में अपनी उत्कृष्टता का परिचय दिया है। उनके अन्य उपन्यासों की तरह ही इसकी कथावस्तु के गठन में भी घटना-वैचित्र्य तथा कौतूहल तत्त्व की प्रधानता है। वह पाठक की कौतूहलवृत्ति जाग्रत रखने के लिए रहस्यात्मकता का पुट उत्तरोत्तर गाढ़ा करते जाते हैं। कथा वर्णन में प्रधान उद्देश्य यह रहता है कि पाठकों की उत्सुकता उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त होती रहे और जब रहस्योद्घाटन करें तो पाठक चकित, मोहित और पुलकित हो जाये। उपन्यासकार की महत्त्वपूर्ण सफलता यह है कि एक से एक चकित कर देने वाली घटनायें कहीं भी अस्वाभाविकता लिये हुए नहीं है क्योंकि उनका उद्गम उस काल के सामाजिक विश्वासों में दिखाया गया है।

इसके अतिरिक्त 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी', 'लीलावती वा आदर्श सती'; 'राजकुमारी'; 'चपला वा नव्य समाज चित्र'; 'पुनर्जन्म वा सौतियादाह' भी उनके सामाजिक उपन्यास हैं। इन सभी सामाजिक उपन्यासों की कला-विषयक एक विशेषता यह है कि उनमें से अधिकतर उपन्यासों की 'कहानी बिल्कुल सच्ची है और इसमें वर्णित पात्रों के नाम भी सही-सही हैं। केवल जिले और गाँव के नाम कल्पित हैं।'[1] अंग्रेजी उपन्यासकार डेफो के समान सच्चाई की शपथ से उपन्यास अधिक आकर्षक एवं रोचक बन जाया करते थे। दूसरी विशेषता यह है कि इनके कथानक अभिजात हिन्दू परिवार से आये हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सम्पन्न परिवारों की सामान्य समस्याएँ इनका विषय बनी हैं। 'ये उपन्यास युवावस्था के जीवन का चित्रण करते हैं, इसलिए इनमें स्त्री और पुरुष पात्रों की संख्या बराबर है और स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर ही किसी न किसी रूप में प्रकाश डाला गया है। नायिकाएँ सुन्दरी तथा गुणवती हैं और पुरुष धार्मिक एवं सरल। लेखक ने नायकों को भाग्यापेक्षी बनाकर उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं होने दिया, वे देवायत्त घटनाओं के अनुचर बनकर अपना 'पार्ट' निबाह रहे हैं।'[2] इन उपन्यासों की महत्त्वपूर्ण विशेषता उनका सुखान्त होना है जो दम्पत्ति-जीवन प्रणय से प्रारम्भ होकर वात्सल्य तक चित्रित किया गया है। सभी उपन्यासों में 'धर्म की जय और पाप की पराजय' का भाव समाहित है। 'काम का फल मनुष्य को अवश्य मिलता है; कर्म अच्छे हुए तो विरोधी असफल हो जाते हैं; जिनकी कोई आशा शेष नहीं थी वे मिल जाते हैं (त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी)। कर्म बुरे हुए तो आदमी गल-गलकर बुरी तरह से पानी के लिए तड़प-तड़प कर मर जाता है। (चपला व नव्य समाज चित्र)

गोस्वामी जी के अधिकतर सामाजिक उपन्यासों के नाम नायिका के नाम पर हैं एवं दो-दो नाम हैं, जो 'वा' से जोड़कर साथ-साथ लिखे जाते हैं। इन दो नामों में से एक तो कथानक में वर्णित व्यक्ति (प्राय: नायिका) की संज्ञा है, जैसे लवंगलता गुलबहार और चपला; और दूसरा उस कथानक का वर्ण्य गुण या उद्देश्य है जैसे 'आदर्श बाला', 'आदर्श भ्रातृस्नेह' और 'नव्य समाज चित्र'। अधिकतर उपन्यासों के कई-कई भाग हैं, और प्रत्येक भाग में पूर्व-वर्णित वृत्त एवं आगामी कथा का

---

1. 'अंगूठी का नगीना, भूमिका
2. प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 126

संकेत फुटनोट में यथास्थान प्रसंगपूर्वक लिख दिया गया है, जिससे पाठक को स्वयं सोचने के लिए अधिक मानसिक व्यायाम न करना पड़े साथ ही अन्य भागों को पढ़ने के लिए भी वह उत्सुक हो।

इस परम्परागत सनातन हिन्दू दृष्टि से भिन्न साम्प्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से राधाकृष्णदास का 'नि:सहाय हिन्दू' इस समय की महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है। इस रचना में गोवध की समस्या केन्द्र में है, लेकिन इसका महत्त्वपूर्ण आयाम यह है कि यह किसी रूढ़ हिन्दू या धार्मिक दृष्टि के उत्साहपूर्ण समर्थन से मुक्त है।

स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यास का यह विकासकाल गहरे नैतिक आग्रहों एवं दबावों का काल है। इसलिए ऐसा लगता है कि प्रेम को उपन्यास के लिए लगभग एक वर्जित क्षेत्र माना जाता था। युवा मानसिकता को दीक्षित करके संस्कारों का निर्माण ही इस काल के सामाजिक उपन्यासों का एकमात्र लक्ष्य था। ऐसी स्थिति में ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा स्वप्न', ब्रजनंदन सहाय के 'राजेन्द्र मालती' और 'सौन्दर्योपासक' तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' आदि इस वर्जित क्षेत्र में प्रवेश के आरम्भिक महत्त्वपूर्ण प्रयास हैं।

ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा-स्वप्न' श्याम सुन्दर नामक क्षत्रिय युवक और श्यामा नामक एक ब्राह्मण लड़की के प्रेम को केन्द्र में रखकर विकसित होता है। पड़ोस का साहचर्य भाव ही अनजाने ही उनके मन में प्रेम बनकर समा जाता है। छोटी-बड़ी बाधाओं के बीच, श्यामा की छोटी बहन की मध्यस्थता और सहयोग से यह प्रेम काफी दूर तक जा पहुँचता है। प्रगाढ़ प्रेमानुभूति और सामाजिक रूढ़ियों का द्वन्द्व उपन्यास में गहरी करुणा के साथ अंकित है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है,

> ''...अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्यजीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्याम-स्वप्न' में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चन्द्र, पण्डित प्रताप नारायण आदि कवियों और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव-क्षेत्र तक ही थी; प्रकृति के अपार क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहन सिह जी ने नर क्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौन्दर्य के मेल में देखा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि संस्कार के साथ भारत-भूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसाने वाले पहले हिन्दी लेखक थे....।''

'श्यामा-स्वप्न' की ही परम्परा में ब्रजनंदन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ दृष्टि का सूचक है। इसका नायक अपने ही विवाह के समय अपनी साली के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगता है। प्रेम की इस असफलता की गहरी कसक को लेखक गहरी संवेदना के साथ अंकित कर सका है। दोनों ही प्रेमी अपने-अपने ढंग से इस पीड़ा को झेलते-भुगतते हैं। सौन्दर्योपासक की पत्नी भी इस दु:खद व्यापार में शामिल हो जाती है। साली और पत्नी दोनों ही अकाल मृत्यु को प्राप्त करते हैं और अन्त में शोक मनाने के लिए सौन्दर्योपासक कथानायक बचा रहता है। प्रेम की सूक्ष्म तरंगों और संसार की कटुता के प्रति नायक की हार्दिक और भावावेगपूर्ण प्रतिक्रियाओं में ही उपन्यास विकसित होता है।

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास भी अपनी अद्भुत प्रेमकहानी के कारण उल्लेख्य है। देवबाला नामक किशोरी के देवनंदन नामक किशोर से हुए प्रेमानुभव के रूप में ही कहानी का ताना-बाना बुना गया है। उदात्त एवं आदर्श प्रेम के बलिदानपूर्ण समापन को लेखक ने करुणा के साथ अंकित किया है। इसी प्रकार हरिऔध जी के दूसरे उपन्यास 'अधखिला फूल' में भी एक हिन्दू स्त्री के आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक अंधविश्वासों की आलोचना की गयी है।

इन समस्त उपन्यासों का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है, किन्तु इनमें समाज के बुनियादी सत्यों की पकड़ नहीं है। इसलिए ये उपन्यास यथार्थ की संश्लिष्टता और चरित्रों की मनोवैज्ञानिक गहनता से अछूते हैं। नैतिकतामूलक उपदेशवादिता उपन्यास के वस्तु-विन्यास को कमजोर करती है।

(ख) ऐतिहासिक—इस युग में ऐतिहासिक कथानक पर उपन्यास बहुत कम लिखे गये। इस दृष्टि से किशोरी लाल गोस्वामी उल्लेख्य हैं। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

> ''इस उपन्यास में हमने कहीं कहीं पर इतिहास के साथ विरोध किया है : जैसे जहाँदारशाह को उस वक्त, जब वह दिल्ली के तख्त पर बैठा था, लावल्द लिखा है; और ऐसी ही और भी कई बारीक-बारीक बातें हैं; पर ऐसा हमने क्यों किया, इसका सबब वे मर्मज्ञ पाठक जरूर समझ जायेंगे, जो उपन्यास के जंजाल से वाकिफ हैं;''[1]

'उपन्यास का जंजाल' स्पष्टत: इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि उपन्यास का आधार चाहे इतिहास ही क्यों न हो, उसे उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता; उसमें औपन्यासिक तत्त्व अनिवार्य हैं और इसी औपन्यासिकता को ही उन्होंने 'उपन्यास के जंजाल' की संज्ञा दी है। औपन्यासिकता तथ्य को उपन्यास से पृथक करने वाला वह गुण है, जिसका प्रयोग उपन्यास लेखक कथानक निर्माण में करता है। अत: यह स्पष्ट है कि किशोरी लाल गोस्वामी उपन्यास में कथा की स्वीकृति तो देते ही हैं, उसमें उपन्यासकार की कल्पना का प्रयोग कर उसके उपन्यास योग्य कथानक निर्माण को भी मान्यता प्रदान करते हैं। इसे उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है—

> ''जैसे 'इतिहास की मूल भित्ति सत्य है', वैसे ही 'उपन्यास की मूल भित्ति कल्पना है। सत्य घटना बिना जैसे इतिहास इतिहास नहीं, वैसे ही 'योग्य कल्पना' बिना उपन्यास भी उपन्यास नहीं कहला सकता। इतिहास में जैसे 'वास्तविक घटना' बिना काम नहीं चलता, वैसे ही उपन्यास में भी कल्पना का आश्रय लिये बिना प्रबन्ध नहीं लिखा जा सकता है।''[2]

स्पष्ट है कि किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास में कल्पना की विशिष्ट स्थिति है। उन्होंने लिखा है—

> ''इसलिए हमने अपने बनाये उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को 'गौण' और कल्पना को मुख्य रखा है, और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार कर दिया है। इसलिए हमारे उपन्यास के प्रेमी पाठक हमारे अभिप्राय को भली भाँति समझ लें कि यह उपन्यास है, इतिहास नहीं। यहाँ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं और इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण-कीर्तन है, कुछ मुसलमान इतिहास लेखकों की भाँति स्वजातीय पक्षपात नहीं है।''[3]

इतिहास के प्रति उनकी यह सुविधाजनक दृष्टि पूरी समकालीन प्रवृत्ति की द्योतक है। उन्होंने अपने उपन्यासों के लिए इतिहास का जो कालखण्ड चुना है, वह मुख्यत: मुस्लिम और राजपूत काल से सम्बद्ध है, किन्तु उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या 'हिन्दू दृष्टिकोण' से अधिक की है जिसमें यत्र-तत्र मुसलमानों से बदला लेने की उनकी इच्छा और प्रवृत्ति को

1. लाल कुँवर वा शाही रंगमहल, ऐतिहासिक भूमिका, पृष्ठ 15-16
2. 'तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी, निवेदन, पृष्ठ 'क'
3. वही, पृष्ठ ग

भी देखा जा सकता है। वे राजपूती शौर्य एवं स्त्री की गरिमा को मुसलमानों के अत्याचारों एवं नृशंसता के विरोध में खड़ा करते हैं। उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों में 'प्रणयिनी-परिणय,' 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी', 'लवंगलता वा आदर्श बाला', 'तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी', 'सुलताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल', 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई', 'लखनऊ का कब्र वा शाही महलसरा' आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में अभिप्रेत काल के समाज का यथार्थ बोध नहीं प्राप्त होता। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्द हैं—

> ''इसमें उस काल की जटिल सामाजिक स्थितियों, मानव मन की आकांक्षाओं, प्रश्नों, व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का तो सूक्ष्म निरीक्षण नहीं ही प्राप्त होता, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह भी नहीं लक्षित होता। कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नहीं होता।''[1]

इन उपन्यासों में रोमांचकारी घटनाओं की सृष्टि कर इन्हें जहाँ एक ओर मनोरंजक बनाया गया है, वहीं उपदेश का स्वर भी मुखरित है। 'तारा' उपन्यास में रानी चन्द्रावली अपने भाई से कहती है—

> ''भारतवर्ष के भाग्य विपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास आँखों के आगे नाच रहा है, तो भी स्वार्थ से अंधे होकर तुमने यवनों पर अंधविश्वास कर लिया है। भाई जागो और मोहनिद्रा को छोड़ सनातन धर्म और क्षत्रिय कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।''

इतिहास के प्रति गम्भीर और किसी सीमा तक वस्तुनिष्ठ दृष्टि अपनाने के कारण मेहता लज्जाराम शर्मा कृत 'जुझार तेजा' और ब्रजनंदन सहाय कृत 'लालचीन', मिश्र बन्धुओं का 'वीरमणि' अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इसके बावजूद कहा जा सकता है कि प्रेमचन्दपूर्व युग के ऐतिहासिक उपन्यास सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है। लेखकों की प्रवृत्ति इतिहास की ओर से हटकर प्रणय-प्रसंगों, विलास-लीलाओं रहस्यमय प्रसंगों तथा कौतूहलवर्द्धक घटना चक्रो की कल्पना में लीन हो जाती है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं—

> ''वे कल्पना से अधिक कार्य लेते हैं, ऐतिहासिक छानबीन कम करते हैं। अतीत उनकी मुक्त कल्पना की उड़ान के लिए सुविधा प्रस्तुत करता है ओर वे इतिहास की चिंता छोड़कर पाठकों के चित्त का रंजन करने वाली कथाधारा में बह जाते हैं।''[2]

घटना प्रधान शुद्ध मनोरंजक उपन्यास—वस्तु विन्यास की दृष्टि से तीसरी धारा के अन्तर्गत शुद्ध मनोरंजन को लेकर लिखे गये उपन्यास—'तिलिस्मी ऐय्यारी' एवं 'जासूसी' उपन्यास आते हैं, जो घटनाबहुलता से ओत-प्रोत हैं। घटना बहुलता तो प्रेमचन्दपूर्व उपन्यास काल की महत्त्वपूर्ण पहचान हैं, किन्तु इस धारा के उपन्यासों की रचना घटना वैचित्र्य के लिए ही हुई। विस्मयजन्य आनन्द की सृष्टि करना ही इनका एकमात्र प्रयोजन दिखाई पड़ताहै। ऐसे उपन्यासों पर आघात करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था—

> ''साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।''[1]

---

1. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा —डॉ० रामदरश मिश्र पृष्ठ
2. हिन्दी का गद्य साहित्य —डॉ० रामचन्द्र तिवारी पृष्ठ 132
3. प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, 'उपन्यास' निबन्ध, पृष्ठ 82

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में लिखा है—

> ''इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा, रस संचार, भावविभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं।''[1]

देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' एवं 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास के नवस्फुटित यथार्थवादी रुझान के प्रति उदासीन रहकर उपन्यास की एक नवीनधारा का प्रवर्तन करता है। उसका वैचारिक आधार बहुत क्षीण है। मध्यकालीन पद्यकथाओं के ढंग पर ही उसमें प्रेम सम्बन्धों के विकास को अंकित किया गया है। चन्द्रकान्ता का महत्त्व एक ओर यदि उसकी असाधारण कल्पनाशक्ति में निहित है, तो दूसरी ओर रहस्य को सुरक्षित रखने वाले कथा संगठन में। एक अन्य उपलब्धि यह है कि तिलस्मी कहानी में भी वे अलौकिक चमत्कार और जादू-टोने के तत्त्वों का तिरस्कार करते हैं। इस उपन्यास में बड़ा से बड़ा चमत्कार मानवीय बुद्धि का परिणाम है। इसी बात को उपन्यास का एक पात्र सिद्ध नाथ बाबा कहता है—

> ''जो काम आदमी के या ऐयारों के लिए नहीं हो सकता, उसे मैं भी नहीं कर सकता.... ।''[2]

उत्सुकता बढ़ाने के लिए लेखक अपने कथासूत्र को चरम तक ले जाकर अधूरा छोड़कर फिर दूसरा सूत्र उठा लेता है। इस सन्दर्भ में उपन्यासकार की स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक है। यही कारण है कि तिलिस्मी उपन्यास इनके युग में हरिकृष्ण जौहर ने 'कुसुमलता' 'भयानक भ्रम', 'नारी पिशाच', 'मयंकमोहिनी या माया महल'; रामलाल वर्मा ने 'पुतली महल', किशोरी लाल गोस्वामी ने 'तिलस्मी शीशमहल' आदि लिखे, लेकिन इस विधा का जैसा सम्पूर्ण विकास और दोहन देवकीनंदन खत्री ने किया, दूसरा कोई लेखक उसके आसपास भी नहीं पहुँच सका। इन उपन्यासों में सनातन हिन्दू आदर्शों का आग्रह बहुत स्पष्ट है। कभी-कभी तो इसे सीधे लेखकीय हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है। इन आदर्शों का यह आग्रह समाज में स्त्री की नियति, विवाह, यौन-शुचिता और छुआछूत से लेकर मुसलमानों के प्रति घृणा और अविश्वास के रूप में देखा जा सकता है। 'भूतनाथ' का केन्द्रीय चरित्र राजा या कोई राजकुमार न होकर एक साधारण ऐय्यार है। यह भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उदित होते मध्यवर्ग का एक प्रतिनधि चरित्र है।

तिलिस्मी उपन्यास के समान ही जासूसी उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य पाठक वर्ग का मनोरंजन था। इन उपन्यासों का मुख्य आकर्षक अपराधी की पहचान को अंत तक सुरक्षित रखते हुए पाठकों के कौतूहल को बनाये रखना था। प्रेमचन्द ने जासूसी उपन्यासों की रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में लिखा है—

> ''जासूसी उपन्यासों के लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना का रहस्य खोलना जाहिरा असंभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों नहीं सूझी, यह तो बिल्कुल साधारण बात थी।''[3]

गोपालराम गहमरी सर्वाधिक चर्चित जासूसी उपन्यासकार हैं। उन्होंने सैकड़ों की संख्या में उपन्यास लिखे, जिसकी कथाभूमि के लिए अपने सुपरिचित स्थानों—गहमर, जमनियाँ, काशी, बम्बई आदि को ही चुनते हैं। इसी कारण उनके ब्यौरों

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास —पृष्ठ 273
2. चन्द्रकान्ता-2; पृष्ठ 33
3

में स्थानीयता के कारण प्रामाणिकता और विश्वसनीयता का पुट है। अपने अगम्भीर वस्तु विन्यास के बावजूद ये अपने युग के सुधारवादी आग्रहों से मुक्त नहीं हैं। कर्मानुसार फल प्राप्ति का दर्शन इसमें भी प्रस्फुटित होता था।

पूर्व प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास परम्परा पर दृष्टि डालें, तो दिखाई देगा कि हिन्दी उपन्यास का जन्म सुधारवादी भावनाओं के क्रोड़ में हुआ था। इस युग के प्राय: सभी उपन्यासकारों ने कमोबेश इन्हीं सुधारवादी भावनाओं का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। सुधारवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इन उपन्यासों का मुख्य आधार 'मनोरंजन' है, जो कहीं-कहीं 'शिक्षा' को भी अपना उद्देश्य घोषित करता है। देवकीनंदन खत्री ने लिखा है "जिस प्रकार पंचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रंथ बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गये उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए.... ।"[1] किंतु उपन्यासों की जनप्रियता ने उनमें जो आत्मविश्वास उत्पन्न किया, उसने उनकी विचार धारा बदल दी। "चन्द्रकान्ता के आरम्भ के समय मुझे यह विश्वास न था कि उसका इतना अधिक प्रचार होगा, यह मनोविनोद के लिए लिखी गई थी पर पीछे लोगों का अनुराग देखकर मेरा भी अनुराग हो गया, और मैंने अपने उन विचारों को जिनको मैं अभी तक प्रकाश नहीं कर सका था, फैलाने के लिए इस पुस्तक को द्वार बनाया और सरल भाषा में उन्हीं मामूली बातों को लिखा जिसमें मैं उस होनहार मण्डली का पात्र बन जाऊँ जिसके हाथ में भारत का भविष्य सौंपकर इस संसार से विदा होना है।"[2] इस प्रकार खत्री जी मनोरंजन एवं शिक्षा को साहित्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी लिखा है, "उपन्यास अवश्य ही मनोरंजन के लिए है, परन्तु मेरा यह सिद्धान्त है कि इसके साथ पाठक-पाठिकाओं को किसी न किसी तरह की अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिये।"[3] ब्रजनंदन सहाय, किशोरी लाल गोस्वामी, हरिऔध, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, गोपालराम गहमरी जैसे उपन्यास लेखक भी इसी दृष्टिकोण से परिचालित दिखाई देते हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा शिक्षण को अधिक महत्त्व देते हैं—

> "जिन सुलेखकों को अपने उपन्यासों की रोचकता का अधिक गर्व है वे यदि ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी रचना के साथ-साथ इस ओर ढल पड़ें तो मेरी समझ में हिन्दू समाज का अधिक उपकार कर सकते हैं क्योंकि लोगों ने ऐसे-ऐसे उपन्यासों की रचना द्वारा पाठकों की अरुचि छुटाकर पोथियाँ पढ़ने का चटरस उनके मन में पैदा कर दिया है।"

अत: सुधारवादी, शिक्षण एवं मनोरंजन को महत्त्व देने के कारण उपन्यासकारों ने उपन्यास शिल्प को विशेष स्थान नहीं प्रदान किया है। लेकिन यह समझना भूल होगी कि इन प्रारम्भिक उपन्यासों का कलात्मक आधार शून्य है। प्रारम्भिक चरण होने के कारण परिपक्व दृष्टि से अछूते हैं, जो परवर्ती काल में दिखाई देता है। "इस युग के अधिकांश उपन्यासों में शिल्प-विकास का आधार ऐसी वृत्तियाँ हैं, जिनका सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है"[4] प्रेमचन्द ने लिखा है, "उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बौस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्‌भुत रस प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था।"[5] उपन्यास आधुनिक युग का

---

1. चन्द्रकान्ता सन्तति, 24 वाँ भाग, पृष्ठ 85
2. चन्द्रकान्ता सन्तति, 24 वाँ भाग, पृष्ठ 85
3. 'आदर्श दम्पत्ति' भूमिका
4. हिन्दी उपन्यास : उद्‌भव व विकास —प्रताप नारायण टण्डन
5. साहित्य का उद्देश्य —मुं० प्रेमचन्द्र

प्रतिनिधि साहित्य रूप है, लेकिन हिन्दी का कथा लेखन अभी मध्यकालीन चेतना से जुड़ा था। 'नये युग का साहित्य रूप बनने के लिए जरूरी था कि यह केवल मन-बहलाव की वस्तु न हो, केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी न सुनाये, उन प्रश्नों में दिलचस्पी ले जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं।'[1]

आरम्भिक चरण के ये उपन्यास दायित्व बोध और निष्ठा से भरे हुए हैं। वे नैतिकता का उत्थान और सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करना चाहते थे। इनमें धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का ही विशेष वर्णन किया गया है, इस दृष्टि से उनका परिवेश अवश्य ही अत्यन्त सीमित है। भावबोध के नवीन स्तर स्थापित कर उन्होंने किन्हीं नये आयामों की कल्पना नहीं की है और न उस दिशा में कोई प्रयास ही किया है। इन उपन्यासकारों ने यथार्थवाद के युगीन जीवन एवं परिस्थितियों का चित्रण नहीं किया है, इसीलिए वह अपूर्ण एवं सतही है। इस काल के अधिकांश उपन्यासों में तिलिस्मी विद्या एवं ऐय्यारी के हथकण्डों एवं जासूसी चमत्कारों का चित्रण किया गया है। जिनमें असंगतियाँ और अस्वाभाविकताएँ भरी पड़ी हैं। ये सभी उपन्यास अधिकांशतः घटना प्रधान है। नरेन्द्र कोहली ने किशोरी लाल गोस्वामी के सन्दर्भ में जो लिखा है, उसे पूरे युग सन्दर्भ में रखकर देखने की जरूरत है; ''उनके अधिकांशतः उपन्यास घटना प्रधान है, अतः कथा तत्त्व पूर्णतः स्वीकृत है। घटनायें अधिकांशतः प्रेम सम्बन्धी हैं अथवा नैतिक एवं आर्थिक पतन विषयक। ये घटनायें चरित्र उन्मेष अथवा अन्य किसी प्रयोग की सिद्धि हेतु कम हैं, स्वयं सिद्धि ही अधिक हैं। घटनाओं का महत्त्व घटनाओं के लिए ही है।''[2] नियमतः घटना प्रधान उपन्यासों में चरित्र का महत्त्व नहीं होता, क्योंकि उनमें चरित्र, घटनाओं के मात्र उपादान स्वरूप ही प्रस्तुत किये जाते हैं, किन्तु गोपालराम गहमरी इसके कुछ अपवाद प्रतीत होते हैं। अपने उपन्यासों में चाहे उन्होंने चरित्र-चित्रण को घटनाओं से अधिक महत्त्व न दिया हो, किन्तु सिद्धान्ततः उन्होंने चरित्र की महत्ता स्वीकार की है—''चरित्र चित्रण में जो जितना ही निपुण होता है, उतना ही वह अपने इस असरकारक अस्त्र से संसार का उपकार करने में समर्थ हो सकता है।''[3] मेहता लज्जाराम शर्मा मनोरंजन को उपन्यास का सर्वोपरि प्रयोजन स्वीकार नहीं करते, अतः वे घटना वैचित्र्य की मोहनी से भी प्रसन्न नहीं हैं। तिलिस्मी-ऐयारी तथा जासूसी-डकैती को वे साहित्य का उपलब्धि नहीं मानते। किन्तु, उन उपन्यासों के दुर्दम्य प्रभाव से भी वे अनभिज्ञ नहीं थे। ''किन्तु हर्ष से कहा जा सकता है कि अब हिन्दी लेखकों की इस ओर प्रवृत्ति हुई है। अब चोरी और डकैती का जमाना चला गया सौभाग्य है।''[4] प्रचलित उपन्यास से असंतुष्ट मेहता जी की उपन्यास विषयक अपनी मान्यता है। ''यद्यपि उपन्यास आजकल बिल्कुल कल्पित वा ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे जाते हैं और इसलिए उनकी कथा कोई प्राणभूत नहीं मानी जाती हैं परन्तु मैं मानता हूँ और बड़े-बड़े विद्वान मानते हैं कि उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कथा कल्पित मानी जाती है, वही समय पड़ने पर इतिहास बन जाती है इसलिए उपन्यास ऐसे बनने चाहिये जिनसे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो उन्हें पढ़ने से पाठकों के चरित्र सुधारें और वे दुराचारों से छूटकर सदाचार में प्रवृत्त हों।''[5]

---

1 प्रेमचन्द्र : कुछ विचार, साहित्य का उद्देश्य (भाग - 1)

2 हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धान्त, पृष्ठ 10

3. 'गेरुआ बाबा' वक्तव्य से

4 विपत्ती की कसौटी', भूमिका से

5. 'आदर्श दम्पत्ति' भूमिका से

घटना को उपन्यास के तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए भी मेहता जी ने अपने समकालीन उपन्यासकारों के समान, उसे अधिक प्रमुखता नहीं दी। वस्तुत: जासूसी-डकैती, तिलिस्मी-ऐय्यरी उपन्यासों का विरोध अप्रत्यक्षत: उपन्यास में घटना-प्रधानता का ही विरोधी है। उनका साध्य घटना नहीं थी, वे घटना से उबरकर चरित्र-र्मिाण की ओर संकेत कर रहे थे: ''.....इसमें नित्य की अनेक घटनाओं का एक ही मनुष्य के चरित्र में संग्रह किया गाय है।''[1] स्पष्टत: घटनायें चरित्र-निर्माण का साधन हैं, अथवा वे चरित्र का उन्मेष करती हैं। उपन्यास की अपनी परिभाषा में भी उन्होंने इसी ओर संकेत किया है— ''.....इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिये जिनसे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो।''

स्पष्ट है कि तिलिस्मी उपन्यासों को छोड़कर आरम्भिक चरण के इन उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी नैतिकता और शिक्षा है। कथानक चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, वे समाज के सामने एक ऐसा आदर्श रखना चाहते थे, जिससे वे अपना जीवन सुधार सकें। इसीलिए उपन्यासकार प्राय: कथा वस्तु के साथ उनका संगुफन नहीं कर पाये है। इन सभी उपन्यासों की कथा वस्तु में गतिशीलता नहीं है। यदि कोई कथा वस्तु गतिशील है भी, तो उपन्यासकार बीच में अनायास टपकर 'तो हे पाठक' 'तो हे साहब !'' आदि कहकर अपने पाठकों से बात करने लगता है, जिससे कथा प्रवाह में बाधा पहुँचती है। इनकी कथा वस्तु में रोचकता, उत्सुकता, चरमोत्कर्ष तथा नाटकीयता का भी प्रभाव है। जहाँ नाटकीयता की थोड़ी बहुत स्थितियाँ रहती भी हैं, वहाँ उपन्यासकार को जैसे इतनी आतुरता रहती है कि वह शीघ्रतिशीघ्र अपने पाठकों पर कथा के सारे रहस्य स्पष्ट कर देना चाहता है, जिससे नाटकीयता को बड़ी क्षति पहुँचती है। ऐसी स्थिति में इनकी स्वाभाविकता संदिग्ध हो जाती है। इन उपन्यासों में कथा वस्तु को जान-बूझकर सुखान्त बनाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि तिलिस्मी-जासूसी उपन्यासों को छोड़कर इस युग के उपन्यास कथा के रूपों की दृष्टि से जटिलताएँ लिये हुए नहीं हैं। इतना निश्चित है कि उन्हें उद्धरणों की भरमार करके बोझिल बनाया गया है।

इस युग के अधिकांश उपन्यास कल्पना वैचित्र्य से भरे हैं। बहुत कम ऐसे चरित्र हैं जो जीवन के जीवन्त यथार्थ से जुड़े हुए हैं। यहाँ पर गोपाल राम गहमरी उल्लेख्य हैं जो यद्यपि कि कथानक निर्माण में कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार करते हैं, किन्तु इसके क्षेत्र को सीमित रखना उचित समझते हैं। 'निस्सार और अनहोनी गप्प के उपादान पर गढ़े हुए उपन्यासों'[2] तथा 'अनहोनी घटनाओं का तूमार लिये हुए बड़ी-बड़ी ठाट-बाट और लक्क-दक्क उपन्यासों[3] के प्रति उनका विरोध अत्यधिक उग्र है। उनके शब्द हैं :''लेकिन अश्लील, निस्सार और अनहोनी गप्प के उपादान पर गढ़े हुए उपन्यासों की इस समय इतनी बाढ़ है कि साहित्य के इस अंग की इन दिनों बड़ी ही छीछालेदर हो रही है।''[4] मेहता लज्जाराम शर्मा का यह विचार पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है कि उपन्यास की कल्पित कथा भी समय के एक विशिष्ट अन्तराल के पश्चात् इतिहास बन जाती है। अत: उपन्यास लेखक को अपने दायित्व का अहसास होना चाहिये, अन्यथा वह अपने पूर्वाग्रह अथवा सनक से भावी समाज को भ्रान्त इतिहास एवं सूचनायें देने का अपराधी एवं वर्तमान के प्रति विश्वासघाती होगा।

इन उपन्यासकारों की कोशिशों के बावजूद बहुत कम ऐसे पात्र हैं, जो जीवन के यथार्थ से लिखे गये हैं या अपनी सप्राणता और सजीवता का आभास देते हैं। प्राय: सभी चरित्र सपाट हैं, जो नायक-खलनायक के बीच विभाजित हैं। नायक-

---

1 'धूर्त रसिकलाल', भूमिका से।
2. 'गेरुआ बाबा' का वक्तव्य से
3. 'गेरुआ बाबा', वक्तव्य से
4. 'गेरुआ बाबा', वक्तव्य से

नायिकायें आदर्शवादी, जो सभी प्रकार सद्वृत्तियों से भरी हुई हैं। खलनायक कुप्रवृत्तियों के प्रतीक हैं, जो आदर्शों की हत्या करके बुरे मार्ग पर अग्रसर रहते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ भी सुधारवादी दृष्टिकोण एवं शिक्षण की मानसिकता से परिचालित हैं। कथोपकथन भी चरित्र-निर्माण का असफल साधनमात्र दिखाई देता है।, जो कहीं-कहीं घटना वैचित्र्य का उत्प्रेरक मात्र है। इनमें भावाभिव्यक्ति की समर्थता कम है, संक्षिप्तता एवं अर्थवत्ता के स्तर पर भी कमजोर हैं। केवल 'भाग्यवती' एवं 'परीक्षागुरु' में कथोपकथन का कुछ स्वस्थ स्वरूप दिखाई देता हैं।

कथोपकथन से ही सम्बद्ध पात्रों की भाषा है, जो तीनों रूपों में दिखाई देती है— एक तो वे उपन्यास, जिनकी भाषा संस्कृत गर्भित है। उनमें भाषा को जान-बूझकर क्लिष्ट बनाया गया है और उसके साथ एक प्रकार से मजाक किया है है। बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' एवं ठाकुर जगमोहन सिंह आदि ऐसे ही उपन्यासकार हैं। इनहोंने सरल हिन्दी के शब्दों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया अवश्य है, पर बहुत कम। ऐसा कदाचित आर्य समाज एवं बंगला से प्रभाव के कारण ही हुआ है। इस संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करने वाले उपन्यासकारों के भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग तो उन उपन्यासकारों का है, जिनमें संस्कृत शब्दों के साथ हिन्दी के सरल शब्दों का भी प्रयोग हुआ है और उनकी भाषा में प्रवाह है। लाला श्रीनिवास दास ऐसे ही उपन्यास लेखक हैं, जो पात्रानुकूल भाषा प्रयोग के समर्थक हैं— ''...और उसको जैसा का तैसा (स्वाभाविक) दिखाने के लिए संस्कृत अथवा फारसी, अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली में रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गयी है अलबत्ता जहाँ कुछ विद्या विषय आ गया है वहाँ विवस होकर कुछ-कुछ शब्द संस्कृत आदि के लेने पड़े हैं......।'' [1] मेहता लज्जाराम शर्मा भी चरित्रानुसार भाषा प्रयोग के समर्थक हैं : ''आजकल उर्दू राजभाषा है और यही मुसुलमानों में बोली जाती है, इस कारण कर्मचारियों और मुसलमान पात्रों की भाषा रखी गई है।'' [2] दूसरा वर्ग ऐसे उपन्यासकारों का है, जिन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के शब्द ठूँस-ठूँसकर भरे हैं तथा उसके प्रवाह की सहजता एवं स्वाभाविकता को समाप्त कर उसे कृतिम बना दिया है। दूसरी श्रेणी ऐसे उपन्यासकारों की है, जिन्होंने चलती हुई व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया है। तिलिस्मी एवं जासूसी उपन्यासों में इस भाषा का प्रयोग अधिकता से हुआ है। तीसरी श्रेणी उन उपन्यासकारों की है, जिन्होंने उर्दू के शब्दों का भी बहुतायात से प्रयोग किया है। इन उपन्यासों की भाषा में थोड़ा बहुत प्रवाह दिखाई देता है।

(2) प्रेमचन्द युग

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती लेखकों ने उपन्यास को या तो शिक्षा और उपदेश के लिए अपनाया था या फिर मनोरंजन के लिए। उपन्यास भले ही समाज सुधार के कुछ प्रमुख मुद्दों को अपनी विषयवस्तु के रूप में उठाते दिखाई देते हों, लेकिन वे उस राजनीतिक समझ और संवेदना का कोई प्रमाण नहीं देते जैसे भारतेन्दु हरिशचंद्र के नाटकों 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' या इस युग के निबन्धकारों के निबन्धों में दिखाई देता है। प्रेमचन्द ही पहले लेखक थे, जिन्होंने एक सहविकसित कलारूप के तौर पर उपन्यास की प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता के लिए संघर्ष किया। उन्होंने कहा—

> ''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो- जो हमें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'' [3]

---

1. 'परीक्षा गुरु' निवेदन से
2. 'धूर्त रसिक लाल' भूमिका से
3. कुछ विचार, पृष्ठ 25

स्पष्ट है कि उन्होंने उपन्यास को सामाजिक एवं राष्ट्रीय सवालों से जोड़ा। प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दों में कहें तो—

> ''प्रेमचन्द का महत्त्व ही इसी में है कि उनका रचनात्मक—जगत विकासशील है, स्थिर नहीं, जबकि प्रेमचन्द के पूर्व—उपन्यासों की दुनिया देश और काल की दृष्टि से रहित—दुनिया है। बालकृष्ण भट्ट, श्रीनवासदास, श्रद्धाराम फुल्लौरी और देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों का जगत अनैतिहासिक और आदर्शीकृत है। कल्पना, जादू, तिलिस्म, स्वप्न और आवेग उसके तत्त्व हैं। उसके अभिसमय पंचतन्त्रीय और वायवीय हैं। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में इन —रूपाकारों का प्रयोग अवश्य किया, परन्तु प्रारम्भ से ही वह —'देवस्थान के रहस्य' के उद्घाटन में लग गये। मंगलाचरण— में संकलित रचनाओं की दुनिया मनुष्यों की दुनिया में बदल जाता है। इसके बदलते ही प्रेमचन्द की रचनाओं का काल —और देश भी बदल जाता है। 'निर्माला' में मनुष्य और उसका —संसार 'परिवार से सम्बद्ध समाज' के माध्यम से क्रमशः— फैलता जाता है। प्रारम्भिक रचनाओं का समस्याग्रस्त मनुष्य क्रमशः 'सामाजिकता' को पहचानने लगता है। वस्तुओं का यह बढ़ता हुआ दायरा उन्हें अन्ततः उस मूल समस्या तक पहुँचाता है, जहाँ देवत्व की उत्पत्ति जड़त्व से होती हुई प्रतीत होती है। इसीलिए प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही देवत्वकरण और वस्तुकरण से मनुष्य को मुक्त करने का प्रयास करते हैं।''[1]

प्रेमचन्द ने जिन सवालों को अपने औपन्यासिक सर्जन का विषय बनाया वह उनके पहले 'कविता' एवं 'निबन्ध' विधा का मुख्य विषय थी। भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमधन, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे लेखकों ने सामाजिक जीवन की विभिन्न धार्मिक कुरीतियों और अंग्रेजों की लूट, कर्मचारियों की घुसखोरी, महामारी और करो के भार से पिसती हुई भारतीय जनता को उसकी पूरी विडम्बना के साथ अपने लेखन का विषय बनाया। इन रचनाकारों को हिन्दी भाषी समाज के लिए रचनाकार का नहीं वस्तुतः राजनीति के आगे चलने वाली मशाल' का कार्य करना पड़ता था। प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र ने लिखा है—

> ''प्रेमचन्द ने उपन्यासों की परम्परा में द्विवेदी युगीन निबन्ध चेतना को आत्मसात करके ही उपन्यास लिखे।........ ..... वस्तुतः प्रेमचन्द द्विवेदी युग की ही मुख्य देन हैं। साहित्य की परिभाषा प्रेमचन्द के दिमाग में वहीं है, जो बालकृष्ण भट्ट, मैथिली शरण गुप्त और द्विवेदी युग के दिमाग में थी।''[2]

शिवकुमार मिश्र प्रेमचन्द की विरासत की पड़ताल करते हुए लिखते हैं—

> ''यथार्थ प्रेमचन्द के लिए कभी कोई बना-बनाया नुस्खा नहीं रहा उसके लिए वह सदैव एक साधना रहा जिसे जिन्दगी के मुख्य प्रवाह से जोड़कर विचार और अनुभव की तीखी टकराहट के बीच, सर्जनात्मक स्तर पर नाना प्रकार के जोखिम उठाकर ही पाया जा सकता है। यही कारण है कि हमें प्रेमचन्द में निरन्तर प्रखर होते हुए, गुणात्मक रूप में विकसित यथार्थ बोध के दर्शन होते हैं। प्रेमचन्द का यह यथार्थबोध न तो किताबी है और ना ही जैसा जो जो कुछ सतह पर दिखाई देता है उसकी प्रतिच्छवि। वह जिन्दगी को व्यक्तिवादी नजरिए से देखने वालों की अपनी मानसिकता अथवा दृष्टि, का नमूना भी नहीं है, वरन् उसके

---

1. गोदान का महत्त्व —स० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 195
2. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 196

पीछे जिन्दगी के अंतर्विरोधों के बीच उसके सारे वैविध्य तथा जटिलताओं से गुजरते हुए, उसके प्रतिनिधि रूप और उसके सारतत्त्व को पहचानने और उभारने वाली दृष्टि का योग है।''[1]

यही कारण है कि अपने समय के यथार्थ को उसके समूचे नंगेपन के साथ उजागर करते हुए भी, उसके प्रति तनिक भी रोमानी अथवा भावुक न होते हुए भी प्रेमचन्द भविष्य के प्रति निराश नहीं होते। वे रचना के क्षेत्र में एक गहरे आन्तरिक दबाव के तहत, अपने समाज और अपने देश के प्रति एक उत्कट सात्विक लगाव के साथ आये थे।

प्रेमचन्द ही पहले उपन्यासशिल्पी थे, जिन्होंने एक सहविकसित कलारूप के तौर पर उपन्यास की प्रतिष्ठा और स्वीकार्यता की लड़ाई लड़ी। उन्होंने उपन्यास को सामाजिक एवं राष्ट्रीय सवालों से जोड़कर उसकी कलात्मकता का विकास किया। 'भारतीय समाज में विधवा की नियति, अनमेल विवाह, दहेज, और स्त्री-शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन— मोटे तौर पर यहीं से प्रेमचन्द अपनी रचनात्मक-यात्रा शुरू करते हैं। इस मायने में वे भारतेन्दुयुगीन उपन्यास परम्परा का ही विकास करते हैं और यदि लोग उन्हें इस युग के लेखकों द्वारा स्थापित और विकसित करने वाले यथार्थवादी परम्परा से जोड़कर देखते हैं तो कुछ गलत भी नहीं करते। भले ही इन पूर्ववर्ती लेखकों को देखकर, जैसा कि आचार्य नलिन विलोचन शर्मा कहते हैं, 'प्रेमचन्द' को प्रत्याशित या प्रभावित मानना निराधार है, लेकिन यह भी सच है कि प्रेमचन्द को इस पहले से चली आती कथाधारा से अलग करके देखना भी गलत है। इस प्राप्त और उपलब्ध कथाधारा को अपने स्पर्श और उपस्थिति से वे इस हद तक बदल दते हैं कि वह एक नई उद्भावना जैसे लगने लगती है।'[2]

यह पूरी तरह सच है कि अपने पूर्ववर्ती लेखकों से अपनी विषय वस्तु लेकर भी वे उसे उसी तरह से प्रस्तुत नहीं करते जैसे उनके ये पूर्ववर्ती लेखक करते थे। गिरिराज किशोर के शब्द हैं—

> ''प्रेमचन्द से पहले साहित्य के पात्र समाज का अभिजात वर्ग—होता था। राजे-महाराजे, तालुकदार, सेठ-साहूकार, नगर वधुएँ—आदि। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले कथाकार हैं जिन्होंने अपनी—कलाकृतियों के लिए ऐसे पात्रों को चुना जो साहित्य के लिए निर्धारित तत्कालीन अर्हता से पूरी तरह वंचित थे।''[3]

'प्रेमचन्द के आगमन पर साहित्य के नायक -नायिकाओं की बड़ी लम्बी बिरासत वाले तख्ते हाउस पर होरी, घीसू, हल्कू, धनिया, सलोनी काकी आदि बेझिझक बड़ी शान से बैठे और जमाने का सिर श्रद्धा से नत हो गया'[4] वे हिन्दी उपन्यास को समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की आकांक्षा और उपेक्षा से जोड़ते हैं। प्रेमचन्द की महत्ता का स्रोत उनकी रचनाओं में व्यक्त मानवीय सहानुभूति ही नहीं, मनुष्य मनुष्य के बीच समानता का आग्रह है। ''उनकी कृतियाँ उनकी मानवतावादी दृष्टि के क्रमिक विकास की सूचक हैं— करुणा प्रेरित सुधारकामी भावुक आदर्शवाद से अन्याय के मूल वर्ग-वैषम्य का उद्घाटन करने वाले यथार्थवाद की ओर—सामाजिक सम्बन्धों को मानवीय बनाने की नैतिक अपील करने वाली मानवतावादी भावधारा से मनुष्य के इतिहास से विषमता के युग को सदा के लिए समाप्त करने की माँग करने वाली मानववादी विचारधारा की ओर।''[5] उनका मानववाद ''उन्नीसवीं सदी के अनेक साहित्यकारों के मानववाद से भिन्न था। वह तॉल्सतॉय जैसे महान

1. प्रेमचन्द्र विरासत का सवाल —डॉ० शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ 106
2. हिन्दी उपन्यास का विकास —मधुरेश, पृष्ठ 32
3. गोदान का महत्त्व —सं० सत्य प्रकाश मिश्र, में गिरिराज किशोर का लेख पृष्ठ 79
4. डॉ० राम विलास शर्मा द्वारा 'आस्था और सौन्दर्य में उद्धृत अमृतलाल नागर का भाषण।
5. आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता —डॉ० नवल किशोर

लेखकों के मानवतावाद से भी भिन्न था। वह समाजवादी क्रांति के वाद का मानववाद था, वह राजनीतिक समस्याओं को गरीब जनता के दृष्टिकोण से देखने- परखने और हल करने का आदी था। धार्मिक संकीर्णता उससे दूर थी। इसके विपरीत विभिन्न मत-मतान्तरों की सहायता से धनी वर्ग द्वारा जनता की धार्मिक भावनाओं को सहानुभूति से देखता था।''[1]
प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है— ''उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते।''[2]

शिल्प के स्तर पर प्रेमचन्द उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' मानते हैं और मानव चरित्र के रहस्यों का उद्‌घाटन ही, उनके अनुसार, उपन्यास का सर्वप्रमुख लक्ष्य है। ''मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।''[3] लेकिन प्रेमचन्द को वास्तविक चरित्र का कल्पनाशून्य, यथावत् चित्रण स्वीकार्य नहीं है। उनकी मान्यता है कि 'कथा साहित्य में सम्प्रति काल्पनिक घटनाओं को यथार्थवृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है, भविष्य में यथार्थ पर कल्पना का आलेप करना होगा, ताकि वह कथा प्रतीत हो।'[4] यथार्थ के साथ कल्पना और कल्पना के साथ यथार्थ का यही योग कला है और प्रेमचन्द ने कलावादी न होते हुए भी कला की अवहेलना कहीं नहीं की है। इन दोनों अवधारणाओं को उन्होंने 'आदर्श' और यथार्थ के माध्यम से प्रस्तुत किया। उनके शब्द हैं: ''यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है.....इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो''[5]

प्रेमचन्द पूर्व युग के उपन्यास जहाँ घटना वैचित्र्य से ओत-प्रोत थे, वहाँ प्रेमचन्द ने चरित्र को ही प्रधानता दी और उपन्यास की परिभाषा 'मानव-चरित्र का चित्र' की है। उनका विश्वास था कि निकट भविष्य में उपन्यास 'मानव-चरित्र' के और अधिक निकट आ जायेगा, अत: उपन्यास का पात्र यथार्थ जीवन के समीप होना चाहिये। ''पात्र सर्वथा यथार्थ नहीं होता, उसमें औपन्यासिकता (कल्पना) का योग होना चाहिये तथा पात्र समाज के किसी भी वर्ग का हो सकता है; उसके महत्त्व का निकष धन-सम्पत्ति न होकर उसका जीवट अथवा जिजीविषा होनी चाहिये।''[6] प्रेमचन्द के लिए पात्रों का सामाजिक-आर्थिक स्तर महत्त्व नहीं रखता। उनकी धारणा थी कि साहित्य के पात्र जन सामान्य के लिए प्रेरणा के स्रोत होते हैं। इसीलिए प्रेमचन्द ने लिखा कि ''इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र-पोजिटिव हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।''[7] मानवता का परिष्कार, अथवा हृदय का विस्तार उपन्यास का ही नहीं, सम्पूर्ण कला का उद्देश्य है; और प्रेमचन्द इसी के समर्थक हैं : ''जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद

1. प्रेमचन्द्र का मानवतावाद —डॉ० रामविलास शर्मा 'आस्था और सौन्दर्य', पृष्ठ 116
2. प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —स० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 78
3. प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 80
4. कुछ विचार, पृष्ठ 69
5. प्रेमचन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध —सं० प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, पृष्ठ 82
6. कुछ विचार, पृष्ठ 69
7. साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 58

पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करें, उसमें सद्भाव जाग उठे, वही सफल उपन्यास है।''[1] उनकी दृष्टि में उपन्यासकार की सफलता साधारणीकरण में है : ''सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागृत कर दे, जो उसके पात्रों में हो।''[2]

उपन्यास में प्रेमचन्द का साध्य चरित्र है, शेष तत्त्वों का कार्य चरित्र को यथासम्भव पूर्णतम बनाने में है। उन्होंने अपने पूर्व के और समसामयिक साहित्य-प्रवाह में अपर्याप्तता, जीवन का असाम्पर्क्य और रूढ़िवादी मान्यताओं का साक्षात्कार किया था। उनके दृष्टिकोण का आधार ही मानवीय अर्थवत्ता है और इसी को खोज उन्होंने की है। उनकी उपन्यास यात्रा वैसे तो उर्दू में सन् 1905 से शुरू होती है और 'असरारे मआविद', 'हम खुर्मा व हमसवाव', रूठी रानी की रचना होती है, किन्तु हिन्दी में सन् 1918 में 'सेवासदन' के साथ आये और 1936 में गोदान के प्रकाशन के कुछ महीने बाद ही उनका निधन हो गया। लेकिन यह काल खण्ड उपन्यास के कलात्मक उत्कर्ष और सामाजिक स्वीकार्यता की दृष्टि से आश्चर्यजनक एवं अभूतपूर्व उपलब्धियों का है। भले ही प्रेमचन्द ने आगे चलकर उपन्यास को 'मानव चरित्र के अध्ययन' से जोड़ने की बात घोषित रूप में कही हो, लेकिन व्यवहार के धरातल पर लगभग शुरू से ही वे इस लक्ष्य के प्रति सजग दिखाई देते हैं। 'यही कारण है कि वे उपन्यास को उसकी इकहरी बुनावट से निकालकर, उसकी वाह्य स्थूलता को काट-छांटकर, एक संश्लिष्ट कला-रूप की प्रतिष्ठा दिला पाने में सफल होते हैं, क्योंकि मानसिक तनावों और अंतर्द्वन्द्व के कारण उनके पात्र सहज और स्वाभाविक ही नहीं लगते, हमारे बहुत निकट भी लगते हैं। उपलब्ध उपन्यास की घटनात्मकता से मुक्ति की दिशा में वे कोई उल्लेखनीय प्रयास भले ही न करते हों, लेकिन वर्णित घटनाओं और पात्रों के अंतर्संबन्धों को लेकर वे पर्याप्त सजग दिखाई देते हैं।''[3] प्रेमचन्द की साहित्य साधना इस बात का साक्ष्य है कि उन्होंने जिन्दगी की चुनौतियों को साहस के साथ स्वीकारा और समय के एक-एक तेवर को पहचानते हुए अपनी रचनाओं में उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया कि वे उस समय और उस जिन्दगी के प्रामाणिक दस्तावेजों के रूप में अपनी पहचान बना सकें।'[4] उन्होंने उपन्यास जैसी विधा को जिंदगी के जाग्रत यथार्थ तथा समाज की अहम समस्याओं से जोड़कर एक सम्मानित हैसियत प्रदान की, उसे मनुष्य की ही चरित्र का नहीं, समाज तथा व्यवस्था के चरित्र का चित्र तथा आइना बनाया। देश की पराधीनता अथवा मानुष सत्य का अपमान, वृहत सामाजिक अन्याय की विधायक शक्तियों पर कठोर प्रहार करते हुए मिसाल विरल ही है।

'सेवा सदन' ने सर्व प्रथम उपन्यास विधा की परिभाषा को बदला। प्रेमचन्द ने इसे उर्दू में ही लिखा था, लेकिन पहले उसका प्रकाशन हिन्दी में हुआ। अस्थि व रक्त से समन्वित पूर्ण विकसित पात्र, संगठित कथानक संघटना, कलात्मक पात्रानुकूल संवाद और कलागत अनुशासन की शर्तों पर रूपायित होने वाली मूल्य दृष्टि सेवा सदन का महत्वपूर्ण शिल्पगत अवदान है। यद्यपि की सुमन का चरित्र एक वास्तविक वेश्या के प्रामाणिक अनुभवों की सहज परिणति न होकर प्रेमचन्द के अपने आदर्शों में ढ़ले चरित्र का उदाहरण ही अधिक है; लेकिन उसके प्रति प्रेमचन्द की मानवीय दृष्टि ही, जिसमें वेश्या के रूप में उसके प्रति लेशमात्र भी घृणा नहीं, युगीन परिस्थितियों में विशिष्टता प्रदान करती है। प्रेमचन्द वेश्यावृत्ति के विरोध में सामाजिक अभियान चलाते हुए भी उनके प्रति कहीं घृणा का भाव नहीं रखते है। इस अभियान में अग्रणी पद्म सिंह शर्मा

1. कुछ विचार, पृष्ठ 68
2. साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 69
3 हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, पृष्ठ 34
4. प्रेमचन्द : विरासत का सवाल —शिव कुमार मिश्र, पृष्ठ 18

कहते हैं, ''हमने वेश्याओं को नगर से बाहर रखने का प्रस्ताव इसलिए नहीं किया है कि हमें उनसे घृणा है। हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं ।................. यह हमारी कुवासनाएँ, हमारे सामाजिक अत्याचार, हमारी कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण कर लिया है''[1] कुँवर अनिरूद्ध सिंह इससे भी आगे जाकर हराम की कमाई को वेश्यावृत्ति का मूल कारण बताते हुए इस बुराई को समाज की व्यवस्था का ही अनिवार्य अंग होने पर जोर देते हैं, ''जिस दिन नजराना, रिश्वत, और सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जायेगी पहले नहीं...... ''[2] प्रेमचन्द उनके सम्मानपूर्वक जीने के अधिकार की लड़ाई लड़ते हैं।

स्पष्ट है, इस आन्दोलन को प्रेमचन्द भारतीय समाज में नारी की व्यापक पराधीनता के सवाल से जोड़कर देखते हैं। इस धंधे के पीछे छिपी वास्तविकता को वे विश्वसनीयता पूर्वक अंकित करते हैं, किन्तु उनके समाधान अवास्तविक एवं हवाई है। राम विलास जी लिखते हैं, 'प्रेमचन्द समस्या का समाधान देना चाहते थे, लेकिन उचित समाधान देने में ऐतिहासिक सीमाएं बाधक थीं। नारी की स्वाधीनता व सम्मान - रक्षा का प्रश्न देश की आम सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का ही अंग है ...... वे शक्तियाँ जिन्होंने सुमन को वेश्या बनाया, पीछे कलंकिनी बनाकर उसे गंगा की तरफ ठेला, समाज पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए थी। इनके बिरूद्ध संघर्ष-समस्या का समाधान यही हो सकता था। लेकिन पहले महायुद्ध के दिनों में स्वाधीनता आन्दोलन असंगठित और कमजोर था, इसलिए प्रेमचन्द उसे चित्रित नहीं कर सके। वे समाज की प्रगति रोकने वाली शक्तियों को देख, रहे थे लेकिन पुरानी व्यवस्था को बदलने वाली शक्तियाँ उनके सामने तब मैदान में आई न थीं।'[3]

'प्रेमाश्रम' (1922) हिन्दी में पहली बार, इतने विस्तृत फलक पर औपनिवेशिक व्यवस्था में ग्राम-जीवन को अंकित करने का उद्यम करता है। प्रेमचन्द ने इसमें एक ओर विभिन्न प्रकार के जमींदारों और उनकी मानसिकता को अंकित करने के साथ ही उनके समूचे तंत्र-कारिन्दे, कचहरी-कानून, पुलिस और दूसरा सरकारी अमला-अंकित किया है, वहीं वे किसान चेतना के विभिन्न स्तरों को भी अंकित करते हैं। 'सेवा सदन' की तरह यहाँ भी जमींदारी व्यवस्था को लेकर यूटोपिया का निर्माण करते हैं, जिसमें प्रेमशंकर जैसे जमींदार स्वेच्छा से अपने भूस्वामित्व को त्याग देते हैं। फिर भी 'प्रेमाश्रम' वर्ग शत्रुओं की सघन पहचान और उनके बिरूद्ध किसानों की संगठित कार्यवाही की दृष्टि से, एक ऐतिहासिक महत्त्व की रचना होने का जीवन्त दस्तावेज है। रामविलास जी के शब्दों में कहें, 'न तो इसमें कोई एक व्यक्ति नायक है और न ही ज्ञानशंकर के सारे खलनायकत्व के बावजूद, कोई एक व्यक्ति इसका खलनायक है। यहाँ परस्पर विरोधी दो मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ ही आमने-सामने खड़ी हैं—नायक और खलनायक क रूप में। एक ओर लखनपुर के गाँव के किसान हैं, विकसित होती अपनी प्रतिरोध और संघर्ष क्षमता के साथ और दूसरी ओर ज्ञानशंकर के साथ उसका समूचा दमन-तंत्र है।' लखनपुर के ये किसान ही सामूहिक रूप में 'प्रेमाश्रम' के नायक हैं और अपनी पूरी शक्ति के साथ भारत में औपनिवेशिक व्यवस्था को सहायता पहुँचाता ज्ञानशंकर और उसका समूचा तंत्र ही प्रेमाश्रम का खलनायक है।

प्रेमचन्द अपने युग की सामाजिक -राजनीतिक आहटों के प्रति अत्यन्त सजग और संवेदनशील लेखक का उदाहरण हैं। प्रारम्भ में वे यूटोपियाई समाधान की ओर आकृष्ट हुए, लेकिन जैसे-जैसे सामाजिक राजनैतिक संघर्ष में तेजी आती है और

---

1. सेवा सदन, पृष्ठ 191
2. सेवा सदन, पृष्ठ 192
3 प्रेमचन्द्र और उनका युग, पृष्ठ 40

उसमें जनता की व्यापक हिस्सेदारी बढ़ती है, वे यथार्थ के कठोर धरातल पर उतर आते हैं। इस दृष्टि से रंगभूमि (1925) व्यापक बहुवर्णी यथार्थ पर उतरता दिखाई देता है। इसमें नवविकसित पूंजीवाद और भारतीय परम्परा का द्वन्द्व दिखाई देता है। सूरदास अपनी जिस जमीन और उसके माध्यम से भारतीय किसान के नैतिक संस्कारों—धरती माँ होती है और माँ बेची नहीं जाती— को बचाने की लड़ाई लड़ता है, उस पर अन्ततः ज्ञानसेवक का अधिकार हो जाता है। लेकिन प्रेमचन्द औद्योगिक पूँजीवाद को विजयी दिखाकर भी, सूरदास को कहीं हताश नहीं दिखाते।

'कायाकल्प' (1926), की असफलता और आलोचना के बाद प्रेमचन्द विस्तृत फलक वाले सामाजिक-राजनीतिक घटना-प्रसंगों वाले उपन्यास की अपेक्षा घर-परिवार और उसके बीच स्त्री की नियति, संघर्षयात्रा पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हैं और 'निर्मला' (1927), 'प्रतिज्ञा' (1929), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1932) की रचना होती है।

प्रेमचन्द आर्य समाज द्वारा संचालित स्त्री-सुधार सम्बन्धी आन्दोलन में विश्वास करते थे, जिसका तेजस्वी रूप 'प्रतिज्ञा' में है। 'प्रतिज्ञा दो परस्पर विरोधी मूल्य दृष्टियों-एक ओर आर्यसमाजी सुधारवादी मूल्यदृष्टि है, जो विधवा विवाह का उत्साहपूर्ण समर्थन करती है और दूसरी ओर सनातन हिंदू दृष्टि है, जो ऐसे किसी संगठित प्रयास को अनाचार की संज्ञा देती है—के द्वन्द्व व तनाव को रेखांकित करने वाला उपन्यास है पुरुष वर्चस्व वाले समाज में, पति की मृत्यु के बाद, स्त्री की नियति कितनी विसंगतिपूर्ण है, 'प्रतिज्ञा' इसका स्पष्ट प्रमाण है इसके पूर्व की रचना 'निर्मला' ऊपर से देखने पर, मध्यवर्गीय समाज में निरन्तर पल्लवित-पुष्पित होती अनमेल विवाह की कहानी लगती है। लेकिन वह सिर्फ इतना ही नहीं है। भालचन्द्र की व्यवहारगत काईयांपन की पर्तें एवं निर्मला -मंसाराम के मानसिक द्वन्द्व व तनाव की रेखायें इसे वृहत्तर सन्दर्भ प्रदान करती हैं। निर्मला इस दृष्टि से भी प्रेमचन्द की महत्त्वपूर्ण रचना है, क्यों कि हिन्दी उपन्यास में मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन का विकास यहीं से शुरू होता है। सौतेले हमउम्र पुत्र मंसाराम के प्रति निर्मला का सहज आकर्षण और पिता की उम्र के पति मुंशी तोताराम के प्रति उसके गहरे विकर्षण भाव को प्रेमचन्द ने पर्याप्त कलात्मक निपुणता के साथ अंकित किया है।

'गबन' 'परिवार' से शुरू होकर 'राष्ट्र' में संक्रमित होने का उल्लेखनीय उदाहरण हैं। यह उपन्यास उस संक्रमण की शुरुआत है जिसमें वे गांधीवादी सोच की सीमाओं से बाहर निकलने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रेमचन्द में विकसित होती वर्ग चेतना का भी संकेत है, जिसका प्रौढ़ रूप गोदान में दिखाई देता है। 'कर्मभूमि' से पुनः परिवार को लांघ कर देश के घटनासंकुल और उथल-पुथल भरे जीवन के अंकन की ओर आकृष्ट होते हैं राष्ट्रव्यापी आर्थिक मन्दी और महात्मागांधी के नेतृत्व में चलने वाले स्वाधीनता आन्दोलन का परिवेश उपन्यास में पूरी तरह व्याप्त है। राष्ट्रीय आन्दोलन भले ही दिशाहीन और नेतृत्व विहीन हो, लेकिन छोटे-छोटे कोनों से उभरा स्थानीय नेतृत्व इस राष्ट्रव्यापी शून्य को भर पाने में सक्षम है। अछूतों के सामाजिक जीवन में स्वीकृति का सवाल, सामाजिक राजनैतिक कार्यकलापों में स्त्रियों की भूमिका, मंहगी अंग्रेजी शिक्षा का जनविरोधी चरित्र और देशी पूंजीवाद के सहयोग से सामाजिक राष्ट्रीय सुधारवाद की सार्थकता का प्रश्न भी कर्मभूमि को व्यापक जीवनसत्य से जोड़ता है। सुखदा के माध्यम से स्त्री का सामाजिक स्थिति का सवाल प्रेमचन्द उठाते हैं।

'गोदान' आश्रमवादी और सदनवादी समाधान पद्धति से प्रेमचन्द की मुक्ति का दस्तावेज है, लेकिन यह यात्रा 'गबन' से शुरू होकर 'कर्म भूमि' से होते हुए यहाँ तक पहुँची है। गोदान के केन्द्र में अवध के गाँव बेलारी का एक कृषक परिवार है- होरी का परिवार। 'होरी एक सामान्य धर्म-भीरू पर व्यवहार बुद्धि से युक्त व्यक्ति है, जो जीवन भर परिवार और समाज से तालमेल रखने की कोशिश में रहता है, और राष्ट्रीय जीवन की बड़ी समस्याओं के प्रति भी जागरुक है। प्रेमचन्द स्वयं कहते

हैं, ''इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख? सुख तो जब है, कि सभी मोटे हों।''' 'इस तालमेल की कोशिश में वह अपनी 'मरजाद' का ध्यान बराबर रखता है, जिस वजह से तालमेल बहुत बार टकराहट में बदल जाती है।' [1] अपने लिए वह कहता है, ''इस जनम में तो कोई आशा नहीं है माई! हम राज नहीं चाहते, भोग विलास नहीं चाहते, खली मोटा-झोटा पहनना और मोटा-झोटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।'' यही होरी की जीवनगाथा है, कृषक संस्कृति की गाथा।

'गोदान' की याता ऐसी बेजोड़ है कि उसमें अनवरत संघर्ष, करुणा, सहानुभूति और तासदीपूर्ण अन्त के बावजूद कहीं किसी एक के प्रति कड़वाहट नहीं आती, गहरा असंतोष तंत व व्यवस्था के प्रति उमड़ता-घुमड़ता रहता है। 'गोदान का समाज ठहरा हुआ है, सभी चरित जैसे प्रतीक्षारत हैं, जैसे कोई घटना घटेगी। लेकिन कोई घटना नहीं घटती। यह नहीं कि कुछ होता नहीं। हर बार यही लगता है कि घटना अनावश्यक बुलबुला बनकर समाज के अथाह ठहराव में विलीन हो जाती है' [2] गोदान में यथार्थवाद उपयोग की वस्तु नहीं है, वह एक दृष्टि बन जाता है, जिसके भीतर मानव का केन्द्रीय प्रश्न उठता हुआ दिखता है। 'गोदान अपने आप में पारस्परिक आर्थिक और सामाजिक शोषण का ऐसा लैंडस्केप है, जिसमें भारतीय किसान की पूरी तरह प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। चाहे वह पूरब का हो या पश्चिम का, उत्तर का हो या दक्खिन का। इस उपन्यास को चाहे जितने भी भाष्य दें परन्तु मूल भाष्य मानवीय तासदी ही है।' [3] 'इसकी मूल संवेदना देवत्व के जड़त्व (धर्मकारण) और जड़त्व के देवतव (अर्थ) से मुक्ति की है।' इस चिन्ता का केन्द्र मनुष्य है। इस अर्थ में मानुष सत्य ही उसकी रचना की केन्द्रीय संरचना है। ''गोदान' में 'होरी की ट्रेजडी' उस अंधेरे को घना करती है, जो प्रेमचन्द की मनोभूमि के भीतर पड़ी हुई दरार को दिखाने के साथ ही साथ गोबर के पुत्र मंगल पर केन्द्रित उनकी आशा-किरण का भी संकेत करती है। 'निर्मला' का लेखक 'गोदान' में अपनी आस्थाओं और विसंगतियों सहित चूर-चूर हो जाता है, जड़वादी मेहता और मालती आदि सभी दर्शक हैं, सिद्धान्तवादी है। अँधेरे को प्रकाश से भर देने का साहस उनमें नहीं है, क्योंकि उनके मानव सम्बन्धों और विचारों में अलगाव है।' [4]

धनिया होरी की पत्नी के रूप में, उसके परिवार का प्रमुख घटक बनकर उसे सम्पूर्णता देती हुई, कृषक-जीवन की गाथा को और अधिक ट्रेजिक बनाती है। प्रेमचन्द की महत्त्वपूर्ण सफलता रायसाहब अमरपाल सिंह के चरितांकन में देखती जा सकती है। जमींदारी व्यवस्था के प्रति गहरी घृणा और विरोध के बावजूद प्रेमचन्द उसके चरित को इकहरा और यांतिक नहीं होने देते। उसके चरित में प्रेमचन्द एक ढहती हुई सांमन्ती प्रथा का अंकन भी गहरी करुणा के साथ करते हैं। गोदान में होरी से सम्बद्ध कथा को मेहता और गोबर का चरित निरन्तर विश्लेषित करके 'जड़त्व' की स्थिति से मुक्ति का संकेत करता है। मेहता कहता है कि गाँव वालों की 'निरीहता जड़ता की हद तक पहुँच गयी है, जिसे कठोर आघात ही कर्मण्य बना सकता है। उनकी आत्मा जैसे सब ओर से निराश होकर अब अन्दर ही टाँगे तोड़कर बैठ गयी है। उसमें अपने जीवन की चेतना ही जैसे लुप्त हो गयी है।' [5] अतएव डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के शब्दों में कहें,—

1. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, में प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'गोदान की बुनावट' लेख, पृष्ठ 27
2. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, में विजयदेव नारायण साही का लेख, पृष्ठ 10
3. गोदान का महत्त्व —डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र में गिरिराज किशोर का लेख
4. गोदान का महत्त्व —डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, भूमिका, पृष्ठ 198
5. गोदान, पृष्ठ 294

'''निर्मला' और 'सेवासदन' के पात्र 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' और 'प्रेमाश्रम' में भिन्न दुनिया के अंग बन जाते हैं और 'गोदान' में 'निर्मला' और 'सेवासदन' के काल का समाज बिल्कुल उलट जाता है, प्रारम्भ का समूह बदलकर होरी आदि की दुनिया का समाज हो जाता है। फलत: कथा का रेखीय स्वरूप शिल्प की दृष्टि से अनुरूपों के सामंजस्य के स्थान पर विपरीतों के सामंजस्य पर केन्द्रित हो जाता है।'' 1

गोदान की औपन्यासिक संरचना पर एक प्रकार के विषाद की छाया है, लेकिन उसमें निराशा का रंग चाहे कितना हो गहरा क्यों न हो, अपने संवेदनात्मक प्रभाव में उसके नितान्त आशाहीन होने की शिकायत नहीं की जा सकती। यद्यपि प्रेमचन्द होरी की अंतिम यात्रा इन शब्दों में व्यक्त करते हैं— ''आज तीस साल तक लड़ते रहने के बाद वह ऐसा परास्त हुआ है, मानों उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है।'' परन्तु होरी हार कर भी पराजित नहीं है। उसकी निराशा में भी विजयी की संवेदनायें गुंथी हुई हैं— ''कौन कहता है, जीवन संग्राम में वह हारा है—इन्हीं हारों में उसकी विजय है.......उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजयपताकाएँ हैं।'' 'होरी का अन्त सांकेतिक रूप से उस जड़ीभूत समाज और सर्वग्रासी व्यवस्था के अन्त की अनिवार्यता की घोषणा करता है, जिसमें मध्ययुगीन सामाजिक अन्तर्विरोधों के अवशेषों के तौर पर धार्मिक विश्वासों की जकड़बन्दी तथा जाति-प्रथागत भेदभाव से पैदा हुई संकीर्णता भी विद्यमान है तथा साथ ही आधुनिक युगीन विकास की देन के रूप में पैदा होने वाले सामाजिक अन्तर्विरोधों के तौर पर गाँव और शहर का सांस्कृतिक-आर्थिक द्वन्द्व एवं किसानों, और सूदखोर महाजनों व व्यापारियों के निजी हितों की टकराहट भी विद्यमान है।' 2 इसलिए परमानन्द जी के विचार सत्य हैं—

''गोदान की संरचना पर विचार 'गोदान' के ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भ को छोड़कर असम्भव है। महज शिल्पगत विशेषताओं या सीमाओं की कोटि बनाकर 'गोदान' की संरचना के मर्म तथा वैशिष्ट्य को समझ पाना कठिन है'' 3

भाषा-शैली के स्तर पर भी 'गोदान' स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यास यात्रा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्रेमचन्द गोदान में पाठकों के सामने एक से अधिक रूपों में आते हैं और हर रूप के साथ उनकी भाषा-शैली भी बदल जाती है। जहाँ वे किस्सागो की भूमिका ग्रहण करते हैं, वहाँ भाषा बिल्कुल सरल एवं आंचलिक होती है। तद्भव शब्दों के साथ संस्कृत, अरबी-फारसी के उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो सामान्य बोल-चाल में घुल-मिल गये हैं। नागरिक पात्रों की कहानी कहते समय वे आंचलिक शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का अनुपात तो बढ़ जाता है, साथ ही अंग्रेजी के भी बहुत से शब्द आ जाते हैं। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की आसक्ति न तो किसी विशेष प्रकार के शब्द-चयन के प्रति है, न किसी विशिष्ट ढंग से वाक्य गठन के प्रति। अपनी विशिष्ट भाव-दशा को सफल अभिव्यक्ति देने में समर्थ शैली ही उनकी शैली है। इसीलिए इसमें भाषा के कई तेवर, कई रंग हैं। संवेदना की प्रगाढ़ अनुभूति और व्यापक बहुवर्णी यथार्थ इसकी पहली एवं अंतिम विशेषता है। 'यहाँ व्यक्ति भाषा, वर्ग भाषा, विभाषा, मानक भाषा, इन सबकी बहुस्वनिकता के साथ-साथ लगातार विशेषण-प्रयोग से लेकर लगातार क्रिया-प्रयोग तक की परिचायित सम्प्रेषणशीलता प्राप्त होती है।' 4 'इस दृष्टि से 'गोदान' में यदि वस्तुगत गद्य

---

1. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 203
2. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, में डॉ० राजेन्द्र कुमार का लेख 'गोदान की रचना दृष्टि', पृष्ठ 117
3. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र, में प्रो० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख 'गोदान की संरचना', पृष्ठ 99
4. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र में पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' का लेख, पृष्ठ 68

के दर्शन होते हैं, तो महाकाव्यात्मक गद्य के भी; यदि जीवन-यथार्थ के ग्राम्य गद्य के दर्शन होते हैं, तो नेताओं के भाषण और प्रोफेसरों के व्याख्यान वाले लचीले और मानक गद्य के भी। भाषा प्रयोग के इस वैविध्य के मूल में कथ्य और चरित्र की व्यक्ति-सामाजिक विविधता द्रष्टव्य है।' 1

प्रेमचन्द से प्रभावित होकर उन्हीं के ढंग के उपन्यासों की रचना में प्रवृत्त होने वाले उपन्यासकारों में विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, शिवपूजन सहाय, भगवती प्रसाद वाजपेयी, चण्डी प्रसाद हृदयेश, राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह, सियाराम शरण गुप्त आदि प्रमुख हैं। प्रेमचन्द युगीन लेखकों में विश्वंभर नाथ कौशिक विषयवस्तु और भाषा दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचन्द के सर्वाधिक निकट है। इन्होंने दो उपन्यास 'माँ' (1929) और 'भिखारिणी' (1929) लिखे, जो एक साथ प्रकाशित हुए। लेकिन विषयवस्तु की ऊपरी और आंशिक समानता के बावजूद कौशिक प्रेमचन्द की तरह बड़े पाट वाले लेखक नहीं हैं। 'माँ' में वे एक आदर्श माँ का चरित्र अंकित करने का लक्ष्य लेकर चलते दिखाई देते हैं, लेकिन आगे चलकर अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं और युग के सुधारवादी आग्रहों के परिणामस्वरूप वेश्यागमन की बुराइयों और उनसे बचाव के उपायों की ओर मुड़ जाते हैं। इससे रचना में विखराव दिखाई देता है, जो उसकी प्रभावान्विति को क्षति ग्रस्त करता है। 'भिखारणी' एक प्रेमकथा के रूप में लिखित रचना है, जिसमें घटनाओं का विकास नाटकीय होने के कारण सहज और विश्वसनीय नहीं बन पड़ा है। उपन्यास का प्रमुख बिन्दु प्रेम और कुलीनता का द्वन्द्व है, जिसमें अन्ततः कुलीनता की ही विजय होने से उपन्यास दु:खान्त रूप में समाप्त होता है। रामनाथ विवाह करके अपनी सुन्दर पत्नी के साथ नई गृहस्थी में रमकर अपने दु:ख को भुलाने का प्रयत्न करता है, लेकिन जस्सो (भिखारिणी) जीवन भर कुँवारी रहकर प्रेम के प्रति अपने एकनिष्ठ समर्पण का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वस्तुत: जस्सो की मनोव्यथा में निहित अवसाद और करुणा की भूमिका में ही उपन्यास का प्रमुख आकर्षण दिखाई देता है।

एक रचनारूप के तौर पर हिन्दी उपन्यास पश्चिम की देन है, लेकिन भारतेन्दु युग में ही अपनी सांस्कृतिक जड़ों की जो तलाश शुरू हुई थी, उसकी तेजस्वी उपस्थिति इस युग में भी देखी जा सकती है। संस्कृत साहित्य की गौरवशाली गद्य एवं आख्यान परम्परा के बावजूद उपन्यास के क्षेत्र में उसके पुरान्वेषण का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया। चण्डी प्रसाद शर्मा का इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व है कि उन्होंने उपन्यास के रूप में एक ऐसे साहित्य-रूप की परिकल्पना की जो कथानक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि अंग्रेजी उपन्यास के समान होने पर भी शैली और प्रकृति-चित्रण आदि में संस्कृत की आख्यान -परम्परा के निकट हो। इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने दो उपन्यासों-'मनोरमा' (1924) और 'मंगल प्रभात' (1926) की रचना की। 'मनोरमा' में लेखक पति के शंकाशील स्वभाव के कारण नायिका 'मनोरमा' के विचलन की कहानी कहता है। 'मंगल प्रभात' 'मनोरमा' की अपेक्षा बड़ा उपन्यास है, जो धार्मिक या नैतिक उपन्यास दिखाई देता है। सुभद्रा, अन्नपूर्णा, आनन्द स्वामी, राजेन्द्र और बसंत आदि के माध्यम से लेखक त्याग, सेवा और आत्मसंयम के गुणों को उद्घाटित करता है। दूसरी ओर प्रेमतीर्थ, संग्राम सिंह और यदुनंदन सिंह आदि खलपात्रों द्वारा सत् और असत् के संघर्ष में सत्य की विजय के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। कथानक के बीच-बीच में प्रकृति के विस्तृत अलंकृत वर्णन भी दिए गए हैं। शैली भी निष्प्राण हो गई है। इन उपन्यासों में घटनायें सीमित और संक्षिप्त हैं। कथानक का विकास बिना किसी जटिलता के सीधे-सादे रूप में होता है। चरित्रों का विकास द्वन्द्वों एवं मानसिक तनावों से प्राय: अछूता है। वे अच्छे और बुरे दो स्पष्ट सांचों में ढले हुए हैं। इनकी अलंकृत और कवित्वपूर्ण शैली ही इनका मुख्य आकर्षण है।

---

1. गोदान का महत्त्व —प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र में पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' का लेख, पृष्ठ 69

चण्डी प्रसाद शर्मा 'हृदयेश' से भिन्न शिव पूजन सहाय अपने 'देहाती दुनिया' (1926) में ठेठ देहात की भाषा का देशज मुहावरा ढूंढ़ और गढ़ रहे थे। 'देहाती दुनिया' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, ''मैं ऐसी ठेठ देहात का रहने वाला हूँ जहाँ इस युग की नई सभ्यता का बहुत ही धुंधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीजें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं—अज्ञानता का घोर अंधकार और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य! वहीं पर मैंने स्वयं जो कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों का त्यों इसमें अंकित कर दिया है। इसका एक शब्द भी मेरे दिमाग की खास उपज या मेरी कल्पना नहीं है। यहाँ तक कि भाषा का प्रवाह भी मैंने ठीक वैसा ही रखा है, जैसा ठेठ देहातियों के मुख से सुना है।'[1] 'देहाती दुनिया' का गाँव, अपनी निर्धनता, अज्ञानता, रूढ़ियों और अंधविश्वासों की मार सहता हुआ भारत का एक प्रतिनिधि गाँव है। कथानक पर्याप्त असंबद्ध है, लेकिन व्यंग्य और बिम्बों के मेल से बनी भाषा से चरित्रांकन की जो पद्धति अपनाई गयी है, उससे ही उपन्यास को एक विशिष्ट पहचान मिलती है।

सियाराम शरण गुप्त की वास्तविक पहचान एक कवि के रूप में रही है। लेकिन अपने तीन उपन्यासों, 'गोद' (1932) 'अंतिम आकांक्षा' (1934) और 'नारी' (1937), द्वारा उपन्यास के क्षेत्र में भी उनका सर्जनात्मक हस्तक्षेप कई कारणों से उल्लेखनीय है। अपने इन उपन्यासों में उन्होंने भारतीय ग्राम जीवन के सामान्य पात्रों को ही केन्द्र में रखा है। उपन्यास का फलक प्रेमचन्द के उपन्यासों की तरह बहुत व्यापक भले ही न हो, लेकिन ग्रामीण समस्याओं के प्रति युवा पीढ़ी की हार्दिक संलग्नता में ही उपन्यास का महत्त्व निहित है।

वृन्दावनलाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री जैसे लेखकों ने आगे चलकर भले ही अपनी मुख्य पहचान ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर लिखे जाने वाले उपन्यास लेखकों के रूप में बनाई हो, लेकिन अपने उपन्यास लेखन की शुरुवात इन लोगों ने सामाजिक उपन्यासों से ही की थी। 'लगन', (1928), 'संगम' (1929), 'प्रत्यागत' (1929), 'कुण्डलीचक्र' (1929) और 'प्रेम की भेंट' (1931) आदि सामाजिक उपन्यास हैं। प्रेमचन्दीय विचारों और इच्छाओं की ओर से काफी कुछ उदासीन रहकर वृन्दावन लाल वर्मा का 'गढ़ कुण्डार' ऐतिहासिक उपन्यास को एक आश्चर्यकारी प्रौढ़ता प्रदान करता दिखाई देता है। प्राचीन आदर्शों के नाम पर समूची जीवन परम्परा में पलते ढोंग और पाखण्ड को भगवती चरण वर्मा अपने चित्रलेखा में (1934) में निर्ममता पूर्वक उद्घाटित करने का प्रयास करते हैं। जयशंकर प्रसाद एवं भगवती प्रसाद वाजपेयी इस युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं, जिन्होंने इस युग में अपनी अलग पहचान बनाई। भगवती प्रसाद वाजपेयी ने प्रेम सम्बन्धों को लेकर अनेक उपन्यास लिखे। उनका पहला उपन्यास 'मीठी चुटकी' (1927) व्यक्तिवादी उपन्यासों की इस धारा की शुरुवात करता है। इसके पश्चात् 'पतिता की साधना' (1936), पिपासा, (1937), 'निमंत्रण' (1942) आदि उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं, जिसमें सामाजिक संघर्ष की उपेक्षा करते हुए अवास्तविक पात्रों की भावुकतापूर्ण स्थितियों का अंकन ही उनके अधिकतर उपन्यासों में है। उनकी भाषा भी इस भावुकता को झेलने-संवारने के कारण न तो प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा की भांति जीवन और धरती से फूटी भाषा है, न ही वह जैनेन्द्र और उग्र की भाषा की तरह नये आक्रामक तेवर वाली भाषा है। जयशंकर प्रसाद भी यथार्थवादी उपन्यासकार हैं, किन्तु यथार्थ के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण यथातथ्यवादी नहीं, बल्कि अनुभूति केन्द्रित था, क्योंकि प्रसाद मानसिक बुनावट को यथार्थ का हिस्सा मानते थे। 'वे आतिवादी आग्रहों के

---

1. देहाती दुनिया, भूमिका पृष्ठ 8

रचनाकार नहीं थे। प्रचार और कला दोनों की अद्वयता के आधार पर विकसित इस दृष्टि के कारण वे विषय और विषयी दोनों को महत्त्व देते हैं और यह दृष्टि उनके लेखन में क्रमशः कला से प्रचार माध्यम या सोद्देश्यता की ओर उन्मुख रही है। एक 'दिव्य आर्य संस्कृति' की स्थापना का द्विवेदीयुगीन आदर्श प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद दोनों में है परन्तु 'गोदान' तथा 'कंकाल' में ये आदर्श चरमराते हैं। कंकाल में चरमरा कर रह जाते हैं और गोदान में टूट जाते हैं। यह आर्य संस्कृति मैथिलीशरण गुप्त में भी है परन्तु वहाँ वह अंग्रेजों के विकल्प के रूप में प्रस्तुत है। जय शंकर प्रसाद की इस कल्पना में परम्परा की जीवंतता और विश्वास है, जबकि अन्य छायावादियों में अतीतस्मृति भी नहीं है।'[1] प्रसाद ने अपने उपन्यासों कंकाल, तितली, इरावती— में धार्मिक शवता और सामाजिक अपंगता, विद्रूपता को ऐतिहासिक सन्दर्भों से जोड़कर सांस्कृतिक प्रगतिशीलता का एक नया अर्थ भी देने का प्रयास किया है। 'प्रसाद जो कुछ जैसा है उसके साथ-साथ कैसा होना चाहिये की दृष्टि भी रखते हैं और यह दृष्टि व्यापक परिवर्तन की माँग से जुड़ती है परन्तु प्रेमचन्द की भाँति वे 'वर्तमान' को ही प्रमुख नहीं मानते बल्कि भविष्य को भी ध्यान में रखते हैं, जो उनके अतीत और करुणा' के सिद्धान्त से मेल खाता है।'[2] कंकाल (1929 ई०) की अन्तर्वस्तु वहीं है, जिसे प्रेमचन्द ने 'देवस्थान रहस्य' में उठा चुके थे। प्रसाद काशी में रहते थे और धर्मपीठों में धर्म के नाम से होने वाले अनाचारों से पूरी तरह परिचित थे। लेकिन उपन्यास में वे काशी तक ही सीमित न रहकर काशी के बहाने प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन और हरिद्वार आदि प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों को भी कथा में समेट लेते हैं और उस समाज का चित्र पूरी विद्रूपता के साथ प्रस्तुत कर देते हैं, जहाँ धर्म के नाम पर मनुष्य की हीन वृत्तियों का नंगा नाच होता है। उनके शब्द हैं,

> "क्यों, क्या हिंदू होना परम सौभाग्य की बात है। जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची- उसकी संस्कृति विडंबना, उसकी संस्था सारहीन और राष्ट्र बौद्धों के शून्य के सदृश बन गया है; जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनिक भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी है तब आपके इन खिलौनों से भला उनकी संतुष्टि होगी।"[2]

देव निरंजन के रूप में प्रसाद कथित साधु जीवन के ढोंग और पाखण्डों का निर्मम चित्रण करते हैं। तारा और घंटी जैसी युवतियाँ जिस यातना और उत्पीड़न का शिकार बनती हैं उसके पीछे इन धर्मपीठों की प्रमुख भूमिका रही है। कंकाल में प्रसाद ने हिंदू धर्म के अतिरिक्त मुस्लिम और ईसाई समाज में भी इस धार्मिक व्यभिचार की व्याप्ति को अंकित किया है। समाज और सम्प्रदाय कोई भी हो, स्त्री की नियति सब कहीं हाशिये पर है और कुलीनता तथा पुरुष के वर्चस्ववादी अहंकार का शिकार उसी को होना है। इसके बावजूद भी प्रसाद मनुष्य की सम्भावनाओं के प्रति कहीं भी उदासीन नहीं है।

कंकाल की कटुता और व्यंग्य धर्मिता को देखते हुए 'तितली' (1934) एक भिन्न धरातल की रचना है, जहाँ उपन्यास की विषयवस्तु और उसके निर्वाह में वे प्रेमचन्द के निकटवर्ती दिखाई देते हैं। जमींदार के कारिन्दों के अत्याचार धांधलियाँ और सरल हृदय जनता पर उनके अत्याचारों का अंकन प्रसाद ने गहरी करुणा और संवेदना के साथ किया है। तितली में दो समानान्तर कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। एक कथा इन्द्रदेव और शैल की दूसरी मधुवन व तितली की। तितली के माध्यम से

---

1. प्रसाद के सम्पूर्ण उपन्यास — सं० सत्य प्रकाश मिश्र, भूमिका पृष्ठ 15
2. वही,
3 कंकाल पृष्ठ 56

प्रसाद नारी जीवन के भारतीय आदर्श को मूर्त करते हैं। प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा प्रसाद के पात्रों में काल्पनिकता और भावुकता अधिक है। ग्राम संस्कृति के मोहक व भावपूर्ण चित्र तितली में बहुतायत से उपस्थित हैं।

'कंकाल' और 'तितली' के बाद इरावती' प्रसाद का अपूर्ण उपन्यास है। यह कामायनी के बाद की कृति है, जिसमें प्रसाद नाटकों की तरह से अतीत से वर्तमान की ओर प्रक्षेपण नहीं है, बल्कि इसमें वर्तमान मनुष्य की दशा के आधार पर अतीत को उदाहरण या आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुष्यमित्र के युवापुत्र अग्निमित्र और इरावती की प्रेमकथा के रूप में प्रसाद ने उसकी परिकल्पना की थी।

प्रेमचन्द युगीन लेखकों में अनेक कारणों से ऊषादेवी मित्रा का अपना अलग महत्त्व है। उन्होंने सर्वप्रथम एक नारी के रूप में नारी जीवन की समस्याओं को शब्द दिया। उनके उपन्यासों में 'वचन का मोल' (1936 ई०) 'जीवन की मुस्कान' (1939 ई०) और 'पिया' तथा 'पथचारी (1940 ई०) आदि में भारतीय नारी के अनेक रूप देखें जा सकते हैं। प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व उनके उपन्यासों की केन्द्रीय समस्या है जिसमें अन्ततः नारी ममता, सेवा, करुणा, त्याग आदि मानवीय अनुभूतियों के साथ खड़ी दिखाई देती है। विषमताओं और रूढ़ियों से पीड़ित नारियों के चित्रण में एक ऐसी करुणा और अवसाद सर्वत्र उपस्थित है जो उन विषमताओं के प्रति गहरे आक्रोश को जन्म देता है।

प्रेमचन्द युगीन लेखकों में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह भी अनेक कारणों से एक उल्लेखनीय लेखक हैं। प्रेमचन्द की भाँति इनकी रचना दृष्टि भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के ताने-बाने से तैयार हुई थी। इनके प्रमुख उपन्यासों में 'राम-रहीम' (1936), 'पुरुष और नारी' (1939 ई०) सूरदास (1942 ई०), संस्कार (1944 ई०) और पूरब और पश्चिम (1951 ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। 'राम-रहीम' अपने शीर्षक से हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द्र पर केन्द्रित उपन्यास होने का भ्रम देता है, किन्तु इसकी केन्द्रीय समस्या वेश्या जीवन से सम्बद्ध है। यह 'बेला' और बिजली नामक दो लड़कियों की कहानी है जो घटनाचक्र का शिकार होकर इस पेशें में आती हैं। इनके सम्पर्क में आये लोगों के रूप में लेखक ने भारतीय समाज के अनेक वर्गों, जातियों और धर्मों का अध्ययन पूरी विडम्बना के साथ अंकित किया है। 'सूरदास' में दो अंधे व्यक्तियों की भावनाओं को, ग्रामीण परिवेश में अंकित किया गया है। इन उपन्यासों की सबसे अलग विशिष्टता भाषा है। वे हिन्दी और ऊर्दू के मेल से क्लिष्ट शब्द-भण्डार वाली सानुप्रास भाषा के प्रति अधिक आग्रहशील हैं, जो उनके उपन्यासों की पठनीयता को प्रभावित करती है। उनकी भाषा में सामान्य जन-जीवन की अनुभूतियाँ नहीं हैं। विषय और प्रसंग के बाहर, दार्शनिक युक्तियों और प्रकृति-चित्रण के नाम पर बेजान, बोझिल और अलंकृत भाषा का घटाटोप उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी सीमा है।

(3) स्वतंत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग

प्रेमचन्द के जीवन काल मे तथा उनके परवर्ती दौर में, हिन्दी उपन्यास अनेक नवीन दिशाओं के संधान और अन्वेषण में सक्रिय दिखाई देने लगते हैं। प्रेमचन्द में यथार्थ के जिन दो आयामों—सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक का उद्घाटन हुआ वे प्रेमचन्द के बाद अलग-अलग धाराओं में बँटकर अपनी धारा की अन्य अनेक सूक्ष्म बातों से संश्लिष्ट होकर बहुत तीव्र और विशिष्ट रूप में विकसित होते गये। अतः एक ओर मनोविज्ञान की धारा बही, तो दूसरी ओर समाज चेतना की। सामाजिक चेतना से सम्पन्न उपन्यासकारों की दो धारायें स्पष्टतः दिखाई देती हैं जो अन्तर्वस्तु एवं शिल्प दोनों ही बिन्दुओं पर अलग-अलग हैं। इन सामाजिक उपन्यासकारों में एक धारा समाजवादी या प्रगतिवादी उपन्यास की है, जो अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द के उपन्यासों की सामाजिक परम्परा में आते हुए भी उससे अलग हैं। दूसरी धारा उन उपन्यासों की है, जो

सामाजिक जीवन के यथार्थ को तो लेते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि मार्क्सवादी नहीं होती। ये उपन्यास भी प्रेमचन्द के उपन्यास से अलग हैं, यद्यपि उन्हीं की परम्परा में आते हैं, अलगाने वाला बिन्दु है, यथार्थवादी दृष्टिकोण। इन लेखकों ने भले ही प्रेमचन्द के समान राजनैतिक परिपक्वता का परिचय न दिया हो, लेकिन अपने समाज के बहुवर्णी यथार्थ को इन लोगों ने पर्याप्त विश्वसनीयता के साथ अंकित किया है। इनमें पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', निराला, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि आते हैं, जिनकी अपनी कुछ विशिष्ट पहचान है।

इन धाराओं के समानान्तर ही ऐतिहासिक उपन्यास की धारा भी दिखाई देती है जिसका प्रतिनिधित्व वृन्दावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री करते हैं। इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास की निम्नलिखित धारायें हैं, जो शिल्प के धरातल पर अपनी निजी विशिष्टतायें लिये हुए हैं—

1. मनोवैज्ञानिक उपन्यास
2. सामाजिक उपन्यास
   (क) सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास
   (ख) प्रगतिवादी या समाजवादी उपन्यास
3. ऐतिहासिक -सांस्कृतिक उपन्यास

प्रेमचन्द ने उपन्यास में 'मानव चरित्र के अध्ययन' पर बल देकर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के उदय की परिस्थितियाँ उद्घाटित कर दी थी, जिसे जैनेन्द्र के 'परख' (1929) एवं इलाचन्द्र जोशी, के 'घृणामयी' (1929) ने पूर्ण परिपक्वता दी। जैनेन्द्र का उदय हिन्दी में एक प्रखर औपन्यासिक प्रतिभा के रूप में हुआ। उनकी यह प्रखरता व्यक्ति-मानव को उपन्यास के अध्ययन का विषय बनाने में परिलक्षित हुई है। व्यक्ति मानव के रचनादृष्टि का केन्द्र होने के साथ उपन्यास का शिल्प भी सम्पन्नतर हुआ। जैनेन्द्र ने बाहरी घटनाओं के संघात में व्यक्ति को उपस्थित न कर उसके आन्तरिक तनावों को उपस्थित किया और इस प्रयोजन के लिए व्यक्ति चेतना की गहराइयों में जाने वाली आधुनिक औपन्यासिक प्रविधियों का विनियोग भी। 'जैनेन्द्र को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास को एक गहरी शिल्प-सजगता दी। उपन्यास का यह रूपान्तरण भारतीय चेतना के विकास का एक साहित्यिक प्रतिफल भी था। पश्चिम के मानवतावादी विचारों के प्रभाव से हमारे यहाँ इसी दुनियाँ में मनुष्य के कल्याण की जो चेतना विकसित हुई, उससे मनुष्य और उसके समाज की तात्कालिक चिन्तायें हमारी साहित्य सृष्टि की प्रेरणास्रोत हुई।' [1] प्रेमचन्द एवं उनके युगीन कथाकारों में मनुष्य को समझने का प्रयास व्यक्ति सामान्य की चारित्रिक सम्भावनाओं को लेकर था। मनुष्य के प्रति इस चिन्ता में मध्यकालीन सामाजिक चेतना जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच किसी तरह के अलगाव का भावना का अभाव था-अनिवार्य निषेध था। इन कथाकारों ने मानव-व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाज के उपेक्षित वर्ग को साहित्यिक अर्चना का अर्ध्य देते हुए की। जैनेन्द्र से हिन्दी उपन्यास में व्यक्ति को मनुष्य-चरित्र की सामान्यताओं से अतिरिक्त एक सर्वथा विशिष्ट अस्तित्व के रूप में समझने का उपक्रम हुआ। यह उपन्यास में सामान्य मनुष्य-चिन्ता से व्यक्ति-विशेष की चिन्ता का ग्रहण था, जिसे स्वातंत्र्योत्तर युग में अज्ञेय, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश ने नया तेवर एवं संघर्षशील क्षमता से जोड़ा।

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, नवल किशोर, पृष्ठ 46

मनोवैज्ञानिक उपन्यास यात्रा में व्यक्ति-मनुष्य को महत्त्व देने का अर्थ था पाप-पुण्य और अच्छाई-बुराई के परम्परागत रूढ़ विभाजन का अस्वीकार। जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में व्यक्ति को महत्व देते हुए प्रचलित नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाते। स्त्री और पुरुष के बीच विवाहेतर प्रेम भी सम्भव है और वह पूरी भावात्मक निष्ठा लिये हो सकता है, यह पहली बार हिन्दी में जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रदर्शित हुआ। जहाँ इस दृष्टि से वे अग्रगामिता का परिचय देते हैं, वहीं व्यक्ति की एकान्त चिन्ता उनके उपन्यासों की सीमारेखा बन जाती है। 'जयवर्धन को छोड़कर उनके सभी उपन्यास स्त्री-पुरुष के बीच अधिक मानवीय सम्बन्धों की चिन्ता तक सीमित हैं, मनुष्य के बुनियादी अभावों की चिन्ता को अपने सर्जनात्मक कर्म का विषय नहीं बनाते। इस कारण उनके कृतित्त्व की मानवीय अर्थवत्ता प्रेमचन्द की तुलना में बहुत सीमित हो जाती है। इसका परिणाम उनकी कृतियों में वैविध्य के अभाव और दोहराव में भी लक्षित है।' [1]

जैनेन्द्र की यात्रा 'परख' (1929) से शुरू होकर 'दशार्क' (1985) तक जाती है। स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिस्थितियों ने उनकी उपन्यास यात्रा-'सुखदा' (1952), 'विवर्त' (1953), 'व्यतीत' (1953) 'जय-वर्धन' (1956), 'मुक्तिबोध' (1965), 'अनन्तर' (1968), 'अनामस्वामी' (1974) और 'दशार्क' (1985) -में नये भावबोध एवं मनोवैज्ञानिक गहनता से समृद्ध किया, किन्तु स्वतंत्रतापूर्व प्रेमचन्दोत्तर युग में 'सुनीता' (1935) एवं 'त्यागपत्र' (1937) उनकी महत्त्वपूर्ण खोज है। 'परख' प्रेमचन्द के समय में ही हिन्दी उपन्यास संसार में आ गया था, जिसमें एक युवती के वैधव्य को केन्द्र में रखकर उसके जीवन में घटित द्वन्द्वों और तनावों की खोजबीन करते हैं। समाज यहाँ भी है, पर प्रेमचन्दीय समाज से भिन्न अर्न्तमन की स्थितियाँ प्रधान है। यही से वे 'प्रेमिका' व 'पत्नी' के द्वन्द्व को भी रेखांकित करते हैं! जैनेन्द्र 'प्रेम' व 'विवाह' को दो भिन्न और समांतर स्थितियों के रूप में स्वीकार करते दिखाई देते हैं— प्रेम में निजता होती है, जबकि विाह एक सामाजिक कर्म है। 'सुनीता' रबीन्द्र के 'घरे-बाहिरे' [2] व 'चार अध्याय' [3] के जबाब में लिखा गया है— 'रवीन्द्र नाथ ने सामाजिक यथार्थ की अपनी रचना में मानों रक्षा की है, गिरस्ती टूटी नहीं है। पत्नी द्वारा पश्चाताप कराया गया है और जो नायक महिमामय रूप में कथा के आरम्भ में अवतरित हुआ है, अन्त की ओर उसे ही स्खलित और परास्त होकर मुँह बचाकर भाग जाना पड़ा है। गिरस्ती तो सुनीता में भी नहीं टूटी है, लेकिन जिस भाँति उसकी रक्षा हुई है वह पलायन का प्रकार नहीं है।' [4] उन्होंने बाहर को निरे आक्रमण के रूप में घर के भीतर प्रविष्ट नहीं किया, हरिप्रसन्न की वहाँ अपेक्षा है, जबकि 'घरे-बाहिरे' का संदीप उनके अनुसार मानो 'बाहर की ओर से प्रहार' है। इससे स्पष्ट है कि "सुनीता' की कथा जिन्दगी की पहचान से नहीं लिखी गयी—'एक विचार, या कहिए प्रश्न, लेखक के मन में उदित हुआ और उसके लिए कथा की आवश्यकता हुई। सुनीता की सारी कथा तद्विचाराधीन कल्पना के आधार पर बुनती गयी है।' [5] परिणामतः 'घरे-बाहिरे' के पात्र जहाँ विश्वसनीय हैं, 'सुनीता' के पात्र इतने विलक्षण, लोकातीत आचरण के पुतले हो गये हैं कि हम उन्हें समीप नहीं पाते। रवीन्द्रनाथ में घटनाओं के पीछे एक सुनिश्चित और सुनिर्धारित तर्क सदैव उपस्थित रहता है, जो जैनेन्द्र के सुनीता में नहीं है। हिंसा-अहिंसा का द्वन्द्व ही सुनीता का केन्द्रीय कथ्य है। अपने प्रति हरिप्रसन्न की हिंसा को वह अपनी अहिंसा से विजित करना चाहती है, लेकिन

1 आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता —नवल किशोर, पृष्ठ 47
2. 'ये और वे' में रबीन्द्र से भेंट
3. 'स्वयं जैनेन्द्र अपनी दृष्टि में —जैनेन्द्र : व्यक्ति, कथाकार और चिन्तक, पृष्ठ 108
4 वही, पृष्ठ 108-109
5 वही पृष्ठ 108

सुनीता की निर्णय हीनता उसके द्वन्द्व को प्रभावित करती है जिसके कारण वह न तो लौटकर पति का ही वरण कर पाती है और न अपनी सारी कथित वितृष्णा के बावजूद हरिप्रशन्न के आकर्षण को छोड़ पाती है। उपन्यास में हरिप्रशन्न को एक क्रान्तिकारी बताया गया है, लेकिन उसे जो व्यक्तित्त्व दिया गया है, वह अत्यन्त विपन्न व दयनीय है।सुनीता में चित्रित संसार वाह्य यथार्थ से भिन्न है, विच्छन्न है। पात्र किसी गहरे मानवीय साक्षात्कार से नहीं गुजरते हैं।

'त्यागपत्र' नारी जीवन के चित्रण की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इसमें बुआ के माध्यम से जैनेन्द्र एक बार फिर स्त्रीत्व एवं सतीत्व के प्रश्न खड़ा करते हैं। इसमें वे समाज के प्रचलित व स्वीकृत मूल्य दृष्टि को ही प्रश्नांकित करते हैं और अपनी अर्थात् समूचे समाज की उच्छल संवेदना को मृणाल के पक्ष में ढाल देने का साहसिक उपक्रम करते हैं एक स्त्री की असहाय व त्रासद यातना और असीम करुणा बुआ मृणाल की उन आत्मस्वीकृतियों में छिपी हुई है जो प्रमोद को पाकर फूट पड़ी है—

> ''........जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता, यह मेरी समझ से नहीं आता। तन देने की जरूरत मैं समझ सकती हूँ, तन दे सकूँगी—शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे ? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे मन माँगा जायेगा, तन भी माँगा जायेगा, सती का आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री-न, न, यह न होगा..........।'' [1]

एक यह दुनिया है जहाँ वस्तुओं के मूल्य-मान नष्ट हो गये हैं—जहाँ कोई रास्ता नहीं और एक वह जहाँ ''वस्तुओं का मान बँधा हुआ है और कोई झमेला नहीं है। जहाँ रास्ता बना-बनाया है और खुद को खोजने की जरूरत नहीं है। जिज्ञासा जहाँ शान्त है और प्रश्न अवज्ञा का द्योतक है।'' [2] प्रमोद क्या कर सकता है? बुआ को क्या वह इस रास्ते से कुछ हटा सकेगा। उधर बुआ की मान्यताओं को तर्क से जाँच पाना कठिन है। पति के घर को त्यागकर, सामाजिक दृष्टि में व्यभिचार समझे जाने वाले रास्ते पर आकर भी वह समाज को तोड़ना फोड़ना नहीं चाहती—

> ''समाज टूटा तो हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।'' [3]

यह वह ज्ञान है, जो बुआ को आत्मव्यथा में मिला है।मृणाल अर्थात् बुआ गांधीवादी दर्शन की प्रतिरोधहीनता से सब कुछ बर्दाश्त करती है-किसी के प्रति कटुता के बिना। 'परख' की कट्टो भी चूड़ियाँ, टिकुली की डिबिया और सुहाग के अन्य उपकरण गरिमा को लौटाकर उसके और सत्यधन के जीवन से बाहर हो जाती है। इसीलिए नवल किशोर की धारणा है कि जैनेन्द्र पर गांधी चिंतन का ऋणात्मक प्रभाव है। इस ऋणात्मक प्रभाव के कारण ही एक निष्क्रिय प्रतिरोधहीनता उनमें सर्वत्र बनी रहती है। अपनी इस प्रतिरोधहीनता को ही वे एक दर्शनिक और नैतिक आयाम देने का प्रयास करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है, 'जैनेन्द्र प्रेम की भावात्मक स्वतंत्रता को ही मान्यता देते हैं, उससे आगे परम्परागत नैतिक विधान को चुनौती नहीं देते.........' [4]

---

1. त्यागपत्र से
2 वही,
3. वही,
4. आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, पृष्ठ 52

मन की जटिल ग्रन्थियों को जो भाषा जैनेन्द्र ने दी है, उसका अपना स्वभाव है, अपना व्याकरण है, अपना राग रंग है। ''मन में एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी, जो होता था, कुछ होना चाहिये था, कुछ करना चाहिये, कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों सब गड़बड़ ही गड़बड़ है।'' भाषा के स्तर पर यह बिखराव, छोटे-छोटे वाक्य खण्ड, मन की भीतरी व सघन पर्तों के अनुरूप हैं, जो जैनेन्द्र की एक सचेष्ट रूपविधि है। जैनेन्द्र की वाक्य रचना अपने आप में अलग , अपना नियम स्वयं ही है। मृणाल 'त्यागपत्र' में ही महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखती। बल्कि हिन्दी उपन्यास यात्रा की महत्त्वपूर्ण चरित्र है। 'मृणाल के कैशोर्य और यौवन के बीच की रेखा बहुत धुँधली है। अपनी अभिभाविका भाभी के कठोर व्यवहार से वह असमय बड़ी, वयस्क, दु:ख की संवेदना से परिचित हो जाती है—शीला के भाई से प्रेम उसके लिए प्रेम के नाम पर एकमात्र मूल्यवान अनुभव है जिससे प्रयत्नपूर्वक अपने को अलगाने की कोशिश ने उसमें भयानक गाँठे उत्पन्न कर दी हैं। जीवन के अगले हिस्से में वह जिन पुरुषों को शरीर या मन देती है, वह उसका अपने उस क्रूर समाज से बदला है जिसने उसे अवांछित बंधन से तब बाँध दिया जब उसका मन कहीं भी बँधने के लिए तैयार नहीं था।' [1]

इस मनोवैज्ञानिक उपन्यास-यात्रा में जैनेन्द्र के साथ इलाचंद्र जोशी की सक्रियता भी उल्लेखनीय है। 'परख' के प्रकाशन वर्ष ही जोशी जी के 'घृणामयी' का प्रकाशन होता है,लेकिन रचनात्मक स्तर पर 'परख' जिस परिवर्तन और उससे जुड़ी संभावनाशीलता का परिचय देता है, 'घृणामयी' उससे दूर है। स्वतंत्रतापूर्व युग में 'सन्यासी' (1940) उनका अगला पड़ाव है, किन्तु इसी वर्ष अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' का प्रथम भाग लिखकर हिन्दी उपन्यास जगत में शिल्प विधि की क्रान्ति कर दी। सन् 1944 में इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। अपने प्रकाशन के बाद से ही यह रचना और आलोचना दोनो ही स्तरों पर चुनौतीपूर्ण रहा है। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दों में 'चीजों को देखने के दृष्टिकोण का बदलाव ही शेखर की रचना का कारण है। शेखर का देखना मूलत: वही से शुरू होता है जहाँ होरी' मरता है।' [2] अन्य स्थल पर डॉ० मिश्र लिखते हैं—

> ''अपने आप में अज्ञेय की हिन्दी उपन्यास को यह एक बड़ी देन है कि उन्होंने साहसपूर्ण स्वीकृति को मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया और उसके लिए जैनेन्द्र की तरह से किसी दर्शन या आदर्श की वैसाखी नहीं पकड़ी। प्रेमचन्द के उपन्यासों में पाये जाने वाले सरलीकरणों या प्रश्नों के उत्तरों की अपर्याप्तता से अज्ञेय परिचित थे और 'गोदान' तक पहुँचते -पहुँचते प्रेमचन्द भी दिये गये उत्तरों से असंतुष्ट थे। 'गोदान' उत्तरहीनता का उपाय है— वह प्रश्नों और समस्याओं को खुला छोड़ देता है।'' [3]

इसलिए इस आलोचक की दृष्टि में 'शेखर एक जीवनी' ऐसी रचना है जिसकी रोशनी उससे पहले के और बाद के उपन्यास साहित्य पर पड़ती है। 'शेखर को पढ़ते ही लगता है कि न केवल उपन्यास लिखने का तरीका बदल गया बल्कि उपन्यास पर विचार करने का तरीका भी बदल गया। द्विवेदीयुगीन मनोरंजन और सोद्देश्यतावादी धारणा से सहसा हम वैचारिकता और

---

1. उपन्यास का पुनर्जन्म —डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 40
2. शेखर : एक जीवनी : विविध आयाम —सं० डॉ० रामकमल रायस में डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख —'शेखर : एक जीवनी—परम्परा, तकनीकि और उपलब्धि', पृष्ठ 109
3. वही, पृष्ठ 108

उद्देश्य की खोज के जगत में प्रवेश कर जाते हैं।'[1] डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी भी कुछ इसी स्वर में 'शेखर : एक जीवनी' को रेखांकित करते हैं—

"अज्ञेय ने जब शेखर लिखा उस समय हिन्दी उपन्यास घटना और कथानक बहुलता से ऊपर उठकर चरित्रांकन को महत्व दे रहा था। चारित्रिक व्यंजना की दृष्टि से प्रेमचन्द निश्चय ही हिन्दी के शीर्षस्थ उपन्यासकार रहेंगे। पर चरित्र के आचरण और व्यवहार की दृष्टि से गहरे स्तर पर संगति की खोज अभी आरम्भ न हुई थी। जैनेन्द्र के साथ अज्ञेय इस दिशा के आरम्भिक प्रयोगकर्ताओं में है, जिन्होंने चरित्र के आचरण को समझने के लिए समग्र व्यक्तित्त्व और उसकी सम्भावनाओं को समझने का उपक्रम शुरू किया।"[2]

इतना ही नहीं 'शेखर के माध्यम से लेखक ने न केवल हिन्दी उपन्यास के आभ्यन्तर को रूपान्तरित किया, वरन् स्वयं अपनी रंगहीन और सपाट कविता-भाषा का गहरा और रचनात्मक संघात पाया। अज्ञेय की काव्य भाषा का पहला महत्त्वपूर्ण साक्ष्य 'शेखर' ही है, जो स्वयं गद्य-भाषा की उपलब्धि है, पर जिसने लेखक की अब तक प्राय: भटकती और लड़खड़ाती कविता-भाषा को भी एक नयी रचनात्मक दिशा की ओर उन्मुख किया।'[3]

'शेखर : एक जीवनी' की कथानक - संघटना अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों के कथानकों जैसा सपाट और एक गति नहीं है, वरन् इसके तल में अनेक कथासूत्र हैं जो विभिन्न, स्वतंत्र दिशाओं में बढ़ते हुए कथानक को विकसित करते हैं। घटना, कथानक और चरित्र से आगे बढ़कर वह प्रधानत: संवेदन को अंकित करता है। स्थूल विवरण और इतिवृत्त पर बल न देने के कारण उपन्यासकार यह सम्भव पाता है कि वह मानव व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में देखे और उसकी संगति समझ सके। 'शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज a record of personal suffering है।'[4] परन्तु यहाँ समाज और युग बोलता है, जो वाह्य यथार्थ के चित्रात्मक रेखांकन के रूप में नहीं, जीवन-मूल्यों और आदर्शों के रूप में है। 'शेखर' में निजी व्यक्तित्त्व और राष्ट्रीय जीवन को संपृक्त रूप में प्रस्तुत करने की रचनात्मक चेष्टा बराबर मिलती है और इसमें सन्देह नहीं कि शेखर का निजी व्यक्तित्त्व जितना निजी है, राष्ट्रीय जीवन की चिन्तना उतनी ही व्यापक है। राष्ट्रीय जीवन को अधिकाधिक उन्मुक्त, समतल और सर्जनात्मक बनाने की बुनियादी चिन्ता शेखर के व्यक्तित्त्व में गहरे स्तर पर है।'[5] 'शेखर: एक जीवनी' जो कि शेखर नामक व्यक्ति का जीवन चरित्र है— का 'कथानक घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विजन को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।'[6] इस प्रक्रिया में 'शेखर' विद्रोह का आख्यान है और यह विद्रोह वैयक्तिक स्तर पर जितना उत्कट है, जीवन के वाह्य क्षेत्रों में उतना प्रखर भी। शेखर की विद्रोही चेतना का प्रारम्भिक प्रस्फुटन इस यातना की छटपटाहट —एक ओर बालक की जन्मजात प्रवृत्ति का उन्मेष और दूसरी ओर उसे कॉट-छाँट कर रूढ़ एवं टाइप बनाने वाली शक्तियाँ—माँ, बाप, ब्राह्मण, भिक्षु-अतिथि, शिक्षक, जाति-धर्म—में निहित है। शेखर का विद्रोही मन इन सबका

1. शेखर : एक जीवनी : विविध आयाम, में डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 103
2. शेखर : एक जीवनी : विविध आयाम —सं० रामकमल राय, में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख —'शेखर : व्यक्तित्व का नया आयाम, पृष्ठ 20
3. वही, पृष्ठ 20
4. शेखर : एक जीवनी
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख —शेखर : व्यक्तित्व का नया आयाम, पृष्ठ 28
6. शेखर : एक जीवनी, भूमिका

अपने स्तर पर विरोध करता है। परंपरा का एक शिकंजा शिक्षा के रूप में व्यक्ति की गरदन को कसता है। टाइप बना देने वाली इस शिक्षा के विरोध में शेखर कान्वेंट स्कूल की सिस्टर के प्रति विद्रोह करता है स्कूली अनुशासन के प्रति विद्रोह करता है। शेखर तीन महती प्रेरणाओं का उल्लेख करता है—भय, अहंता व सेक्स। घास-पूस से मढ़े शेर से डरने वाला शेखर अपनी अहंता के बल पर अनुभव करता है कि डर डरने से होता है। डर पर आघात करने की बात इस विद्रोही के मन पर ऐसे जम जाती है कि वह हर व्यवस्था, शासन के डर पर भी आघात करता है। असल में शेखर जैसा जन्मजात विद्रोही का व्यक्तित्त्व कुछ ऐसा तरल परिवर्तनशील और संवेदनशील होता है कि हर नया सौन्दर्यानुभव उसके लिए अपने व्यक्तित्त्व को अतिक्रान्त करने का और नये स्तर पर उसे पुन: संगठित करने का कारण बनता है। सौन्दर्य में हरखना, लय में डूबना, महावीर की नग्न प्रतिमा में सौन्दर्यानुभव करना शांति की मधुर शीतल साँस मानो उसके मन पर एक हल्का सा परिमल बिखेर गयी।' [1]
—वह सोचता है—

> ''मैं अकेला इसलिए हूँ कि मैं उस प्रकार का नहीं हूँ, जिसे लोग अच्छा कहते हैं, मैं पढ़ता नहीं हूँ, किसी का कहना नहीं मानता ढीठ हूँ, लड़ाका हूँ, शैतान हूँ'' [2]

वस्तुत: ये निर्णय समाज के हैं, जो शेखर पर आरोपित कर दिये गये हैं। शेखर आत्मलीन होकर, अपने को रूढ़ समाज से काटकर 'सविनय अवज्ञा' के ढंग पर विद्रोह करता जान पड़ता है। वह इसीलिए देख पाता है कि ''उसके संसार के अलावा एक और संसार है, जिसमें पक्षी रहते हैं, जिसमें स्वच्छन्दता है। जिसमें विश्वास है, जिसमें स्नेह है, जिसमें सोचने की या खेलने की अबाध स्वतंत्रता है जिसका एक मात्र नियम है— वही होओ जो कि तुम हो'' [3] यही विद्रोही चेतना सामाजिक-विषमता से जुड़कर उसे क्रान्तिकारिता के मार्ग की ओर उन्मुख करती है। उसकी धारणा है—

> ''मुझे तो फाँसी की कल्पना सदैव मुग्ध की करती रही है........ एक सम्मोहन एक निमन्त्रण जो कि प्रतिहिंसा के इस यंत्र को भी कवितामय बना देती है। '' [4]

इसीलिए डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र की धारणा सत्य है कि''शेखर में सर्वत्र 'मुक्ति', 'स्वतंत्रता', 'निर्बन्धता', 'अपने को जानने और पाने की खोज-'आत्म की खोज' (युंग के अर्थ में) और यौन वर्जनाओं से मुक्ति की कोशिश संरचना तत्त्व के रूप में विद्यमान है जिसका प्रमाण बचपन से नौजवानी तक के अनुभव पर केन्द्रित यह उपन्यास ही है जहाँ चेतन-अचेतन के खजाने से अनेक मूल्यवान रत्न और आकांक्षाएँ स्मृति के माध्यम से रूप ग्रहण करती हैं।'' [5]

शशि के साथ सम्बन्ध और उसकी सघन-प्रगाढ़ संवेदना शेखर की मुक्ति और सार्थकता दोनों ध्रुवान्तों से जुड़ी है। दोनों प्रेम के उस स्तर तक जाते हैं जहाँ तक पहुँचने के लिए उन्हें बहुत कुछ तोड़ना पड़ा और नये सिरे से सिरजना पड़ा। शेखर कहता है—

> 'सबसे पहले तुम, शशि। इसलिए नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आयी या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है—ठीक वैसे ही जैसे तलवार में धार का होना सान की पूर्व कल्पना है।'

---

1. शेखर : एक जीवनी : विधि आयाम — सं० डॉ० रामकमल राय, में चन्द्रकान्त बांदिवडेकर का लेख —'शेखर के विद्रोह का स्वरूप', पृष्ठ 33
2. शेखर : एक जीवनी, भाग एक, पृष्ठ 57
3. वही, पृष्ठ 61
4. वही, पृष्ठ 15
5. शेखर : एक जीवनी : विविध आयाम —सं० डॉ० राम कमल राय, में डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 107

शशि के प्रति शेखर का प्रेम भाई-बहन के सामान्य प्रेम से कुछ विशिष्ट है। शेखर और शशि दोनों बचपन से ही एक-दूसरे को भाई-बहन के रूप में जानते हैं, यद्यपि भाई-बहन की तरह दोनों साथ नहीं रहते।

वस्तुतः 'शशि और शेखर का सम्बन्ध जिस रूप में प्रस्तुत हुआ है, उसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, वह 'स्वस्थ संयत सम्बन्धातीत सम्बन्ध है, जिसके लिए समाज अब तक कोई नाम गढ़ने में समर्थ नहीं हो पाया है। सच पूछें तो शशि-शेखर का सम्बन्ध समाज द्वारा निर्धारित प्रेम-सम्बन्ध को गहरी चुनौती है।' [1] वे समाज द्वारा बनाये गये सम्बन्ध मर्यादाओं के शिकार तो होते हैं, पर ज्यों ही उन्हें स्थिति का ज्ञान होता है वे उस जड़ सड़ी गली मर्यादा को चुनौती देते हैं। उन्होंने शशि-शेखर की कहानी के माध्यम से एक ऐसे मानवीय, निसर्गसिद्ध सम्बन्ध की खोज की है जो किसी जड़ मर्यादा की देन न होकर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सहज रूप से मानवीय उष्मा से उभरा है।

'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय ने आत्म विश्लेषण, पूर्व-दीप्ति, चेतना-प्रवाह तथा क्लोज-अप, स्लो-अप जैसी अनेक नूतन शिल्प प्रविधियों का प्रयोग किया है। चरित्र-नायक 'शेखर' जीवन के अंतिम क्षणों में अपने सम्पूर्ण अतीत का प्रत्यवलोकन करता है। इस विषय के प्रतिपादन के लिए लेखक के लिए नवीन शिल्प विधि का प्रयोग किया, जो विविधता लिये हुए है। शेखर जहाँ अपने विगत जीवन का पुनर्वेक्षण करता है वहाँ लेखक ने 'पूर्व-दीप्ति' या 'कट बैक', शिल्प-प्रणाली का प्रयोग किया है और जहाँ शेखर अपने गत जीवन से एकाकार हो जाता है वहीं उपन्यास लेखक प्रथम पुरुष वर्तमान काल में कथा कहने लगता है। अतः डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दों में कहें तो, 'यह उपन्यास पात्र, घटना, ऐतिहासिकता, यथार्थ का स्थूल चित्रण, काल की ऋजुरेखीय अवधारणा और निष्कर्षात्मकता, स्थिरता आदि को नकारता है और उपन्यास की वह परिभाषा निर्मित करता है जो शेखर के आधार पर ही बनती है।' [1]

सामाजिक-यथार्थवादी धारा में महत्त्वपूर्ण बदलाव स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास यात्रा में ही स्वस्थ एवं विकसित रूप में दिखाई देता है। किन्तु स्वतंत्रतापूर्व युग में निराला का 'कुल्लीभाट' (1939), 'बिल्लेसुर बकरिहा' (1942) उपन्यास विधा को एक अलग पहचान देता है। भगवती चरण वर्मा की शुरुवात भले ही 'पतन' (1928) से हुई हो, लेकिन उनकी पहचान 'चित्रलेखा' (1934) से बनी, जो प्रेमचन्द के समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इन्होंने उपन्यास को फिर मनोरंजन से जोड़कर देखा और प्रेमचन्द परम्परा के कथाकारों पर आरोप लगाया कि वे उपन्यास के मूलतत्त्व के रूप में स्वीकृत मनोरंजन की उपेक्षा करते हैं।

> ''प्रगतिवाद में राजनैतिक दर्शन और समाजशास्त्र को साहित्य का साक्ष्य माना गया है, आनन्द और मनोरंजन को केवल साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। मेरे मत में यही प्रगतिवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है, क्योंकि प्रगतिवाद में कला के मूल स्रोत को ही अस्वीकार करके साहित्य की महत्ता हरण कर ली गयी है।''

'चित्रलेखा' पाप-पुण्य की समस्या से अलग, चित्रलेखा की कथा है और जीवन के भौतिक धरातल पर वासना के माध्यम से प्रेम की उदात्त भूमि पर आरोहण करने का चित्रलेखा का प्रयत्न इस उपन्यास का मुख्य विषय है। चित्रलेखा में अपेक्षाकृत

---

1. गोपाल राय का लेख, शेखर : एक जीवनी:: विविध आयाम —सं० डॉ० रामकमल राय
2. शेखर : एक जीवनी : विविध आयाम —सं० डॉ० रामकमल राय, में डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख —'शेखर : एक जीवनी : परम्परा, तकनीक और उपलब्धि, पृष्ठ 112
3. साहित्य की मान्यताएँ पृष्ठ 26

अधिक साहस और स्पष्टता से हमारी पूर्वस्वीकृत धारणाओं पर प्रश्न-चिन्ह लगाया गया है। इस उपन्यास की कथा की घटनायें और पात्रों की स्वभाव विशेषतायें इतनी घुल-मिल गई हैं कि ऐसी एक भी घटना या प्रसंग अलग नहीं किया जा सकता, जो कथा के विकास एवं मोड़ की दृष्टि से अनावश्यक हो। ऐसा एक भी प्रसंग नहीं है जो पात्रों के स्वभाव वैशिष्ट्य से मेल न खाता हो। प्रसंग और पात्र-वैशिष्ट्य की यह एकात्मकता शिल्प की दृष्टि से अद्भुत है। उपन्यास की एक अन्य विशेषता उसकी नाट्यात्मकता है। भोगी चित्रगुप्त और योगी कुमारगिरि के बीच झूलती हुई चित्रलेखा इस नाटकीय विधान के केन्द्र में है।

उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता का अवदान स्वातंत्र्योत्तर युग में ही प्रमुखता के साथ उपस्थित है। प्रगतिवादी धारा के राहुल, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, अमृत राय, भैरव प्रसाद गुप्त, भीष्म साहनी जैसे अन्यान्य रचनाकारों में यशपाल 'देशद्रोही' (1943ई०), 'दिव्या' (1945) के साथ एवं राहुल जी 'सिंह सेनापति' (1942) के साथ स्वतंत्र्योत्तर युग के महत्त्वपूर्ण पड़ाव है, जो वहाँ पर शोध का विषय होगा।

ऐतिहासिक उपन्यास धारा प्रेमचन्द के समय में ही 'गढ़कुण्डार' (1928, वृन्दावन लाल वर्मा) के द्वारा अपनी अलग पहचान रखे हुए है, किन्तु प्रेमचन्द के बाद वृन्दावन लाल वर्मा ने 'मृगनयनी', अचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू' हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाण भट्ट की आत्मकथा' द्वारा इसे गहरा सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक तेवर दिया। शिव प्रसाद मिश्र ने 'बहती गंगा', (1952ई०), शिव प्रसाद सिंह ने 'नीला चाँद' (1988) लिखकर ऐतिहासिकता को समकालीनता से जोड़ दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस धारा की शिल्प विधि का अध्ययन स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में ही युक्तिसंगत है। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' (1946 ई०) यद्यपि की स्वतंत्रतापूर्व युग में लिखा गया, किन्तु इसकी चेतना स्वातंत्र्योत्तर युग की चेतना की आहट है, जो कहीं-कहीं समकालीनता का भाष्य भी है। अतः इसे स्वातंत्र्योत्तर युगीन शिल्प विधि के शोध में रेखांकित करूँगा।

अध्याय : 3

स्वातंत्र्योत्तर भारत और हिन्दी उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर भारत और हिन्दी उपन्यास

स्वातंत्रयोत्तर भारत : विविध दिशाएँ

सन् 1945 से अब तक का समय भारत के ही नहीं विश्व इतिहास में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। द्वितीय महायुद्ध की भीषण घटना से मनुष्यता का जो विध्वंस हुआ उसके साथ पुरानी दुनिया अपने समस्त जीवन्त मूल्यों तथा जीवनमान के साथ ध्वस्त हो गई। साम्राज्यवादी मूल्य, पूँजीवादी व्यवस्था, तानाशाही तथा धर्मकांड का ढांचा धीरे-धीरे निर्बल होकर खण्ड-खण्ड होने लगा। यह समय नवोन्मुक्त देशों की स्वतंत्रता के साथ एशिया, अफ्रीका की तीसरी दुनिया के लिए नवजागरण का परिवेश लेकर उपस्थित हुआ। सन् 1947 में भारत विभाजित होकर स्वाधीन हुआ और उसी के साथ नई समाज रचना और मानवीय मुक्ति की नई चुनौतियाँ, नये प्रश्न उत्पन्न हुए। सही माने तो 'सन् 47 में चौदह अगस्त की रात और 15 अगस्त की सुबह के बीच देश की स्वाधीनता बहुत कुछ एक झटके की तरह आई। वैसे एसे बहुत लोग थे जो इस रात सोये ही नहीं थे, लेकिन सोकर सुबह उठने वालों को कहीं कुछ अजूबा और चमत्कार नहीं लगा। बलतंत सिंह के 'काले कोस' के निसार की तरह जो लोग मर-पिचकर पाकिस्तान गये थे,उन्हें एक सा ही आसमान देखकर हैरत हुई थी और कृष्णा सोबती की 'आजादी शम्मोज़ान' की तरह जो लोग यहीं रह गये थे, गली में हुई सजावट और झंडियों के बावजूद उनके लिए कमरे की उन्हीं बोसीदा दीवारों और झिलंगी खट पर वे ही पुरने और कुछ बीमार से ग्राहक थे, जिनके साथ उसे पहले की तरह ही वही सब कुछ करना था।'[1]

स्वातंत्र्योत्तर भारत में व्यक्ति और समाज दोनों ही एक विशिष्ट संक्रमण प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। यह काल देश के आर्थिक नव-निर्माण के समान ही नये जीवन निर्माण का काल भी बनकर सामने उपस्थित हुआ। संविधान बना, पंच-वार्षिक योजनाएँ बनी, प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था के नारे भी गूँजे परन्तु इन

1. हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृ० 181

सभी के बीच व्यक्तिवाद, वर्गवाद, भ्रष्टाचार तथा विघटन के तत्त्व तेजी से जनमानस में पसरने लगे। अपना सब कुछ देश की स्वाधीनता के लिए फूँककर जो लोग स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े थे और अपना सब कुछ लुटाकर स्वतंत्र भारत से उन्होंने जो आशाएँ लगा रखी थीं, वे सब धूल धूसरित हो गये थे क्यों कि स्वतंत्रता के बावजूद जहाँ एक ओर सब कुछ विघटित हो रहा था, वहाँ व्यापक दृष्टि से नव-निर्माण की कोई आशा उन्हें नहीं दिख रही थी। नेहरू भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के बिरूद्ध लम्बी-चौड़ी घोषणाओं के बावजूद, तेजी से फैलती और पसरती इस हाहाकारी बाढ़ के आगे असहाय थे। 15 अगस्त 48 को यशपाल ने 'विप्लव' के दो पृष्ठों पर फहरते हुए राष्ट्रीय झण्डे का चित्र देते हुए मोटे-मोटे अक्षरों में जो लिखा उसकी आहट वर्तमान सन्दर्भ में भी सुनाई देती है— '15 अगस्त 1948 के दिन' और इसके बाद की पूरी इबारत इस प्रकार है: '15 अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन सरकारी इमारतों पर फहरायेगा जिनसे जनता के दमन के और सार्वजनिक अधिकारों को कुचलने के हुक्मनामें निकलते हैं। पंद्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन थानों और कोतवालियों पर फहरायेगा जहाँ रोटी की पुकार करनेवाले निहत्थे किसानों और मजदूरों पर आक्रमण किया जाता है। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन जेलों पर फहरायेगा जिनमें निरपराध राजनैतिक बन्दी सिसक रहे हैं; यह राजनैतिक बन्दी भूखी जनता के वही प्रतिनिधि हैं जिन्होंने ब्रिटिश दमन की चोट को सबसे आगे बढ़कर सहा था। पन्द्रह अगस्त के दिन इस झण्डे के नीचे जमींदारशाही सैकड़ों वर्षों तक निरीह जनता को लूटने रहने की वीरता के परिणाम में अपनी आय से अधिक मुआवजे का आश्वासन पायेगी। पन्द्रह अगसत के दिन राष्ट्रीय झण्डे की छत्र-छाया में पूँजीपति शाही अपनी मुनाफे की लूट पर राष्ट्रीय अधिकार को आँच न आने का आश्वासन पायेगी।'[1] थोड़ा आगे चलकर मुक्तिबोध अनुभव करते हैं, ''आज 1963 में 46 वर्ष में मैं उद्विग्न हूँ। मेरा इंसान अपने देश में भी रहकर एकांतिक और उन्मूलित जीवन व्यतीत कर रहा है। इसलिए आज Lonliness नि:संगता का प्रश्न इतना प्रचण्ड है— Modernism का अंग । चाहे पालो नेरूदा हो या ज्यांपाल सार्त्र हो, या नेहरू हो Modernist लेखक एक अजीबोगरीब व्यक्तित्त्व रखता है, उसका एक कारक है उसकी उन्मूलितावस्था।''

1 विप्लव, अगस्त 48

स्वतंत्रता के बाद भारत ने विज्ञान और टेक्नोलाँजी के क्षेत्र में बुनियादी ढाँचे से सम्बन्धित क्षमता के विस्तार और अनुकूल नीतिगत उपायों से भारत ने अच्छी प्रगति की है। कृषि के क्षेत्र में विज्ञान और टेक्नोलॉजी के उपयोग के अच्छे परिणाम सामने आये हैं। अनुसंधान और विकास के लिए पर्याप्त राशि का प्रावधान करके जब इस नीति को सुनियोजित तरीके से लागू किया गया तो इसके नतीजे हरित क्रांति के रूप में आये, परन्तु इसका लाभ छोटे एवं मझोले किस्म के किसानों को न होकर बड़ी जोत वाले किसानों को हुआ। हरित क्रांति ने भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्न का आयात करने वाले देश से अनाज के निर्यातक देश में बदल दियाँ जहाँ 1950-51 में देश में 5.1 करोड़ टन अनाज पैदा हुआ, वहीं 20 वीं सदी के अन्तिम दशक में 20 करोड़ टन से भी ऊपर पहुँच गया। हाल के वर्षों में नाइट्रोजन युक्त उर्वरकों के उत्पादन के लिहाज से दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा उत्पादक और उपभोक्ता बन गया है। श्वेतक्रांति ने भारत को दुनियाँ में दूध का सबसे बड़ा उत्पादक बना दिया नीली क्रांति ने मत्स्य उत्पादन को 52 लाख टन तक पहुँचा दिया परमाणु उर्जा के क्षेत्र में भारत के पास नयी परमाणु सामग्री के इस्तेमाल से लेकर बिजली पैदा करने में काम आने वाले विशाल रिएक्टरों की स्थापना तक के लिए तमाम तरह की टेक्नोलॉजी उपलब्ध है। अग्नि-2 एवं पोखरण-2 ने भारत को नई ऊचाइयाँ दी हैं। इस क्षेत्र में अनुसंधान से कई तरह की सहायक टेक्नोलॉजी उभरकर सामने आयी है, जिनसे कृषि, चिकित्सा, विज्ञान और पर्यावरण प्रबंध जैसे क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति हो रही है। सुपर कम्प्यूटर, क्रायोजेनिक टेक्नोलॉजी ने तो भारत को अग्रिम पंक्ति के देशों अमेरिका, जापान के समक्ष खड़ा कर दिया है। रक्षा अनुसंधान और विकास संठन की 52 प्रयोगशालाओं कई महत्त्वपूर्ण तकनीकि क्षेत्रों में क्षमता हासिल कर ली है। उनके प्रयासों से चालक रहित विमानों, निर्देशित प्रक्षेपास्त्रों, ऊँचाई पर उड़ने वाले टोही विमानों का पता लगाने वाले रडार, लक्ष्य का पता लगाकर कई दिशाओं में मार करने वाले टारपीडो, उच्च सॉफ्टवेयर, एसाल्ट ब्रिज और जीवन रक्षक प्रणालियों का विकास किया गया है। दूर संवेदन के लिए निचली कक्षाओं में चक्कर लगाने वाले उपग्रहों से लेकर दूरसंचार, प्रसारण, मौसम विज्ञान और प्राकृतिक आपदाओं की चेतावनी देने वाले उपग्रहों को अब देश में ही बनाया जा सकता है। आज भारत चन्द्रमा पर मिशन भेजने की तैयारी कर रहा है। फिर भी भारतीय विज्ञान और टेक्नोलॉजी की ताकत अधिकतर भारतीयों के जीवन में झलकती दिखाई नहीं देती। इस समृद्ध एवं विकसित भारत के समानान्तर ही वह भारत भी है जहाँ कि 40% आबादी गरीबी की रेखा

के नीचे जीवनयापन कर रही है। उसमें भी 30% आबादी तो भूखी और नंगी है, झोपड़ियों में रहती है और आदमी द्वारा बनायी या प्रकृति द्वारा लायी गयी विपदाओं की आये दिन शिकार होती है। उसे जीने का अधिकार भी अभी हासिल नहीं है। हालाँकि सत्ता उन्हीं के नाम पर चलती है, वह सत्ता के आकलनों से बहिष्कृत है। सत्ता परमाणु बमों से लैस है और हजारों मील दूर मार करने वाले एंटी बैलिस्टिक मिसाइल से सज्जित है, लेकिन समाज न केवल भौतिक साधनों के मामले में गरीब है बल्कि दिमागी तौर पर भी अभी आदिम अवस्था में है। वह धार्मिक अंधविश्वासों में जकड़ा है और जरा सा अवसर आने पर धर्म के नाम पर मरने-मारने के लिए तैयार हो जाता है।

सत्ता और समाज का यह अलगाव बहुत व्यापक और क्रूरता की हद तक गहरा है। वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था इस अलगाव को नहीं देख पा रही है। समाज की चिन्ताओं से मुक्त होकर सत्ता मोह से ग्रसित है। सत्ता के लिए किसी भी प्रकार के समझौते, गठबंधन करने के लिए तत्पर है। राजनीति का अपराधीकरण एवं अपराधी का राजनीतिकरण के बीच आज की भारतीय राजनीति विकसमान है। चम्बल के बीहड़ों से लेकर आर्थिक अपराधी भी इसमें फल फूल रहे हैं।राष्ट्रवाद, मानवतावाद, गांधीवाद, समाजवाद, साम्प्रदायिक सद्भाव, समतावादी समाज, सामाजिक न्याय, गरीबों का कल्याण, देशभक्ति जैसे मुहावरे आज केवल नारे हो गये हैं। राजनीतिज्ञों, भ्रष्ट अफसरों, महत्वाकांक्षी उद्योगपतियों, चालाक वित्त व्यवस्थापकों और तस्करों, गुंडों, अपराधियों के बीच जितने सम्बन्ध अब दिखाई दे रहे हैं, वे स्वतंत्रतापूर्व के परिवेश में अनुपस्थित थे। आजादी के बाद एक अच्छा प्रशासन तंत्र बनाना हमारे लिए एक नया काम था, साथ ही एक नई पीढ़ी को भी तैयार करना था। अतः यह आवश्यक हो गया कि राजनैतिक नेतृत्व और प्रशासन अपनी गुणवत्ता बनये रखे। जहाँ तक प्रशासन के व्यवहार का प्रश्न है, वह अहंकारी है, नियम अत्यधिक जटिल होने के कारण जनता और प्रशासन के बीच की दूरी अत्यधिक चौड़ी है। नये उद्देश्यों के लिए न तो हमने अपने ढाँचे को बदला और न ही इसके प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी, राजनैतिक नेतृत्व भी उसे अच्छा मार्ग न दिखा सकी। पूर्व नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक टी० एन० चतुर्वेदी ने अपने एक लेख में लिखा—''आजादी के बाद हमने ब्यूरोक्रेसी को निर्माण और लोककल्याण की जिम्मेदारी भी दे दी। वह इसके लिए न तैयार थी न प्रशिक्षित। इसने न सिर्फ उसे दंभी बनाया बल्कि कोटा-परिमिट और इंस्पेक्टर राज की अवधारणा को भी पुख्ता किया। वह लोकजीवन पर हावी हो गई,

सब कुछ उसके नियंत्रण में आ गया। इन पचास वर्षों में वह धीरे धीरे इससे बाहर निकल रही थी और अपनी जिम्मेदारी समझने लगी थी। लेकिन आर्थिक उदारीकरण के साथ अचानक उसकी पूरी भूमिका पलट गई। पहले पचास वर्षों में उसने सीखा कि हर चीज पर नियंत्रण करो, हर चीज अपनी निगरानी में कराओ, जनता को चीजें अपने ढंग से नहीं करने दो। क्योंकि न सिर्फ तुम पर निर्माण का दायित्व है, बल्कि उनका कल्याण किसमें है, यह भी तुम्हीं ठीक से समझ सकते हो। अचानक उदारीकरण के साथ उसकी यह भूमिका बदल गई।'

हमारा प्रखर राष्ट्रवाद आजादी के बाद अपनी खुद की पहचान बढ़ाने तथा आम आदमी की जरूरत के प्रति जागरूकता पैदा करने के रास्ते से भटक कर तथाकथित विकसित देशों का पिछलग्गू बनने लगा, उनकी कॉर्बन कॉपी बनने के जुनून में अपने मूल्यों, परम्पराओं एवं संस्कारों से विमुख हो उठा है, तभी तो देश को 'आपातकाल' एवं 'बाबरी मस्जिद विध्वंस' से रूबरू होना पड़ा। 'हिंद स्वराज' के नये संस्करण की भूमिका में गांधी जी ने लिखा था, 'जिस संसदीय लोकतंत्र के लिए मैं अभी प्रयत्नशील हूँ वह मेरा अंतिम आदर्श नहीं है।' उनका आदर्श था ग्राम स्वराज्य जिसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति, तबका और क्षेत्र एक साथ ऊपर उठे। उन्होंने कसौटी तैयार की कि हर काम करने से पहले यह देखा जाना चाहिये कि उससे समाज की सबसे निचल सीढ़ी पर बैठे आदमी को कितना फायदा होता है। स्वतंत्रता के बाद का भारत गांधी के स्वप्न को भूलकर जाति, वर्ण, धर्म पर आधारित समाज बनाने में लग गया। मण्डल कमीशन के लागू होने के बाद जहाँ एक ओर पिछड़े एवं दलित वर्गों में जागृति आयी, वहीं दूसरी ओर ऊँची जातियों एवं पिछड़े वर्गों के बीच समरसता और भ्रातृत्व पैदा करने के बदले उसे स्पष्ट रूप से दो हिस्सों में बाँट दिया है और यह आपसी कटुता का कारण बन रही है। बिहार जैसे राज्य में जाति के आधार पर चुन-चुन कर कत्लेआम मचा है। इस आरक्षण व्यवस्था का मूल उद्देश्य समाज के गिरे तबके का उठाना था, लेकिन उसके बदले इस समाज का प्रभु वर्ग ही समृद्ध से समृद्धतर हो रहा है। समाज का दबा कुचला वर्ग आज भी दो जून की रोटी के लिए तरस रहा है, उसकी पत्नी-बच्चे दवा के अभाव में दम तोड़ रहे हैं, नाबालिग-अबोध बच्चे बलात्कार के शिकार हो रहे हैं। जनसत्ता, 14 नवम्बर 1999 के अंक में छपे ये रिपोर्ट स्वाधीन भारत में इस वर्ग की तस्वीर को बहुत बेबाकी से स्पष्ट करते हैं—

- 'हम तेरह लड़कियों को 500-500 रूपया देकर उसने खरीदा। बहुत दिन हम ट्रेन में चले। रात में वो हमारा मुंह बांध देता था। दो लड़कियां मर गई। उन्हें चलती ट्रेन से उसने नदी में नीचे फेंक दिया ....'
- 'अम्मा पैसा दे....' छ: सात बरस का बच्चा लाल बत्ती पर भीख मांग रहा है। उसका कमीज कमर से ऊपर है। उसका जननांग काट दिया गया है। पेशाब की बूँद गिर रही है। बार-बार इस ओर इशारा करता है।
- मेरे जीजा जी और चाचा मुझे एक अंधेरे घर में ले गये। कहा, तुम्हारी बीमारी ठीक करने के लिए तुम्हें यहाँ सात आदमियों के साथ बारी-बारी से सोना पड़ेगा।' ये लड़की नौ साल की है ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो स्वाधीन, स्वतंत्र भारत के क्रूर सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करते हैं।

आजाद देश का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि स्वतंत्रता के 53 वर्ष बाद भी शासक वर्ग न तो अंग्रेजों द्वारा विकसित शिक्षा प्रणाली की गुणवत्ता को कायम रख सके और न ही अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने वाली शिक्षा संस्कृति विकसित कर सके। पूरी ाक्षा पद्धति 'परीक्षा प्रणाली' तक सिमट गयी है, सभी का उद्देश्य परीक्षा उत्तीर्ण करने तक सीमित रह गया है। इस कागजी शिक्षा के कारण ही रोजगार की अपार सम्भावनाओं के बावजूद बेरोजगारी बढ़ रही है। विगत 53 सालों की हमारी उपलब्धियाँ यह हैं कि हमने शिक्षा के माध्यम से वर्गीय समीकरण को पहले से भी ज्यादा जटिल बना दिया है। स्कूल हैं तो शिक्षक नदारद। शिक्षक हैं तो ब्लैकबोर्ड नहीं, पुस्तकालय नहीं, लैबोरेटरीज में प्रयोग के साधन नहीं। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षक की तादाद बढ़ी है लेकिन उनमें शिक्षक कहलाने के गुण कम नजर आते हैं।

अन्तत: अली सरदार जाफरी के शब्दों में कहें—

कौन आजाद हुआ

किसके माथे से गुलामी की सियाही छूटी

मेरे सीने में अभी दर्द है, महकूमी का

मादरे हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही

खंजर आजाद है सीने में उतरने के लिए

मौत आजाद है लाशों पर गुजरने के लिए...।[1]

आजादी के बाद भारत के इतिहास में बहुत से हादसे हुए हैं, जिनका प्रभाव भारतीय राजनीति पर ही नहीं सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्णायक रहा है। गांधी जी की हत्या सन् 1948 में, भारतीय संविधान की स्थापना 1950 में, चीन से अपमानजनक पराजय 1962 और 1971 में बंग्लादेश का विश्व मानचित्र में उदभव, 1990 में, देश की राजनीति का मंडलीकरण, 1992 में बावरी मस्जिद का विध्वंस और 1991 में आर्थिक उदारीकरण का उदय। इन सब हादसो का ऐतिहासिक -सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व तो है ही लेकिन 25 जून 1975 को लगाई गई इमरजेंसी इन सबके मुकाबले में हर तरह से अलग है, जो अपने बदले रूप में आज भी व्यवस्था में फल-फूल रहा है। 'आपातकाल ने भारतीय नागरिकों के सामने एक राजनैतिक दुर्घटना से अधिक एक नैतिक संकट उपिस्थत किया। यह एक ऐसी नैतिक त्रासदी थी जो न केवल हमारी लोकतान्त्रिक मर्यादाओं को ठेस पहुँचाती थी, बल्कि नागरिक की स्वतंत्रता छीनकर स्वयं मनुष्य को उसके मनुष्यत्व से वंचित करती थी। यह लोकतंत्र का संकट तो था ही, उन सब नैतिक-आध्यात्मिक मर्यादाओं का विखण्डन भी था, जिसके आधार पर भारतीय सभ्यता का आदर्श निर्मित हुआ था।'[2] इमरजेंसी अपने आप में रोग नहीं था। भारतीय व्यवस्था के रोगग्रस्त होने का वह लक्षण था। 1966 से देश की राजनीति, समाज और अर्थ व्यवस्था में जो अन्तर्विरोध पैदा हो रहे थे, उनको इन्दिरागांधी के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार संभालने में असमर्थ हो गयी, तो अपने निकम्मेपन के लिए इमरजेंसी की ओट ली। रेल हड़ताल, नवनिर्माण आन्दोलन और किसानों के आन्दोलन, मजदूरों के आन्दोलन, 1971 में तमिलनाडु के अन्दर उथल-पुथल और उत्तर पूर्व में जनता के आन्दोलन और बंगाल, आंध्र प्रदेश, केरल में नक्सवलवाद का उभार इस तथ्य को खोलते हैं, कि 1966 और 1975 के बीच भारतीय प्रजातंत्र अपने आप को असमर्थ पा रहा था। 12 जून का जस्टिस सिन्हा का फैसला तो एक बहाना था।उन्होंने राजतंत्र की मरम्मत करने के लिए लोकतंत्र को इमरजेंसी के वर्कशाप में बन्द कर दिया। इमरजेंसी लगाकर उन्होंने संविधान को गहरा झटका दिया; तमाम संस्थाएं जैसे संसद, न्यायपालिका, प्रेस और प्रशासन पर दहशतनाक

1. 'फरेब, पन्द्रह अगस्त और उसके बाद' नज्म से
2. निर्मल वर्मा, जनसत्ता, 25 जून 2000 में प्रकाशित लेख से

हमले किये। इसके अलावा आम लोगों को पीड़ा जनक तरीके से डराने के हथकंडे अपनाये गये, बस्तियों को उजाड़ने का काम इसी मकसद से किये गए।

इमरजेंसी का विरोध बड़े पैमाने पर हुआ। मोटे तौर पर चार प्रकार के आन्दोलन दिखाई देते हैं—

(1) 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के अनुरूप।

(2) गांधीवादी परम्पराओं के अनुसार सत्याग्रह और सिविल नाफरमानी का आन्दोलन चलाने की कोशिश की गई।

(3) सभा, रैलियाँ, प्रदर्शन इत्यादि कार्यक्रम

(4) भूमिगत आन्दोलन विशेषत: राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्यशैली के अनुरूप

संसद के अन्दर भी इमरजेंसी का विरोध किया गया था। किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह दिखाई देता है कि इमरजेंसी का विरोध एक सीधे टकराव की राजनीति के रूप में उभरकर नहीं आया। यह विरोध वैचारिक स्तर पर ही था आम जनता की सक्रिय भागीदारी से यह अछूता था, यद्यपि की जनता के मन में इमरजेंसी विरोधियों के प्रति सहानुभूति थी। लेकिन इस सहानुभूति के इस्तेमाल करने क साधन दो वर्ष के अन्दर भी नहीं बनाये जा सके। इमरजेंसी की चुनौती नयी थी, लेकिन उसके विरोध में खड़ी ताकतें अंग्रेजी साम्राज्यवाद से लड़े गये पुराने औजार ही इमरजेन्सी आन्दोलन में इस्तेमाल कर रही थीं। वे चुनावी राजनीति तक ही सीमित होकर रह गये थे। लोकतंत्र के लिए लड़ने वाले राजनैतिक दल अगर आम आदमी की राजनीति कर रहे होते तो इमरजेंसी के विरोध की लड़ाई दूसरी शक्ल ले लेती। इमरजेंसी के बाद जनता पार्टी की सरकार बनी लेकिन उसमें जो पार्टियाँ विलीन हुई थीं वे जेपी आन्दोलन के दबाव और इंदिरागांधी के चुनाव करवाने की घोषणा से उत्पन्न स्थिति की मजबूरी में एक हुई थीं। यह दबाव और मजबूरी का लगाव जब ढीला पड़ा और सत्ता की बन्दरबाट ही सबसे बड़ी प्रेरणा हो गयी तो जनता पार्टी बिखरी और टूटी और उसकी सरकार भी गिर गई। जनसंघ भारतीय जनता पार्टी बना, समाजवादियों के तीन-चार धड़े हो गये। कांग्रेस के जिस नेता को जहाँ सत्ता सुख दिखाई दिया, वहाँ चला गया; चरण सिंह का लोकदल भी बिखरा और इंदिरा गांधी की सत्ता में वापसी ने फिर इन पार्टियों को हासिये पर खड़ा कर दिया। अपने ही अंगरक्षकों की गोलियों से मारी गयी इंदिरा गांधी की मृत्यु ने देश को सिख

अलगाववाद और राष्ट्र के विखंडन के खतरे से अहसास कराया, पंजाब एवं देश के कुछ हिस्से दसो वर्ष तक जलते रहे। देश के जनमानस ने राजीवगांधी को ऐसा जबरदस्त बहुमत दिया जैसा पं० नेहरू को भी नहीं मिला था। वी० पी० सिंह राजीव गांधी के मंत्रिमण्डल से निकलकर शीर्ष स्थानों पर व्याप्त भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान में लगे और कांग्रेस के खिलाफ फिर एक गठबंधन बना। समाजवादी एवं जनसंघ की नवीन संस्करण भाजपा पुन: एक मंच पर दस्तक दी। 'इस चुनाव में पहली बार हमारी राजनीति के दो प्रेरक लेकिन वर्जित तत्त्व ऊपर आ कर स्वीकृत हुए— पहला जातिवाद का और दूसरा सांप्रदायिकता का। वी० वी० सिंह के आस पास बने राष्ट्रीय मोर्चे में जातिवादी शक्तियाँ जुटीथीं और भाजपा ने रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के प्रश्न को अपने राजनैतिक अजंडे पर चढ़ा कर साम्प्रदायिकता के मुद्दे को चुनावी मैदान में उतार दिया था।'[1] अब तक सभी पार्टियाँ चुनावी रणनीति में जाति का ध्यान रखती थीं लेकिन जातिवाद को एक स्वस्थ और रचनात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था। इसी तरह साम्प्रदायिकता का उपयोग कांग्रेस, जनसंघ आदि करते आये थे, लेकिन राजीव गांधी और कांग्रेस को हराने के लिए पहली बार खुल्लमखुल्ला हिन्दू कार्ड का इस्तेमाल किया गया। कांग्रेस हारी लेकिन वी०वी० सिंह की ग्यारह महीने और चन्द्र शेखर की चार महीने चली सरकार के दौरान मंडल और कमंडल ने अपने राजनैतिक, सामाजिक समाज को जातियों, उपजातियों, खाँचों और सम्प्रदायों में बाँटा। राजीव गांधी की निर्मम हत्या ने कांग्रेस को अकेली सबसे बड़ी पार्टी तो बना दिया लेकिन उसका बिखराव एवं वैचारिक क्षरण भी तेजी से हुआ। नरसिंह राव सरकार पाँच साल चला ले गये पर वे न तो जातिवादी ताकतों को रोक सके न साम्प्रदायिक ताकतों को और सामाजिक समरसता की भावना, गांधी के स्वप्नों का भारत खंडित हो गया। तब से हमारे राजनैतिक समाज का ऐसा विखंडन हुआ है कि किसी पार्टी को या व्यक्ति को बहुमत नहीं मिला। केन्द्र में आज भी सत्ता सुख के लिए जुटी भीड़ की सरकार है जो न तो अन्तर राष्ट्रीय बाजार की उन ताकतों के सामने खड़ी हो पाती है जिन्हें नरसिंह राव ने निमंत्रित किया था और न उसमें कोई वैचारिक स्पष्टता और दृढ़ता है जो देश की समस्याओं के अपने हल ढूंढ़ कर उन पर अमल कर सके। 'ये कमजोर सरकारें हमारे विखंडित राजनैतिक समाज की देन हैं क्यों कि विखंडित समाज पुष्ट और शक्तिशाली जनादेश नहीं दे सकता।'[2]

1 प्रभाष जोशी, जनसत्ता, 25 जून 2000 में प्रकाशित लेख से
2. प्रभाष जोशी, जनसत्ता, 25 जून 2000

सलमान रूश्दी ने कहा है कि इमरजेंसी 635 दिन लंबी अंधेरी रात थी। लेकिन इस अंधेरे में कुछ ऐसे सवाल पैदा हो गये जिनका अभी तक जबाव नहीं मिला। इन सवालों पर लोकतंत्र के लिए सक्रिय इमरजेसी विरोधी ताकतें भी गौर नहीं कर पाई। इमरजेंसी में वंशवाद का जन्म हुआ और संजय गांधी उसकी पहली पैदावार था। अब संजय गांधियों की हर पार्टी में लड़ी लग गयी है। राजनीति पर लंपटो, अपराधियों का बोलबाला उसी दौर में शुरू हुआ था, जो आज भी अपने क्रूरतम एवं वीभत्समम् रूप में जारी है। भ्रष्टाचार के विरोध में जेपी का आन्दोलन छिड़ा था। वह खत्म होने के बजाए व्यवस्था की नस-नस में दौड़ रहा है। इमरजेंसी के दौरान संविधान एवं लोकतांत्रिक संस्थाओं पर किया गया आक्रमण आज भी विद्रूपता की हद तक जारी है। आज की सरकार जो N D.A. के नाम पर सत्ता सुख भो रही है उसी ने संविधान समीक्षा का फैसला किया और उसके लिए संसद की पीठ के पीछे और राष्ट्रीय सहमति के बिना एक आयोग भी गठित कर दिया। नगर विकास मंत्री जगमोहन झुग्गी-झोपड़ी बस्तियों पर उससे कहीं बैड़े पैमाने पर बुलडोजर चलवा रहे हैं जो उन्होंने आपातकाल में दिल्ली के सुन्दरीकरण के नाम पर चलवाए थे। समाजशास्त्री सुरेन्द्र मोहन के शब्दों में—''भाजपा के नेतृत्व वाली राजग सरकार औद्योगिक संबन्ध अधिनियम में ऐसे संशोधन लाना चाहती है जो आपातकाल में लगाई गई पाबंदियों से कहीं ज्यादा खतरनाक हैं तो यह पूछना वाजिब ही है ऐसा क्यों है? उस अधिनियम के पाँचवे अध्याय को समाप्त करने की योजना है जो कर्मचारियों और श्रमिकों को स्थायी सेवा और उससे जुड़ने वाले सभी अधिकारों को खत्म कर देगी। जिस तीव्र गति से यह सरकार सार्वजनिक इकाइयों का निजीकरण कर रही है।वैसा नितांत पूँजीवादी सरकारें ही कर सकती हैं। आपातकाल में संजयगांधी राष्ट्रीय वस्त्र निगम को खत्म करके सभी कल कारखानों को उनके मालिकों को वापस लौटाना चाहते थे। वे सफल न हो पाए, परंतु अब तो राजग सरकार सीमा ही लांघ रही है।''[1] नामवर जी की भी धारणा कुछ इसी तरह है, 'भारतीय राजनीति मे जो प्रवृत्तियाँ उस समय छोटे पैमाने पर शुरू हुई वे विकराल हो गईं हैं। आपातकाल के बाद से ही हिंदू साम्प्रदायिक पार्टी क्रमश आगे बढ़ती चली गयी और कांग्रेस लगातार मुश्किल में पड़ती चली गयी। वे सन् 77 की जनता पार्टी सरकार में शामिल हुए और आज उन्हीं लोगों के नेतृत्व में केन्द्र सरकार चल रही है। हमें यह नहीं भूलना चाहये कि संघ प्रमुख गोलवलकर और संघ के कई बड़े नेता एक ओर इंदिरा गांधी

1 प्रभाष जोशी, जनसत्ता, 25 जून 2000 में प्रकाशित लेख से

को जेल से लिखित समर्थन दे रहे थे तो दूसरी ओर उनके लोग बिहार में जय प्रकाश नारायण के आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे। उनके दोनों हाथ में लड्डू थे और सच पूछिये तो आपातकाल का सबसे बड़ा लाभ उन्हीं लोगों को हुआ। आपातकाल को इसलिए भी याद किया जाना चाहिये कि पहली बार संजय गांधी के नेतृत्व में जिस तरह के स्वेच्छाचारियों ने सत्ता पर कब्जा किया था आज वहस्वेच्छाचार की प्रक्रिया उत्कर्ष पर पहुंच चुकी है। आज हर दल में ऐसे लोगों की भरमार है। राजनीति का पूरी तरह लंपटीकरण हो चुका है।''[1] इंदिरागांधी ने उस समय प्रतिबद्ध ब्यूरोक्रेसी और प्रतिबद्ध न्यायपालिका का जो नारा दिया था, वह आज प्रचंड रूप ले चुका है, जिसकी तस्वीर दिखायी दे रही है। आपातकाल में फांसीवाद छोटे तत्त्व के रूप में विद्यमान था। वह लोकतंत्र विरोधी तानाशाही थी। 'भयभीत, अवैध और अविश्वनीय आधार वाली सत्ताधीश इंदिरागांधी ने सर्व सत्तावाद का सहारा लिया था। उन्होंने संविधान के दायरे में आन्तरिक आपातकाल लागू किया था। पर इमरजेंसी हिंदू फांसीवाद नहीं था। इंदिरा जी ने तो अपनी सत्ता की वैधता के लिए डेढ़ साल में ही चुनाव करा दिया। आज जो केन्द्र में सत्तासीन हैं उन्हें किसी वैधता की चिन्ता नहीं। संसद हाशिये पर डाल दी गई है। सारे महत्त्वपूर्ण वित्तीय और विदेशनीति सम्बन्धी फैसले संसद से बाहर किये जा रहे हैं।''[2] सतीश गुजराल की भी धारणा है कि, 'क्षेत्रवाद और विखंडन की आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था तो इमरजेंसी के दौर की प्रक्रियाओं का साक्षात प्रतिफल है।' आपातकाल के बाद सामाजिक न्याय, दलित और अल्पसंख्यकों के जरूरी मुद्दे कैसे राजनैतिक पाखंड का शिकार होकर रह गये हैं, हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। शिक्षा का मुद्दा सरकारों और पार्टियों की प्राथमिकता सूची में अंत में है या है ही नहीं। इसका देश की जरूरतों से कोई सम्बन्ध नहीं। आधुनिक शिक्षा में पारम्परिक ज्ञान की कोई जगह नहीं। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दों में तो 'मनुष्य संसाधन मात्र'[3] रह गया है। बुद्धिजीवी जतिनदास के प्रश्न सामयिक हैं, 'इमरजेंसी में सत्ता का दुरूपयोग हुआ, पर क्या आज यह दुरूपयोग पहले से भी बड़े पैमाने पर नहीं हो रहा है? कहां गया लोकतंत्र? उस समय प्रेस पर सेंसरशिप थी; आज क्या प्रेस आजाद है? पैसे की ताकतें प्रेस के साथ क्या कर रही हैं? देश एक अंधी गली में जा रहा है। मानवीय मूल्यों और जीवन की गुणवत्ता में भयानक गिरावट आई है। उस समय

1. नामवर सिंह, जनसत्ता, 25 जून 2000 में प्रकाशित लेख से
2. वही
3. इलाहाबद संग्रहालय में दिये भाषण के अंश से

आपातकाल में भी लोग विरोध कर रहे थे, आज सभी ओर चुप्पी क्यो है?[1] इसीलिए कवि धूमिल को नये प्रजातंत्र की तलाश थी—

गांवों के गन्दे पनालों से लेकर
शहरों के शिवालों तक फैली हुई
'कथाकलि' की एक अमूर्त मुद्रा है
यह जनता............
उस की श्रद्धा अटूट है
उसको समझा दिया गया है कि यहाँ
ऐसा जनतंत्र है जिसमें
जिन्दा रहने के लिए
घोड़े और घास को
एक जैसी छूट है
कैसी विडम्बना है
कैसा झूठ है।
दरअसल, अपने यहाँ प्रजातंत्र
एक ऐसा तमाश है
जिसकी जान मदारी की भाषा है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : विविध दिशाएँ—

स्वतंत्र भारत मे 53 वर्षों के इतिहास में आपातकाल एक विभाजक रेखा है, क्योंकि यह एक राजनैतिक समस्या न होकर सांस्कृतिक -नैतिक-सामाजिक विघटन था, जिसकी यात्रा आज भी जारी है, किंचित अलग विशिष्ट संवेदनहीनता के साथ। इसीलिए हिन्दी उपन्यास यात्रा का इसे मैं एक विभाजक बिन्दु मानता हूँ। वैसे तो आपातकाल 25 जून 1975 को लागू हुआ, किन्तु इसकी भूमिका 1966 से ही बनने

1 जनसत्ता, 25 जून 2000

लगी थी, जिसे मैंने अपने विवेचन में पीछे स्पष्ट किया है। यही दशक समकालीनता के उदय की भी कहानी कहता है। अतएव स्वातंत्र्योत्तर भारत की उपन्यास यात्रा का अध्ययन इन दो बिन्दुओं के आधार पर करना, ऐतिहासिक सामाजिक-सांस्कृतिक -नैतिक दृष्टि से समीचीन होगा—

(क) आपातकाल पूर्व हिन्दी उपन्यास

(ख) आपातकाल परवर्ती हिन्दी उपन्यास

आपातकाल पूर्व हिन्दी उपन्यास—

आपातकाल पूर्व स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा के विकास की रेखाओं का स्वरूप प्रेमचन्द के समय से ही मिलने लगता है जिसका विकास ही विविध धाराओं में किंचित अलग पहचान, विशिष्टता, विचारधारा लिये दृष्टिगत होता है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में कथानक और चरित्र की परम्परागत ठोस रेखाएँ नहीं रह गई। आधुनिक उपन्यासकार के लिए कथानक, चरित्र, कथोप कथन आदि शिल्प के अंगों का नियोजित क्रम टूट चुका है। आज का उपन्यास लेखक परिस्थिति और परिवेश को भी केवल प्रस्तुत नहीं करता। वह परिवेश को चरित्र में, चरित्र को मनोविज्ञान और मनोविज्ञान को व्यक्तिगत रूपायन के उद्‌घाटन में अंतर्बद्ध करता है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में व्यक्तित्व की खोज अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य बन गया है। बढ़ती उद्योग व्यवस्था, अभूतपूर्व तकनीकि, वैज्ञानिक तथा आणविक विकास के कारण मनुष्य अत्यधिक यांत्रिक बन गया है। ऐसे परिवेश में व्यक्तित्व जैसी कोई बात नहीं रह जाती। ऐसे खोये हुए व्यक्तित्व या 'आत्म' की खोज का प्रयत्न अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जैनेन्द्र, मोहन राकेश, जैसे लेखक मनोवैज्ञानिक एवं प्रयोगशील धरातल पर करते हैं, तो नागार्जुन, यशपाल, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृत राय भीष्म साहनी, श्रीलाल शुक्ल, शिव प्रसाद सिंह जैसे लेखक समाजवादी यथार्थवाद की आधुनिकता का वरण करते हैं। इन्हीं दोनों विचारधाराओं के मध्य उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर,भगवतीचरण वर्मा, नरेश मेहता अपनी अलग विशिष्टता लिये हुए हैं। नेमिचन्द्र जैन के विचार हैं, ''ये उपन्यास पहले की अपेक्षा अधिक नये रूप में व्यक्ति को प्रतिष्ठा देते हैं, साधारण व्यक्ति में उसके सहजीवन के साधारण सुख-दु:ख, हर्ष-विवाद में मानवीय गरिमा की खोज करते हैं। एक प्रकार से साधारणता की यह महत्ता, बल्कि उसी में विशिष्टता की खोज नवीन हिन्दी उपन्यास की एक सार्थक विशेषता है।''[1]

1. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, भूमिका से

'गोदान' के बाद हिन्दी उपन्यास में नये मुहावरे की जो नई तलाश शुरू हुई उसमें 'शेखरः एक जीवनी' एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' शेखर के आगे की कहानी कहता है। 'नदी के द्वीप' भाषा के अभिजात्य के बल पर एक विशिष्ट किस्म की काव्यात्मक भाषा का जादू जगाकर पाठकों को सम्मोहित करता है। 'अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है। घटनाएं यहाँ लगातार घटती रहती हैं पर घटनाप्रधान उपन्यास यह है नहीं— बहुत कुछ तो चरित्रों से अभिव्यक्त और निर्मित संवेदनाओं की ही कहानी है— एक दर्द भरी प्रेम कहानी, जिसमें कम से कम दो पात्रों में, प्रेम में व्यक्तिगत पूर्णता अनुभव करने-कराने की बड़ी क्षमता स्पष्ट झलकती है। ये दो पात्र, प्रत्यक्ष ही, रेखा और भुवन हैं जिनके प्रथम परिचय से उपन्यास शुरू होता है यद्यपि जिनके अलगाव के साथ उपन्यास खत्म नहीं होता। एक अर्थ में अलगाव उनके बीच अधिक स्पष्ट है भी नहीं। सच तो यह है कि अलग होकर भी वे संवेदना के स्तर पर गहरे जुड़े रहते हैं।'[1] इसी लिए नदी के द्वीप की प्रणय संवेदना भिन्न और प्रायः असाधारण दिखाई देती है, पर अपनी विश्वसनीयता लिये हुए है। यह अज्ञेय की कलात्मक सफलता का द्योतक है। 'नदी के द्वीप' में प्रेम का रोमांस बिल्कुल भिन्न प्रकार का है जहाँ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला, और राग में भी एक खास तरह का संयम है। पर साथ ही साथ शरीर के उत्सव भाव को उन्मुक्त रूप में स्वीकार किया गया है।[2]

'शेखर : एक जीवनी' एवं 'नदी के द्वीप' से शुरू हुई 'व्यक्तित्व की खोज' की यात्रा का 'अपने अपने अजनबी' में उसकी एक ढंग की निष्पत्ति है, जो शायद फिर आगे की खोज के लिए प्रेरणा दे। उपन्यास में सर्वत्र व्याप्त मृत्यु गंध इसे 'मृत्यु से साक्षात्कार' का आख्यान बनाती है। शिल्प के स्तरपर काफी गठित होते हुए भी विधान की दृष्टि से यह कमजोर उपन्यास है। इसका प्रमुख कारण उपन्यास के कथानक में बहुत असाधारण परिस्थितियों का चुना जाना है।

लोकप्रियता को यदि आलोचनात्मक प्रतिमान की तरह इस्तेमाल किया जा सके तो धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' (1949) इस दौर की एक चर्चित कृति है। यह एक सरस और भावुकता पूर्ण प्रेमकथा के रूप में परिकल्पित है, जिसमें आदर्शवादी और अशरीरी प्रेम की त्रासद परिणति को अंकित किया गया है। भारती की 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (1952) अपनी अन्तर्वस्तु और रचना कौशल के द्वारा

1. हिन्दी उपन्यास : 1950 के बाद में प्रो० परमानंद रीवास्तव का लेख
2. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी

अधिक उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर सका है। यह उपन्यास 'मणिक मुल्ला' की किस्सागोई से निर्मित है जिसमें 'मैं' की भी विधायक और महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जमुना, लिली और सत्ती की कथाएँ निम्न मध्यवर्ग की स्त्री की नियति को परिभाषित करती हैं, जिनमें उनके पारिवारिक पार्श्व प्रकरान्तर से समाज के एक बड़े और व्यापक वर्ग को समेटते हैं।

इसी कड़ी में मोहन राकेश अपने 'अंधेरे बन्द कमरे' 'न आने वाला कल' जैसे उपन्यासों के साथ अपनी न केवल एक सक्रिय उपस्थिति दर्ज करते हैं, वरन् अपनी प्रौढ़ शिल्प कला एवं नाटकीय क्षमता से स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा को महत्वपूर्ण मोड़ देते हैं। राकेश के उपन्यासों का मूल स्वर दाम्पत्य सम्बन्धों में तनाव, कटुता, स्त्री-पुरूष का बंधन, मुक्ति, अन्तर्द्वन्द्व का स्वर है।'अंधेरे बन्द कमरे' की रीढ़ पति- पत्नी के जीवन में तनाव और खिंचाव के सूक्ष्म निरीक्षण और काव्यात्मक चित्रण में उपलब्ध है, लेकिन यह इसकी सीमा नहीं है। इस उपन्यास में महानगरी है और महानगरी में निरन्तर टूटते हुए मानवीय सम्बन्धों की नियति, अकेलेपन का संत्रास है। इसके पात्र समाज के मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं, जो अपने ही अन्दर बंद, घुटे, छटपटाते हैं और बाहर निकलने के लिए तड़पते हैं, किन्तु अंधेरे बन्द कमरे में कैद हो जाना ही जैसे उनकी नियति बन गयी है। इस उपन्यास में पत्र विधि, नाटकीय विधि, पूर्वदीप्ति विधि, प्रतीक विधि, भावात्मक विधि और सूक्ष्म व्यंजनात्मक विधि का प्रयोग हुआ है, जो शिल्प की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर युग की उपलब्धि है।

अकेलेपन की त्रासदी की दृष्टि से निर्मल वर्मा का 'वे दिन' मोहन राकेश की परम्परा को ही आगे बढ़ाता है। अपनी कहानियों की तरह यहाँ भी निर्मल परिवेश को एक जीवन्त पात्र की तरह इस्तेमाल करते हैं। युद्ध के बाद की हताशा और अवसाद रायना में मूर्त होते दिखाई देते हैं, जिसे निर्मल वर्मा ने गहरी संवेदनशीलता के साथ अंकित किया है। 'वे दिन की संरचना भी पुरानी लकीर से हटकर है, इसका अन्त भी शायद इसलिए अन्तहीन है क्योंकि जीवन-वास्तव को किसी निश्चित अन्त में बन्द नहीं किया जा सकता, अनुभूति की धारा उपन्यास के बाहर जाने को विवश है।'[1]

नागार्जुन, भैरव प्रसाद गुप्त, भीष्म साहनी, अमृत राय, यशपाल की पीढ़ी की उपन्यास यात्रा का मूल बोध समाजवादी है, जो आधुनिकता बोध के दूसरे पहलू को उजागर करता है। भैरव प्रसाद गुप्त ने

1. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर 76, में डॉ० इन्द्रनाथ मदान का लेख

'गंगामैया' (1952), 'सत्ती मैया का चौरा', भीष्म साहनी ने 'तमस' के द्वारा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द की परम्परा को नया तेवर दिया है। यशपाल का 'झूठा सच', भीष्म साहनी का 'तमस', राही मासूम रजा के 'आधा गाँव' वदी उज्जमा के 'छाको की वापसी', मंजूर एहतेशाम के 'सूखा बरगद' एवं अब्दुल विस्मिल्लाह के 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' के साथ मिलकर देश के विभाजन एवं उससे उत्पन्न सांस्कृतिक विमर्श की कहानी कहता है। यशपाल का 'झूठा सच' एक महाकाव्यात्मक रचना है, जिसमें विभाजन की त्रासदी जिस ऐतिहासिक तथ्य परकता एवं सूक्ष्म विवरणों के साथ उद्घाटित हुई है, वह इसे विभाजन का कलापात्र सरीखी विश्वसनीयता प्रदान करता है। विभाजन की छाया में पंजाबी समुदाय के लाहौर से उजड़ने और दिल्ली में बसने तक का वृत्तान्त समेटे यह उपन्यास विभाजन की त्रासदी को व्यापक राजनैतिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करता है। अपनी सम्पूर्णता में यह उपन्यास विभाजन की महज एक शोक गाथा न होकर, विपरीत परिस्थितियों में भी मनुष्य के दुर्दम्य साहस और धैर्य की शौर्यगाथा भी है। राजनीतिक अवसरवाद के शिकार के रूप में पुरी का नैतिक और वैचारिक स्खलन अपने समय के यथार्थ को बेहतर ढंग से अभिव्यक्त करता है। उपन्यास के दूसरे खण्ड 'देश का भविष्य' में यशपाल कांग्रेस की रीढ़विहीन अराजक राजनीति और उसके दूरगामी परिणामों की ओर संकेत करके अंततः उससे मुक्ति का आह्वान करते हुए देश का भविष्य देश की जनता के हाथ में ही होने की बात कहते हैं।

देश के बँटवारे के दौरान पंजाब की सरहद पर हुए भयानक साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि पर भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' विभाजन की नियामक शक्तियों को उनकी पूरी विद्रूपता के साथ बेनकाब करता है। इसके पात्रों के निजी व्यक्तित्त्व से अधिक उनका सामूहिक प्रभाव ही उपन्यास को महत्त्वपूर्ण बनाता है। वस्तुतः आदमी की सद्प्रवृत्तियों पर छा जाने वाला तमस ही इस पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है। लेखक का समस्त कौशल इसी में निहित है कि एक ओर जहाँ उसने इस अंधेरे में छिपे चेहरों की वास्तविकता को उद्घाटित किया है, वहीं दूसरी ओर इन चेहरों के पारस्परिक क्रिया-कलाप द्वारा घने होते इस अंधेरे के स्वरूप को भी स्पष्ट कर सका है। कुल पाँच दिनों के घटनाक्रम पर केन्द्रित यह उपन्यास अंग्रेजों द्वारा साम्प्रदायिकता को हथियार बनाकर 'फूट डालो और राज करो' की नीति के पर्दाफाश से लेकर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग की भूमिका को भी उजागर करता है।

'झूठा सच' एवं 'तमस' की तर्ज पर सीधे-सीधे विभाजन की कहानी न होकर भी राही मासूम रजा का 'आधागाँव' में 'पाकिस्तान विमर्श' जिस सहज बोध एवं तार्किकता के साथ प्रस्तुत होता है, वह हिन्दी उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस उपन्यास में न तो साम्प्रदायिक मारकाट है, न लाशों के ढेर और न ही बलात्कार की यातना क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि में उत्तर भारत का एक ऊँघता सा गाँव है, लेकिन इस गाँव में जो 'आलमे तनहाई' है,वह सीमांत प्रान्तों के विध्वंस से कहीं अधिक मारक है, 'आलमें तनहाई के मानी यह थे कि इकलौता बेटा पाकिस्तान में था और हकीम साहब पोते पोतियों के साथ हिन्दुस्तान में थे। .... गरज कि आजादी के साथ कई तरह कि तनहाइयां भी आयीं। विस्तर की तनहाई से लेकर दिलों की तनहाई तक।[1] 'आधा गाँव' का रचनात्मक महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि पाकिस्तान बनने के औचित्य एवं मुस्लिम नियति के प्रश्न जिस बेबाकी के साथ इस उपन्यास में उपस्थित हुए हैं, वह विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखे गये किसी अन्य उपन्यास में उपलब्ध नहीं है। हकीम साहब का कथन इसे पूरी विद्रूपता के साथ उद्‌घाटित करता है, ''ई पाकिस्तान त हिन्दू-मुसलमान को अलग करे को बना रहा। बाकी हम त ई देख रहे कि ई मियां-बीबी, बाप-बेटा और भाई बहन को अलग कर रहा है।'' बदीउज्जमां का उपन्यास 'छाको की वापसी' विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखित एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसके केन्द्र में अभिजन न होकर सामान्यजन है, जो पाकिस्तान के निहितार्थ को भी नहीं समझता। उपन्यास के मुख्य पात्र 'छाको' को यह अहसास भी नहीं है कि दूसरे मुल्क की नागरिकता का परिणाम क्या होगा। राही की तरह बदीउज्जमां भी अपने पात्रों के माध्यम से पाकिस्तान के औचित्य पर जिरह करते हैं। 'आधा गाँव' एवं 'छाको की वापसी' की तरह सीधे विभाजन की समस्या से मुठभेड़ न करने के बावजूद राही मासूम रजा का उपन्यास 'टोपी शुक्ला', शानी का 'काला जल', मंजूरएहतेश्याम का 'सूखा बरगद' एवं अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में भी मुस्लिम अस्मिता के प्रश्न के साथ -साथ पाकिस्तान विमर्श एक अंतर्धारा के रूप में उपस्थित है। यहाँ यह तथ्य चौकाने वाला है कि जहाँ मुस्लिम लेखकों द्वारा हिन्दी में लिखे गये इन सारे उपन्यासों में विभाजन की समस्या को कौम के बंटवारे के रूप में प्रस्तुत करके पाकिस्तान की विचारधारा को ही चुनौती दी गयी है, वहीं गैर मुस्लिम लेखक विभाजन को विस्थापन, पलायन एवं साम्प्रदायिक दंगों तक केन्द्रित करते हुए उसकी राजनीतिक परिणतियों को रेखांकित करते हैं।

1 आधा गाँव —राही मासूम रजा

जिन्दगी के वाह्य यथार्थ से साक्षात्कार की एक अन्य अभिव्यक्ति हुई है आंचलिक उपन्यासों में, जिसका उदय रेणु के मैला आँचल से होता है। डॉ० शिव प्रसाद सिंह, 'आंचलिकता की प्रवृत्ति को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक प्रवृत्ति मानते हैं, जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्त:धारणा काम कर रहीं थी' [1] आंचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारत के तेजी से बदलते हुए परिवेश में इसके आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनशीलता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देश की नयी मानसिकता तथा प्रगतिशील चेतना के उन्नायक -उद्घोषक बनकर आये। इन उपन्यासों के माध्यम से रचनाकारों ने विशिष्ट भूखंडों की ज्वलंत समस्याओं, उनके पारस्परिक अन्तर्विरोध, जीवन-संघर्ष, मानसिक बदलाव, नये सम्बन्ध बोध, मूल्य विघटन, सामाजिक विखराव, राजनीतिक अवमूल्यन और सास्कृतिक खोखलेपन आदि को प्रामाणिक सन्दर्भों में उदघाटित करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए 'आंचलिक उपन्यासों में लेखकीय प्रतिबद्धता का सरोकार उसके कथ्य, समूचे यथार्थवादी परिवेश, जीवन के अभावों, तज्जनित विसंगतियों तथा समय की निर्मम सच्चाइयों के बीच से गुजरते मनुष्य की आन्तरिक संवेदनाओं से है।' [2] इन उपन्यासों में स्वतंत्रता के बाद की अनन्त सम्भावनायें और रंगीन सपनों से लदी आशाएं हैं, भारतीय जनमानस में उद्भूत नवीन चेतना की लहरें हैं, देश की सुदीर्घ सांस्कृतिक विरासत की अस्मिता की खोज और पुनरूद्धार के संकल्प हैं और युग-युग से उपेक्षित, तिरस्कृत तथा शोषित सामान्यजन के प्रति सुदृढ़ प्रतिबद्धता। स्वतंत्रताप्राप्ति के समय देखे गये वे सारे सुनहले सतरंगे सपने धीरे-धीरे कठोर वास्तविकता की चट्टानों से टकराकर चूर-चूर होते गये और विकास, उन्नति तथा सुन्दर सुखद भविष्य की आशाएं, देश के रहनुमाओं के चारित्रिक पतन, स्वार्थ, गंदी राजनीति और भ्रष्टाचार की राख के नीचे दब गयीं। अन्याय व शोषण के यंत्र बदल गये पर प्रक्रियाएं नहीं बदली। 'अलग-अलग वैतरणी' में लेखक इसी स्थिति का विश्लेषण करता है, 'स्वतंत्रता आयी, जमींदारी टूटी, 'करैता' गाँव के किसानों को लगा कि अब उनके दिन फिरेंगें। मगर क्या हुआ? अलग-अलग वैतरणी अलग-अलग नाटक- जिसे निर्मित किया है भूतपूर्व जमींदार ने, धर्म तथा समाज के पुराने ठेकेदारों ने, भ्रष्ट सरकारी ओहदेदारों ने और इस वैतरणी में जूझ छटपटा रही है गाँव की प्रगतिशील नयी पीढ़ी।'' गाँव शहर के निकट तो आये, पर इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी अपनी परंपरागत सरलता गयी, उदारता और आत्मीयता गयी और ऊपर से सारी शहरी

1. आधुनिक परिवेश और नवलेखन—डॉ० शिव प्रसाद सिंह, पृ० 118
2. आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प —डॉ० ज्ञान चन्द्र गुप्त

बुराइयाँ भी प्रवेश कर गयीं— टुच्ची राजनीति, दलबंदी, जाति, वर्गवाद, स्वार्थ, द्वेष, अनैतिक यौनाचार। तभी तो 'मैला आँचल' का बावनदास बालदेव जी से कहता है— "सब चौपट हो गया......... यह बेमारी ऊपर से आयी। यह पटनहिया रोग है। .... अब तो धूम-धाम से फलेगा।.... भूमिहार, राजजूत, कैथ, जादव, हरिजन, सब लड़ रहे हैं.... अगले चुनाव में तिगुना मेले चुने जायेंगे। किसका आदमी ज्यादे चुना जाय, इसी की लड़ाई है।"[1]

हिन्दी उपन्यास साहित्य में ग्राम यथार्थ के वर्णन की आदर्शोन्मुखीय वस्तुपरक परंपरा का प्रारम्भ प्रेमचन्द से ही शुरू हो गया था लेकिन प्रेमचन्द की पद्धति सामान्य से सामान्य तक पहुँचने की थी, इसीलिए उनकी कृतियों में व्यापक मानवीयता और गहरी सामाजिक व्यथा तो मिलती है, परन्तु वह बौद्धिक क्षमता नहीं। आंचलिक उपन्यासों में सामान्य के विशेषीकरण की पद्धति अपनायी गयी, इसीलिए इनमें अधिक गहराई और सूक्ष्मता है। यही कारण है कि 'गोदान' की कथा भूमि 'बेलारी' गाँव के स्थान पर उत्तर भारत का कोई भी गाँव रखा जा सकता है, परन्तु रेणु के उपन्यासों के कथांचल 'मेरीगंज' तथा 'परानपुर' अथवा 'अलग-अलग वैतरणी' और 'आधा गाँव' की कथाभूमि 'करौता' और 'गगौली' का स्थनापन्न दूसरा कोई अंचल या गाँव नहीं हो सकता, क्योंकि इनकी भौतिक -सामाजिक सांस्कृतिक विशिष्टताएं अपनी हैं, निजी हैं, सामान्य नहीं। बावजूद इसके इनके निष्कर्ष सर्वव्यापक एवं सामान्य हैं।

श्रीलाल शुक्ल एवं विवेकी राय की कथा भूमि उस रूप में आंचलिक नहीं है, जैसी वह आंचलिकता के आन्दोलन के दौर में दिखाई देती थी। उनके यहाँ आंचलिकता का मतलब अपने सुपरिचित क्षेत्र से आत्मीयता और संवेदना के स्तर पर जुड़ना ही है। इस अंचल के पर्वो-प्रयोजनों के प्रति,उनके पुनराविष्कार को लेकर, उनमें गहरा उत्साह है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में मूल्यों और जनता के सपनों के रूप में स्वीकृत शब्दों, पदों और अवधारणाओं का वे गूढ़, व्यंजनागर्भी और व्यंग्यात्मक उपयोग करके उन्हें एक नई अर्थवत्ता देते हैं। लोकतत्त्व व लोकभाषा के अप्रचलित रूपों के प्रति उत्साह जगाकर वे वस्तुतः इस अंचल को ही सजाने-संवारने और उसे एक सुगढ़ व्यक्तित्त्व प्रदान करने की कोशिश करते हैं। नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरूण के बेटे' आंचलिक उपन्यासों की समस्त शिल्पगत विशेषताओं से पूर्ण न होते हुए भी मात्र अंचल केन्द्रित कथावस्तु

---

1 मैला आँचल, पृष्ठ 310

और आंचलिक भाषा प्रयोग के कारण ही आंचलिक माने जाते हैं। विवेकी राय का 'बबूल', श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी' केशव प्रसाद मिश्र का 'कोहवर की शर्त' केवल आंचलिक भाषा प्रयोग के आधार पर ही आंचलिक उपन्यास मान लिया जाता है, जबकि इनमें से अधिकांश में आंचलिक वातावरण का भी निर्माण नहीं हुआ है। अमृत लाल नागर के 'बूँद और समुद्र' के बाद शहरी आंचलिकता का भी प्रश्न उठा। जनपदीय, प्रादेशीय एवं स्थानीयता के रंग से रंगे हुए उपन्यास भी इस युग को नयी पहचान देते हैं।

ऐतिहासिक -सांस्कृतिक विचारधारा को स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास यात्रा में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नया संस्कार दिया 'वाण भट्ट की आत्मकथा' यद्यपि कि 1946 में प्रकाशित हुई थी, किन्तु इसकी चेतना स्वातंत्र्योत्तर भारत से जुड़ी चेतना का आभास देती है। इसका मुख्य उपजीव्य वाणभट्ट और श्री हर्ष की रचनाएँ ही हैं, लेकिन लेखक इस ऐतिहासिक फ्रेम में ही नारी-नियति को परिभाषित करते हुए टिप्पणी करता है, 'बड़े करुणा-जनक संयोगों के बीच से मैने यह अनुभव किया है कि स्त्री के दु:ख इतने गम्भीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्म वेदना का किंचित आभास पाया जा सकता है ...... निपुणिका मे इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी पर हुई नहीं.... निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाज में सत्य के नाम पर घर बना बैठा है. .....' ऐतिहासिक उपन्यास , अतीत की पृष्ठभूमि पर भी, अपने वर्तमान समाज की चिंता को ही अपने केन्द्र में लेकर चलता है। यही कारण है कि जार्ज लूकाच ने वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों पर टिप्पणी करते हुए उन्हें तत्कालीन सामाजिक अंग्रेजी उपन्यास की परम्परा में ही रखकर पढ़े जाने की सलाह दी है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाणभट्ट की आत्मकथा' के अतिरिक्त 'चारूचन्द्र लेख' (1963), पुनर्नवा (1973), 'अनामदास का पोथा' उपन्यास द्वारा समकालीन जीवन की विसंगतियों एवं तनाव को इतिहासधारा में खोजा। शिव प्रसाद मिश्र का 'बहती गंगा' काशी के साहित्यिक सांस्कृतिक इतिहास के साथ ही यह उसके जन-जीवन का भी, दो-सौ वर्षों का एक आकर्षक और विश्वसनीय चित्र है। इसमें अनेक कथाएँ हैं जो अपने में स्वतंत्र होने पर भी एक श्रृंखला की अंग हैं। इसमें इतिहास का बहुत व्यवस्थित एवं प्रमाणसिद्ध आकलन करने की अपेक्षा इतिहास की पृष्ठभूमि और परिवेश लोक विश्वासो, निजंधारी कथाओं और श्रुति परम्परा का अधिक प्रयोग किया गया है। काशी के जीवन का रंगारंग वैविध्य,

उसकी मस्ती, फक्कड़पन, प्रेम के लिए सर्वस्व बलिदान की आकांक्षा और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध प्रतिरोधी चेतना, आदि का अंकन इन कहानियों में आकर्षक ढंग से किया गया है।

स्वाधीनता ने लोगों की आशाओं एवं आकांक्षाओं को तोड़ा था और लगभग समूचे देश को हताशा एवं मोह भंग की ऐसी अंधी सुरंग में धकेल दिया था, जिसमें घुटन-बेबसी और अंधेरे के सिवा कुछ नहीं था। लेकिन इन सबके होते हुए भी उसने समाज की जड़ता को एक झटके से तोड़ दिया था और विभाजन की विभीषिका के बाद जब स्थिति सामान्य हुई तो ऐसा लगा कि हम एक पर्याप्त बदले हुए परिवेश में हैं। शिक्षा और नौकरी की सम्भावनाओं ने और पंजाबी समाज एवं संस्कृति के अपेक्षाकृत खुलेपन एवं वर्जनाहीनता ने उत्तर भारतीय समाज को भी गहराई से प्रभावित किया था। लड़कों की बेरोजगारी की तुलना में लड़कियों के लिए नौकरी के अवसर अधिक थे। इस कारण घर-परिवार और समाज में उनकी परम्परागत स्थिति में अन्तर आना स्वाभाविक था। नौकरी की खोज में गाँव से शहर आने वाले युवकों ने जिस नगरीय सभ्यता को जन्म दिया, उसने नये सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को पैदा किया। इन्हीं मूल्यों ने स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की दिशा बदल दी। इन उपन्यासों में व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों का मूल्यांकन -पुर्नमूल्यांकन व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध सूत्रों को अन्वेषित करने की दृष्टि से हुआ। उपन्यासकारों का मुख्य लक्ष्य सामाजिक परिधि में व्यक्ति को भयमुक्त एवं आशंकारहित करके वह आत्म विश्वास देना था, जिससे व्यक्ति में उस समर्थता का विकास हो सके, जिसके माध्यम से वह उन संकटों, अन्तर्विरोधों, उलझनों एवं अवरोधों का साक्षात्कार कर सके, जो नित्य उसकी अनुभूतियों से, आस्थाओं से टकराकर उसे जर्जरित करती रहती है। स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूरव्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम में कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्त्व की करूणा को भी अभिव्यंजित करता है। कुल मिलाकर उसमें समकालीन जीवन के विविध रूपों की, विशेषकर पूर्ववर्ती युग की तुलना में, पर्याप्त विविध झाँकी मिलती है, मनुष्य के कई एक परिचित- अपरिचित रूपों के, परिवेश और उसके साथ सम्बन्ध के, मानवीय सम्बन्धों और परिस्थितियों के चित्र मिलते हैं। स्वाधीनता के पूर्व और बाद साहित्य के क्षेत्र में महिलाओं के अनुपात और उनके लेखन में आये गुणात्मक अन्तर एवं वैविध्य से यह स्पष्ट हो जाता है। नई कहानी आन्दोलन ने अनेक लेखिकाओं को आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रेरित किया और उन्होंने अपने और अपने परिवेश के प्रति

एक भिन्न, खुली एवं मुक्त दृष्टि से लिखकर समाज की वर्जना को तोड़ा। इन लेखिकाओं ने हिन्दी उपन्यास यात्रा में सक्रिय उपस्थिति दर्ज कर उसे एक नई पहचान दी। कृष्णा सोबती, उषा, प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, का इस दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। कृष्णा सोबती स्त्री स्वाधीनता और नारी मुक्ति के सवाल को वे अपनी धरती और मिट्टी से जोड़कर देखती हैं और समूचे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसकी अनिवार्यता को रेखांकित करती है। आपातकाल पूर्व स्वातंत्र्योत्तर युग में 'डार से बिछुड़ी' (1958), 'सूरजमुखी अंधेरे के' (1972) उनकी उपन्यास यात्रा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस युग में उषा प्रियम्बदा की 'रुकोगी नहीं...... राधिका ?' (1967), मन्नू भण्डारी का राजेन्द्र यादव के साथ लिखित सहयोगी उपन्यास 'एक इंच मुस्कान' (1962) उपन्यास के नये मुहावरों को तलाश करता है, जिसका पूर्ण विकास पर्याप्त विविधता के साथ परवर्ती युग में दिखाई देता है।

आपातकाल परवर्ती उपन्यास : बदलती दिशाएँ—

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि आपातकाल 1975 में लागू हुआ, किन्तु परिस्थितियाँ 1966 से ही बनने लगी थी। अतएव 7वें दशक से ही इसकी विशिष्टताएं, विघटित मूल्य चेतना की आहट हिन्दी उपन्यास में सुनायी पड़ने लगी थी; जो आठवें दशक तक आते-आते मुखरित नाद में परिवर्तित हो चुकी थी। यही युग समकालीनता की खोज का भी युग है, विद्वानों द्वारा घोषित साठोत्तरी युग की पहचान भी यहीं से शुरू होती दिखाई देती है। संपूर्ण क्रान्ति, आतंकवाद, और मूल्यहीन भ्रष्टाचार पोषित राजनीति के अभूतपूर्व विकास का दौर भी यही है, जिसमें राजनीति में अपराधी तत्त्वों के व्यापक संरक्षण की शुरुआत होती है, जिसकी कहानी रागदरबारी अपनी भदेस शैली में पूरी मार्मिकता के साथ उठाता है। राग दरबारी स्वाधीन भारत में सब कहीं बनते शिवपाल गंज की सच्चाई को उसी भदेस शैली एवं व्यंग्यात्मक लहजे से उठाता है। रबीन्द्र बर्मा के 'निन्यानबे' का फलक भारतीय आजादी के पचास वर्षों में देश के तापमान को मापने की सफल कोशिश है, जिसमें एक परिवार की संवेदनायें लेखकीय कथ्य का माध्यम बनती है। एक ही परिवार कैसे राष्ट्रीय चरित्र को प्रत्यक्ष करता है, कैसे मूल्यों का विघटन होता है और कैसे सिक्कों के आगे सम्बन्ध, नीति, मर्यादा और मनुष्यता समाप्त हो जाती है, यह उपन्यास उसे बखूबी प्रस्तुत करता है। नरेश मेहता का 'उत्तर कथा' उनके पूर्ववर्ती उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' का विस्तार लगता है, जिसमें एक नारी की अपने विरोधी परिस्थितियों-वातावरण से संघर्ष का साहसिक अंकन है। यह दुर्गा है, जो अपने

स्वत्व के लिए अनवरत संघर्ष करती है और अपने अनुकूल परिस्थितियाँ बनाती है। भीष्म साहनी के इस बीच के अनेक उपन्यासों में 'मैय्यादास की माड़ी' उल्लेखनीय रचना है, जिसमें पराधीन भारत के दौरान पंजाब की सांमती और जमींदारी व्यवस्थाओं की विरूपताओं और परिवर्तनों का बेबाक विश्लेषण है।

इस अवधि में निर्मल वर्मा के दो उपन्यास आये— 'एक चिथड़ा सुख', 'रात का रिपोर्टर'। 'एक चिथड़ा सुख' के प्रसंग में कुँवर नारायण ने निर्मल वर्मा के गद्य को खरगोश की खाल की तरह कोमल और संवेदनशील बताकर प्रशंसा की है। इसमें निर्मल वर्मा सम्बन्धों की जटिलता और अन्यमनस्कता के बीच मनुष्य के सुख की तलाश का उद्यम किया है। इस उपन्यास में भौतिक सुखों के लिए समझौते और क्षणिक स्वार्थों के कारण समर्पण करती आत्माओं को बड़ी संजीदगी से विश्लेषित किया है। 'रात का रिपोर्टर' उनका अकेला उपन्यास है जिसमें वे इमरजेंसी को पृष्ठभूमि के रूप में बड़ी उर्वरता के साथ इस्तेमाल करते है। यह उपन्यास रिशी नामक पत्रकार द्वारा भोगे गये आतंक को मानवीय नियति के संकट के रूप में देखे जाने पर बल देता है।

इस उपन्यास यात्रा में जगदीश चन्द्र के कई उपन्यास आये, जो कथ्य व विश्लेषण की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनको छोड़कर हिन्दी उपन्यासों की यह बहस पूरी होती नहीं दिखाई देती। 'कभी न छोड़े खेत', 'मुट्ठी भर कांकर', 'टुंडालाल' और 'घास गोदाम' जैसे उपन्यासों के माध्यम से इन्होंने जो संसार रचा है, वह यथार्थवादी है और एक अंचल विशेष के लोगों की संघर्षशीलता, मानसिकता और अन्तर्द्वन्द्व को उद्घाटित करता है। 'कभी न छोड़े खेत' जाट वर्ग के लोगों के पारंपरिक विद्वेष और विनाश की गाथा है तो शेष उपन्यास में भारत विभाजन के पश्चात पंजाबी शरणार्थियों के दिल्ली पहुँचने और उनसे स्थानीय जाटों के आर्थिक -सांस्कृतिक टकराव तथा उससे एक नई व्यवस्था के अस्तित्त्व में आने का संवेदनशील चित्रण है। इसी कड़ी में असगर वजाहत का 'सात आसमान' है, जो चार सौ वर्षों के हिन्दुस्तान के जीवन के ठहराव और परिवर्तन की ओर संकेत करता है। इस उपन्यास में सामंती जीवन दृष्टि और जीवन को यथासम्भव तटस्थ रहकर प्रस्तुत किया गया है। डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के शब्दों में, 'उपन्यास केवल दो खानदानों की कहानी नहीं है या केवल पतनशील संस्कृति का चित्र भर नहीं है। गहरे अर्थ में जो नष्ट हुआ है और जो बन रहा है दोनों पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। क्या सब कुछ नष्ट होने योग्य था और क्या सब कुछ तो बन रहा है स्वीकार करने योग्य है।'[1] यह उपन्यास , 'बेदखल', पाहीघर',

1. कथा, फरवरी 2000 में डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख,, पृ० 201

'पहला गिरमिटिया' 'कालकथा', 'कलिकथा : वाया वाईपास' की भाँति केवल इतिहास नहीं है, परन्तु इसमें इतिहास इन अन्य उपन्यासों की तरह ही निरन्तर एक आईने की तरह प्रयुक्त किया गया है, जो नबाबी साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्थाओं में विशिष्ट और सामान्य मनुष्यों की स्थिति को प्रतिबिम्बित करता चलता है। 'इतिहास इस अर्थ में वर्तमान को परिभाषित करता है और वर्तमान से परिभाषित भी होता चलता है। इस दृष्टि से देखने पर जायसी के पद्‌भावत की तरह लगता है।'[1] यह उपन्यास बादशाह बेगम, मौतमुद्‌दौला और रेजीडेन्ट के माध्यम से अवध के नवाबी के अध:पतन का इतिहास ही नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि सत्ता संघर्ष में मूल्यों और रिश्तों की स्थिति को स्पष्ट करता है। ''उपन्यास में सैय्यद आगाओं के खब्तीपन, सनक और विचित्रताओं के किस्से हैं पतनोन्मुख सांमती सभ्यता के यथार्थ के वे पहलू हैं जो प्रवाह के बाहर हैं और मानव सभ्यता की नश्वरता और सनातनता का एक त्रासद स्वरूप प्रस्तुत करते हैं[2], जो अपनी आख्यानात्मक शैली, गहरी मानवीय संवेदना, मार्मिकता एवं जीवन्त भाषा के द्वारा मानवीय नियति को साक्षात्कृत करता है।

यशपाल के 'झूठा सच' जैसे उपन्यास को छोड़ दे, तो वृन्दावन लाल वर्मा से लेकर अमृतलाल नागर और उसके बाद तक के हिन्दी के इतिहास केन्द्रित उपन्यास या तो इतिहास पुरूषों की गौरव गाथा बनकर रह गये हैं या घटनाओं-तिथियों की क्रमबद्ध तालिका। 'इन उपन्यासों का लक्ष्य प्रभुत्वकारी विमर्श से बहिष्कृत जन इतिहास की खोज न होकर, जाने हुए इतिहास को उपन्यास की जीवंतता व रोचकता से लैस करना अधिक है।'[3] 20वीं सदी का नवाँ एवं अंतिम दशक इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास को नया मुहावरा देते हुए प्रेमचन्द एवं टालस्टाय की इतिहासदृष्टि को पुष्ट किया है। प्रेमचन्द के अनुसार, घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास है। इतिहास जीवन में विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है, क्योंकि साहित्य अपने देश काल का प्रतिबिम्ब होता है।'[4] टॉलस्टाय ने भी अपने 'वार एण्ड पीस' मे लिखा, 'इतिहास के नियमों की खोज हेतु हमें राजाओं, मंत्रियों एवं सेनानायकों को अकेला छोड़कर आम जनता को परिचालित करने वाले समानधर्मा सार्वकालिक तत्त्वों का अध्ययन करना

1. डॉ सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 201।
2. कथा, फरवरी 2000 में डॉ सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 203
3. वीरेन्द्र यादव का लेख, कथा, फरवरी 2000
4. 'जीवन में साहित्य का स्थान' विषयक लेख से

चाहिए।'[1] कहना न होगा कि कमला कान्त त्रिपाठी ने 'पाहीघर' (1991) एवं 'बेदखल', भगवान सिंह ने 'अपने अपने राम' अलका सरावगी ने 'कलिकथा:वाया वाइपास' एवं गिरिराज किशोर ने 'पहला गिरमिटिया' में किसी नई इतिहास भूमि की तलाश न करते हुए भी इतिहास को सर्जनात्मक वैविध्य से युक्त किया है। यहाँ इतिहास एवं समाज एक दूसरे को थामें हुए समकालीन विसंगतियों को उकेरने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं।

'पाहीघर' एव 'बेदखल' की विशिष्टता के मूल में इनकी इतिहास गाथा उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी इतिहासदृष्टि। अठारह सौ सत्तावन के विप्लव एवं अवध के किसान आन्दोलन में बाबा रामचंद्र की नेतृत्वकारी भूमिका को जिस जनपक्षधर समझ के साथ ये उपन्यास प्रस्तुत करते हैं वह इतिहास और समाजशास्त्र की क्षतिपूर्ति है। 'इतिहास के इस कालखण्ड को प्रभुत्वकारी विमर्श से बाहर निकालकर सतह से शिखर देखने की जो इतिहास दृष्टि कमलाकान्त त्रिपाठी अपनाते हैं उसी के परिणाम स्वरूप 'पाहीघर' अट्ठारह सौ सत्तावन की 'जनक्रान्ति' या 'स्वाधीनता के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' की अवधारणा को प्रश्नों को घेरे में खड़ा करता है।इसी इतिहास दृष्टि के चलते स्वतंत्रता आन्दोलन की मुख्य धारा से बेदखल अवध के किसान आन्दोलन पहली बार औपन्यासिक केन्द्रीयता प्राप्त होती है। इतिहास को कथात्मक बनाते हुए उपन्यासकार ऐतिहासिक व्यक्तित्वों व औपन्यासिक चरित्रों तथा इतिहास की घटनाओं और औपन्यासिक गल्प के बीच जो पगडंडियाँ निर्मित करता है उससे इतिहास के राजमार्ग के जिन चोर दरवाजों का पता चलता है, वह इन उपन्यासों को विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण बनाते हैं।'[2] ये उपन्यास इतिहास कथा होने के साथ साथ ग्राम कथा भी है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कमलाकान्त त्रिपाठी प्रेमचन्द के समान ही अवध की कथाभूमि को चुनते हैं। 'गोदान' के गाँव 'सेमरी' और 'बेलारी' की तरह ही 'पाहीघर' और 'बेदखल' का गाँव 'बसौली' भी अवध के उन सैकड़ों हजारों गाँवों में एक है, जहाँ पहली बारिश के बाद किसान उछाह के साथ हल-बैल लिये खेत की ओर दौड़ता है। मगर खेत उसका नहीं है। तालुकेदार जब चाहे उसे बेदखल कर दे। जिस मिट्टी को पालते-पालते बाप-दादे मिट्टी में मिल गये वह मिट्टी उसकी नहीं है। दूर अपने आलीशान कोट में बैठा तालुकेदार उसका मालिक है और अंगरेज बहादुर

1. 'वार एण्ड पीस', खण्ड 11, अध्याय एक
2. वीरेन्द्र यादव का लेख, कथा, फरवरी 2000 अंक

उसका रखवाला।'[1] गोदान के होरी की तरह 'पाहीघर' के जयकरन अहीर और 'बेदखल' के सुचित कुर्मी को भी अपने खेत से बेदखल होना पड़ता है और इस बेदखली की जड़ में 'गोदान' के पंडित दातादीन की तर्ज पर पाहीघर के माल गुजार शंकर दुबे और बेदखल के पदारथ तिवारी हैं। कर्ज, मालगुजारी, नजराना और बेदखली से त्रस्त अवध के जयकरन और सुचित सरीखे किसानों की दुर्दशा की पृष्ठभूमि में पाहीघर का 1857 का विद्रोह और 'बेदखल' का बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में ,किसान आन्दोलन इन उपन्यासों की केन्द्रीय अन्तर्वस्तु है। 'पाहीघर' के इतिहास चक्र में वाजिद अलीशाह की सत्ता से बेदखली, पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी फिर मलिका विक्टोरिया द्वारा अवध की सत्ता का अधिग्रहण, 1857 का विप्लव और इसी बीच जयकरन की खेत से बेदखली, मालगुजार द्वारा उसकी बेटी रूपा के दैहिक शोषण व मौत के हालात का बनना फिर इस सबसे त्रस्त होकर जयकरन द्वारा आत्महत्या करना अवध के प्रभुत्ववादी इतिहास विमर्श को निम्नवर्गीय संदर्भ प्रदान करता है। इतिहास को 'नीचे से देखने' की यह दृष्टि पाहीघर की उपन्यास यात्रा को इतिहास की बोझिलता से मुक्त कर जिस जीवन राग से समृद्ध करती है, उसके तार 'गोदान', 'मैला आँचल', 'आधा गाँव' और 'धरती धन न अपना' से होते हुए श्रीलाल शुक्ल के 'विश्रामपुर का सन्त' तक विस्तृत है।

'बेदखल' 'पाहीघर' के लगभग साठ वर्ष बाद की कथा कहता है, जिसकी पृष्ठभूमि में बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में अवध के किसान आन्दोलन का संवेदनापूर्ण अंकन किया गया है। उपन्यास बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व को भी पर्याप्त आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है, जब उस आन्दोलन के व्यापक जनाधार को बहुत सीमित करके उसे सिर्फ कुर्मी-समाज के आन्दोलन में बदल देते हैं। लेकिन इसके साथ ही यह उपन्यास कांग्रेस के नेतृत्व में लड़े जा रहे राष्ट्रीय आन्दोलन की विकृतियों को भी उजागर करता है। राष्ट्रीय आन्दोलन की इस सीमा को उपन्यासकार नेहरू और किसान आन्दोलन की समक्षता के प्रसंग द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करता है, 'चारो ओर दूर-दूर तक सीताराम की आवाज गूँज रही थी। चिलकती धूप में अनगिनत बच्चे, बूढ़े, जवान, औरत-मर्द फसल कटने से खाली पड़े खेतों से होकर दौड़े जा रहे थे। नेहरू ने देखा-चिथड़ों में लिपटे, नंगे-भूखें लोगों की आँखों में एक अनोखी चमक थी। और वे अन्दर अन्दर सिहर उठे। यह कैसी दुनिया है! कैसा हिन्दुस्तान। हम शहरों में जो राजनीति करते है, इसके सामने

1. बेदखल, पृ० 8

कितनी ओछी है ! कांग्रेस और उसके लीडर असलियत से कितनी दूर हैं.......। हम क्या कर पायेंगे इनके लिए? आखिर में ये कितने निराश होंगे।'[1] नेहरू की यह विवशता स्वयं उनकी और कांग्रेस की राजनीति की वह वर्गीय सीमा थी जिससे कांग्रेसी नेतृत्व को यह लगता था कि 'बाबा ने किसानों को भड़का तो दिया, लेकिन आगे कुछ करते न बना तो उन्हें यहाँ लाकर हमारे गले मढ़ रहे हैं।.. ..... वे तो समझे थे कि बिना किसी मशक्कत के, लगे हाथ देहात में कांग्रेस की जमीन तैयार करने का मौका मिल जायेगा, पर यहाँ तो लेने के देने पड़ रहे थे। वे ज्यादातर वकील थे और ताल्लुकेदार ही उनके खास मुवक्किल थे। देशी जमींदारों, तालुकेदारों को नाराज करने का फिलहाल कांग्रेस का कोई इरादा नहीं था।'[2] कहना न होगा कि कमलाकान्त त्रिपाठी राष्ट्रीय आन्दोलन के अभिजनवादी चरित्र व गांधी के नेतृत्व की सीमाओं को भी उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उद्‌घाटित करते हैं। गांधी के नेतृत्व में चलाया जा रहा राष्ट्रीय आन्दोलन किसानों को अपना अनुनायी बनाकर अंग्रेजी उपनिवेशवाद के बिरूद्ध उनका इस्तेमाल तो करना चाहता था, लेकिन उनके सशक्तिकरण की अनुमति नहीं देता था, क्योंकि जिन भूस्वामियों के बिरूद्ध अवध के किसान लामबन्द थे, उन्हें 'नाखुश करने का जोखिम' राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं उठा सकता था। अपने खेत से बेदखल सुचित कुर्मी की किसान आन्दोलन से निराश और हताश मनोदशा के मूल में राष्ट्रीय आन्दोलन की वह सत्ता-संरचना ही थी जिसमें पदारथ तेवारी की प्रभुताई के आधार तो सुरक्षित थे, लेकिन सुचित की बिरोधी चेतना पर बंदिशें थीं। सुचित की मनोदशा में शोषित-वंचित पीढ़ी का पूरा मुहावरा दिखाई देता है, 'आन्दोलन वगैरह की बातें उसे फिजूल लगतीं। कहाँ इलाहाबाद, कहाँ नेहरू और टण्डन की सभा—बड़ी-बड़ी बातें और कहाँ पदारथ का यह व्यवहार। क्या करेगी किसान सभा और क्या करेंगे बाबा। तालुकेदार की तो जाने दो, जिसकी चलने लगती है, वही आग मूतने लगता है। आदमी पर आदमी का अत्याचार क्या ऐसे ही चलता रहेगा?'[3]

किसान चेतना की पृष्ठभूमि पर कुछ ऐतिहासिक प्रसंगों को अपनी अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल करते हुए 'विश्रामपुर का संत', रागदरबारी की आगे की यात्रा का सूचक है। कई दृष्टियों से 'विश्रामपुर का संत' श्रीलाल शुक्ल द्वारा अपनी ही रचनात्मक रूढ़ियों से मुक्ति का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इनके पहले के

1. बेदखल, पृ० 108
2. बेदखल, पृ० 106
3. बेदखल, पृ० 121

उपन्यासों —'रागदरबारी', 'पहला पड़ाव' में ताकत का जो विमर्श भ्रष्टाचार और तंत्र की अन्य विकृतियों तक सीमित है, 'विश्रामपुर का संत' में वह सत्ता विमर्श तक पहुँचता है। कुँवर जयंती प्रसाद सिंह इस सत्ता विमर्श में यदि अंतर्सूत्र के रूप में विद्यमान है तो भूदान आन्दोलन इसकी पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित है। विषय वस्तु की नवीनता के साथ एक और अन्तर यह भी है कि जहाँ 'रागदरबारी', 'पहला पड़ाव', 'सूनी घाटी का सूरज', व्यक्ति, तंत्र और समाज के बहिरंग तक सीमित है, वही विश्रामपुर का संत इसके अंतरंग का भी भेदन करता है। रागदरबारी की तरह न यहाँ व्यंग्य का उन्मुक्त ठहाका है और न 'वेदना का कार्टून' व्यंग्य यहाँ अतिकथन में न होकर इस तरह के मितकथनों में है 'उस मौसम में इस गाँव ने लगभग आधा दर्जन रिक्शा चालकों का निर्यात किया।'[1] '......अब यह आश्रम राजभवन में तब्दील होने जा रहा है।'[2] यहाँ व्यंग्य सिर्फ भाषा तक ही सीमित न होकर स्थितियो एवं व्यक्तियों के अन्तर्विरोधों तक विस्तृत है। रागदरबारी की तर्ज पर यहाँ वेदना की अभिव्यक्ति 'कार्टून' के रूप में न होकर काव्यात्मक संवेदना की ऊँचाइयों को छूती है : ''..... आज तीस वर्षों बाद जब उनकी गोद में फटी बिवाई वाले किसानों की जिन्दगी पर सुन्दरी की किताब खुली पड़ी है, सुन्दरी की एड़ियों की त्वचा की तरह उनका मन भी दरक रहा है, दर्द की आड़ी तिरछी रेखाएं एक दूसरे को काट रही हैं।''[3]

'विश्रामपुर का संत' कथा की एक-रैखिकता के बावजूद कई उपकथाओं की केन्द्रीयता लिये हुए है। इस कथा में कई युग्म है, कुंवर जयंती प्रसाद-जयश्री, जयश्री-सुन्दरी, सुन्दरी-सुशीला। इन सभी युग्मों का कोई न कोई तार कुंवर जयंती प्रसाद सिंह और भूदान आन्दोलन से जुड़ा हुआ है और इन दोनों —कुँवर जयंती प्रसाद व भूदान के बीच जो एक समानधर्मी तत्त्व है वह है पाखण्ड। 'सत्ता, लिप्सा, धन, भूमि, लम्पटता की यह पाखंड कथा बंद सी दीखने के बावजूद खुले अंत की कथा है, क्योंकि उपन्यासकार ने कुंवर जयंती प्रसाद सिंह की लिप्सा गाथा का जो उदात्तीकरण आत्महत्या की प्रायश्चित गाथा के माध्यम से किया है वह प्रायश्चित न होकर नेमेसिस (प्राकृतिक प्रतिशोध) सरीखा है।'[4] डॉ० परमानंद श्रीवास्तव के शब्द हैं। 'श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्यात्मक मखौल के मुख्य केन्द्र कुंवर जयंती प्रसाद सिंह हैं। उनके व्यंग्य पूर्ण चित्रण से मखौल का कामिक पक्ष भले ही ज्यादा उभरता हो, पर उनकी ट्रेजडी यह है कि वे उस

1. वही पृ० 125
2 वही पृ० 91
3. वही पृ० 136
4 तद्भव, अंक1, मे वीरेन्द्र यादव का लेख

सामंत वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो स्वभाव से ही और संसाधनों से भी क्रूर शिकारी है और सब कुछ एक साथ पाना चाहता है।'[1] मुरली मनोहर प्रसाद सिंह का कथन परमानंद जी की बात को ही विस्तार देता है, 'विश्रामपुर का संत में अवश्य ही भूस्वामी वर्ग के एक पतित व्यक्ति के एकांत, उसकी लम्पटता और कामुकता का वर्णन किया गया है। पर कथा विन्यास की सेटिंग्स में कांग्रेसी सरकार की अफसरशाही, व्यभिचारी राजनीति और भूस्वामित्व के नये उत्पीड़क रूपों को बड़े कलात्मक ढंग से गुम्फित किया गया है। अत: कुंवर साहब की कहानी पूंजीपति, भूस्वामी वर्ग के शासन की एक दिलचस्प (कतरन) के रूप में सामने आती है, पर उससे कहीं अधिक राजसत्ता के विकारग्रस्त ढांचे और उसकी सड़ांध पर अचूक टिप्पणी करती है।'[2]

इसी कड़ी में मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' और 'चाक' उल्लेखनीय हैं, जो उन्हें 'मैला आँचल', 'रागदरबारी', 'अलग-अलग वैतरणी' की कड़ी में स्थापित करने के लिए पर्याप्त हैं। 'इदन्नमम' में एक विजन है जो लेखिका के बुन्देलखंडी जीवन के प्रामाणिक और अन्तरंग अनुभव, पहाड़ी अंचल की धरती और बीहड़ पहाड़ के जीवन के सामाजिक यथार्थ तथा एक गहरी मानवीय संवेदना से सम्पन्न है। मैत्रेयी अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों में बुंदेलखंड की अहीर कन्याओं की करूण नियति कथा, जो किसी न किसी रूप में नारी मात्र की नियति कथा है, गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करती रही है, पर इदन्नमम में यह कथा, 'करूण' की सीमा का अतिक्रमण करती हुई 'जुझारू' बन गई है, जिसकी प्रतीक है मंदाकिनी। इदन्नमम की मंदाकिनी वास्तविक अर्थों में एक जुझारू युवती है जो केवल परिवार और समाज द्वारा अपने लिए निर्मित बंधनों को ही नहीं तोड़ती वरन् उस शोषण के बिरूद्ध में तनकर खड़ी होती है, जो आज के नेताओं और माफिया ठेकेदारों द्वारा आदिवासियों और ग्रामीणों पर कहर के रूप में बरपा जा रहा है। मंदाकिनी का यह संघर्ष 'चाक' की सारंगा के रूप में व्यापक धरातल पर पहुँचता है। डॉ० परमानंद श्रीवास्तव की धारणा है, 'चाक उपन्यास एक स्त्री की लम्बी लड़ाई का वृतान्त है। इसी अर्थ में उसके मुक्ति संघर्ष की महागाथा। स्त्री विमर्श या दलित विमर्श या सबाल्टर्न अध्ययन के जैसे प्रयत्न हैं उन्हें देखते एक 'नारीवाद पाठ' के रूप में 'चाक' के पाठ की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। पर यह उपन्यास 'फेमिनिस्ट क्रिटीक' भर नहीं है। उपन्यास अपनी समग्रता में संकेत है कि मैत्रेयी में मानवीय भावों की

1. तद्भव, अंक 1
2 तद्भव, अंक एक

सघन अंतरंगता और सम्बन्धों की जटिलता को चित्रित करने की अनोखी क्षमता मौजूद है। उपन्यास कैसे एक व्यक्तिगत, पारिवारिक, सीमित अर्थ में सामाजिक त्रासदी से आगे बढ़कर अंत में अपना एक राजनीतिक अर्थ भी पा लेता है, इसे नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए।'

जाट किसानों के गाँव अतरपुर में रेशम की हत्या न तो इस उपन्यास में और न ही स्वातंत्र्योत्तर भारत में कोई अकेली हत्या है : कितनी ही स्त्रियों ने शील सतीत्व या मर्यादा की खातिर या तो आत्महत्या का रास्ता चुना या खत्म कर दी गयीं। झूठे सामंतवाद की झूठी मर्यादा के नाम पर। विकृत सामंतवाद के फूहड़ इतिहास में यातना झेलती स्त्रियों की कितनी ही कथाएँ या गीत कथाएँ दर्ज हैं। अतृप्ति की चरमता में विभोर रेशम के लिए लेखिका के शब्द हैं, 'गुलाबी रंगत, नाक-आँख से तराशी हुई गूजरी, हथौड़ों की सी गढ़ी हुई देह की उठान! कहाँ ले जाती इतना रूप!' पति के न रहने पर भी अवैध मातृत्व धारण करने और ऐलान करने पर घर वालों ने राश्ता निकालना चाहा— डोरिया से व्याह कर दिया। रेशम को यह सब स्वीकार नहीं था और उसने अस्वीकार का साहस दिखाया और मार दी गयी......।' यह था अतरपुर का गाँव, जिसका सामाजशास्त्रीय विवरण दूसरे अध्याय में है—'अतरपुर गाँव बड़ा नहीं। कुल आबादी एक हजार। ब्राह्मण, बनिया, जाट जैसी ऊँची कही जाने वाली कौमे हैं तो तेली, गरेड़िया, कुम्हार, खटिक, चमार और नाई जैसी छोटी जातियाँ भी हैं। सक्का मुसलमान भी है।', जो मैंला आँचल के मेरीगंज और परती परिकथा के 'परानपुर' का आभास देता है, पर है स्वातंत्र्योत्तर भारत का एक गाँव जो पूंजीवादी व्यवस्था, चेतना और राजनीति में व्यापक प्रसार के दौर का गाँव है। इसलिए अतरपुर में चल रहा संघर्ष स्थूल नहीं सूक्ष्म है। गाँव में पुराने और नये दोनों किस्म के धनाढ्य हैं। दोनों में फर्क है, लेकिन दोनों एक जुट होकर नये उभार के खिलाफ लड़ते हैं। आज के गाँव के निहित स्वार्थी और शोषक वर्ग के लोग सामन्ती जमाने की तरह मूंछ की लड़ाई नहीं लड़ते। साधजी हों या फत्ते सिंह या थान सिंह छोटी-मोटी लड़ाई में अपनी हार और बेइज्जती पर कोई उग्र प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करते। इस उपन्यास का मूल कथ्य यह है कि स्वतंत्रता जीवन के लिए आवश्यक तो है, लेकिन उसे पाना अत्यन्त कठिन है, रेशम को जान देनी पड़ी; गुलकन्दी, उसकी माँ हरिप्यारी और उसके पति विसुनदेवा को भी जान देनी पड़ी, सारंग को मार खानी पड़ी अपने पढ़े लिखे पति रंजीत द्वारा, श्रीधर को घातक हमले से गुजरना पड़ा, लेकिन ये सभी प्रसंग कुछ न कुछ नयापन लिये हुए है। ये चरित्र जीवन में नये प्रश्न उठाते हैं, जिन्हें संक्रमणशील समाज भी

झेल नहीं पाता। रेशम की हत्या किये जाने पर सारंग सोचती है—'अंधियारी ने ढँक लिया उजियारा' सारंग उजियारी की रक्षा में खड़ी होती है। दरअसल वह गाँव का इतिहास बदलकर नया इतिहास रचना चाहती है, क्योंकि 'गाँव के इतिहास की दास्ताने बोलती हैं,—रस्सी के फंदे पर झूलती रूक्मिणी, कुएँ में कूदने वाली रामदेई, करबन नदी में समाधिस्त नारायणी— ये बेबस औरते सीता मइया की तरह भूमि प्रवेश कर अपने शील-सतीत्व की खातिर कुरबान हो गयीं। ये नहीं और भी न जानें कितनी .....।' बूढ़ी खेरापतिन इस तरह की कथाएँ सुनाती है। सारंग की कोशिश है कि बूढ़ी अब नई कथा सुनाए जो उसके संघर्ष से पैदा हो रही है।

मोटे तौर पर देखा जाय तो आज के उपन्यास लेखन की परम्परा में प्रेमचन्द एवं रेणु का संगीत समाया हुआ है। व्यक्तिवाद टूटा है। शिष्ट समाज लड़खड़ाया है और शहरी मध्यवर्ग की कुंठाएं बेदखल हुई हैं। उसकी जगह गाँव कस्बे के मनुष्य और कुनबे अपने बहुवर्णी एवं विविध धर्मी यथार्थ के साथ जीवित हुए हैं। वीरेन्द्र जैन का 'डूब (1994)' मध्य प्रदेश के एक पिछड़े उनंचल की पीड़ा को बड़े सशक्त रूप में प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। इसमें उन्होंने उस पहाड़ी अंचल को अपने विजन का आधार बनाया है, जो स्वतंत्र भारत की बिजली-परियोजनाओं के तहत डूब क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है। 'यों तो ठाकुरों और साहूकारों के द्वारा गरीब किसानों का शोषण पर्वतीय क्षेत्रों में भी होता रहा है, पर सिंचाई या विद्युत-उत्पादन की परियोजनाओं के तहत विस्थापित होने वाली पहाड़ी ग्रामीणों के शोषण का तो मानो बांध ही टूट जाता है।'[1] नेताओं को अपने वोट बैंक की चिन्ता है, ऊँचे स्तर के पदाधिकारियों को अपनी कारगुजारी दिखाने की धुन होती है और गाँव कस्बे के साहूकार निचले स्तर के कर्मचारियों से मिलकर ग्रामीणों को मिले मुआवजे की रकम पर गिद्धों की तरह टूट पड़ते हैं। सदियों से शासन-व्यवस्था द्वारा उपेक्षित और शिक्षा-दीक्षा , परिवहन, संचार व्यवस्था, स्वास्थ्य आदि की सुविधाओं से वंचित पर्वतीय ग्रामीण अवश भाव से सब कुछ भुगतते और सहते हैं। आंचलिक भाषा प्रयोग के कारण यह भी आंचलिक उपन्यास की कड़ी है। वीरेन्द्र जैन के 'पार' (1994) की पूरी सामग्री डूब के बिजन में ही समेटी जा सकती है।

1. गोपालराय, आजकल, मई-जून 1995

'गोदान', 'मैला आँचल', 'बलचनमा', 'रागदरबारी' जैसे उपन्यास यदि किसानों की केन्द्रीयता के माध्यम से सामंतवाद की परतों को उघाड़ते हैं, तो अब्दुल विस्मिल्लाह का 'मुखड़ा क्या देखें' इस सामंती रचना के हाशिए पर धकेल दी गयी उस 'परजा' की नियति से साक्षातकार कराता है जो 'बड़मनइन' के हियाँ सोउरी से लेकर बियाह' तक बेगार करने को अभिशप्त हो। 'हाशिये के लोगों की यह कथा जाति, धर्म की सीमाओं को फलांगती भारतीय राष्ट्र-राज्य की मूलभूत संरचना को प्रश्नों के घेरे में खड़ी करती है। धर्म निरपेक्षता बनाम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आज की बहस जिन मिथ्या अवधारणाओं पर टिकी है, उसका खुलासा इस उपन्यास में अनजाने ही जिन जमीनी सच्चाइयों के साथ होता है, वह उपन्यास की विधागत सामर्थ्य के प्रति आश्वस्त करता है।'[1] सामंती ग्राम सम्बन्धों की तार-तार होती बुनावट, परम्परागत पेशों की टूटन, जाति व्यवस्था की जकड़न, साम्प्रदायिकता की अंतर्धारा, समाज के निम्न वर्गों में जनतांत्रिक चेतना का उभार, सामाजिक न्याय की अनुगूँज एवं गाँव में प्रवेश करती बाजारमूलक सभ्यता का अत्यन्त सहज चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। उपन्यास की सफलता इस बात में है कि उपन्यासकार हाशिये पर खड़े लोगों की कथा कहते हुए खंडित दृष्टि नहीं अपनाता, इसी लिए यह जितनी अल्ली चूड़ीहार की कहानी है, उतनी ही पंडित रामवृक्ष पाण्डेय की भी। यह उपन्यास भारतीय समाज के प्रभुत्वकारी सत्ता विमर्श से जिरह करते हुए 'परजा' के विमर्श का प्रतिपक्ष तैयार करते हैं और जब यह परजा मुस्लिम समुदाय की चूड़िहार बिरादरी का परिवार हो तो सत्ता विमर्श के निहितार्थ में सांस्कृतिक विमर्श भी शामिल हो जाता है, इसे पं० रामवृक्ष पांडे के इस वक्तव्य में देखा जा सकता है—'इस शुभ अवसर पर हलवाई आया, कोंहार आया, चमार और पासी आए, सिपाही-नाऊ भी आया, मगर अल्ली चूड़िहार क्यों नहीं आया? जरूर इस मुसल्ले का दिमाग खराब हो गया है। अब बन गया न पाकिस्तान, हिन्दुस्तान में जगह न मिली तो पाकिस्तान चले जाएंगे। वरना एक परजा की यह मजाल कि गाँव के प्रतिष्ठित ब्राह्मण कन्या का शुभ विवाह हो और वह अनुपस्थित रहे। वाह रे गांधी बाबा, खूब आजादी दिलाई तुमने।'[2] यही है सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की वह वर्णाश्रमी साम्प्रदायिक परिणति जिसके वशीभूत होकर पं० रामवृक्ष पांडे यह सोचते हैं कि, 'उनकी एक परजा ने ऐसा विद्रोह क्यों किया न वह भोजन करने आया और न ही अपना कर्तव्य करने। आखिर क्यों? ....ठीक है कि अब आजादी मिल गई है, मगर

1. कथाक्रम जुलाई 99 में वीरेन्द्र यादव का लेख, पृ० 79
2. मुखड़ा क्या देखें— अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ० 18

इसका अर्थ तो यह नहीं हुआ कि शासन अब चुड़िहार-धुनिया और चमार-सियार चलाएंगे......।'[1] इस उपन्यास में जनतंत्र और आजादी का विमर्श वर्णाश्रमी व्यवस्था से टकराते हुए जिन सच्चाइयों से साक्षात् कराता है, वह स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान से जुड़ा है। यह स्वतंत्रता के बाद के भारत के ऐतिहासिक विकास का सामाजिक विमर्श भी है।

आजादी की पृष्ठभूमि में ही कामतानाथ द्वारा लिखा 'कालकथा' है, जिसमें एक ओर गांधी के सुराज आन्दोलन में किसान चेतना का विस्फोट है तो दूसरी ओर ब्रिटिश राज के शोषण और दमन की अकथ कथा को बांधने का उपक्रम किया गया है। यह दूसरी बात है कि कामतानाथ इतने लम्बे चौड़ पाट के बहाव को उपन्यास में साध नहीं पाये हैं। गिरिराज किशोर का 'पहला गिरमिटिया' शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी हिन्दी उपन्यास यात्रा की एक अलग दृष्टि का सूचक है। यहाँ उन्होंने गांधी को उनके जीवन के उस दौर में तलाश करने की कोशिश की है, जब वह दक्षिण अफ्रीका में थे। इस किताब की भूमिका में गिरिराज लिखते हैं, 'महात्मा गांधी के जीवन के तीन पक्ष हैं—एक 'मोहनिया पक्ष', दूसरा 'मोहनदास पक्ष' तीसरा 'महात्मा गांधी पक्ष' .... मेरा इरादा यही था कि मैं सम्पूर्ण गांधी पर उपन्यास लिखूँ। .... लेकिन दक्षिण अफ्रीका की यात्रा करने के बाद मैंने तय किया कि मोहनदास पर और उसमें भी दक्षिण अफीकी गांधी पर ही उपन्यास लिखना ठीक होगा। इसमें कोई शक नहीं कि गांधी हमारी आजादी के संघर्ष-पुरूष हैं लेकिन मोहनदास एक आम आदमी की संवेदना और अनुभवों के ज्यादा नजदीक है।, आने वाली पीढ़ी को मोहनदास की ज्यादा जरूरत है।'[2] उपन्यास के शीर्षक, आकार एवं अनेक विवरणात्मक प्रसंग उपन्यास के पाठ को प्रभावहीन करते हैं, फिर भी यह स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह एक नई शुरूआत है। गांधी के सामाजिक, राजनैतिक पक्ष के साथ उनके पारिवारिक सन्दर्भों की गहरी पड़ताल गिरिराज जी ने की है। पत्नी कस्तूरबा और बच्चों के साथ उनके व्यवहार को लेकर गिरिराज जी का रूख कहीं भी प्रकटत: आलोचनात्मक तो नहीं है लेकिन वह कहीं उस सबके पक्ष में अपनी ओर से तर्क देते भी नहीं नजर आते। कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल अन्त तक अनुत्तरित रहते हैं।

1 वही, पृ० 30
2. पहला गिरमिटिया—गिरिराज किशोर

इसी कड़ी में भगवान सिंह का 'अपने-अपने राम' आता है, जो मिथक एवं पौराणिक आख्यान के द्वारा समकालीन, मूल्यों एवं भावबोध को परखने की कोशिश है इनकी अगली यात्रा 'उन्माद' के माध्यम से साम्प्रदायिकता को मनोवैज्ञानिक धरातल पर, एक पात्र रतन के सम्पूर्ण जीवन क्रम और घटनाओं के माध्यम से अन्वेषित करने की है। रतन के पिता कट्टर आर्यसमाजी हैं। विभाजन का दर्द उन्होंने झेला है। सब कुछ लुट पिट जाने के बाद नये सिरे से उन्होंने अपनी गिरस्ती नये हिन्दुस्तान में जमायी है। रतन के रूपमें वे अपनी सारी मान्यताएं, सपने, महत्वाकांक्षाएं पूरा करना चाहते हैं, जो वे स्वयं नहीं पा सके। पिता रतन को संघ शाखा में महान बनने के लिए भेजते हैं क्योंकि महान बनने के लिए अनुशासन जरूरी है जो संघ शाखा में सहज उपलब्ध है। पर यही पिता उसे डायरी लिखने को भी कहते हैं क्योंकि महान लोग डायरी भी लिखते आये हैं। संघ की विचारधारा और पिता से मिले संस्कार रतन की दुनिया छोटी ही करते जाते हैं। उसे देर सबेर लगने लगा था कि यदि इस को सांस्कृतिक विरासत मानें तो इसे रेवड़बंदी की बिरासत मानना होगा जिसमें कहीं किसी धोखे से आये जानवरों को घेर कर अपनी दौलत बनाकर रखा जाता था कि जरूरत पड़ने पर जिवह किया जा सके।'[1] वह अनुभव कर रहा था कि पिता की महत्वाकांक्षाओं ने, उसे महान बनाने की उनकी जिद ने उसे कुचल कर रख दिया है। जिस रूपचंद ने नैरेटर या मनोज सारस्वत को आबिदा के बारे में बताया था उसी ने रतन के बारे में यह भी बताया है कि 'पागल तो उसे होना ही था।'

कट्टर हिन्दू संस्कारों से लैस रतन का सामना जब आबिदा नामक मुस्लिम लड़की से होता है, तो उसके दिल-दिमाग में पुनः विचारों की उथल पुथल शुरू होती है और उन्हें प्रेम के सूत्र में बाँधकर लेखक उपन्यास को नयी चेतना देता है। इनके बीच की बहसें कहीं-कहीं बोझिल और आरोपित भी लग सकती हैं पर रतन और आबिदा की प्रेम कहानी सामान्य प्रेम कहानी से अलग बौद्धिक विचारधाराओं के परस्पर आपसी टकराव और घात-प्रतिघात की कहानी है।

उपन्यास में इतिहास एक ही तरह से नहीं आता। 'जिन्दगीनामा', 'मय्यादास की माड़ी', 'महाभोज', 'कालकथा ' अपने-अपने राम', 'कलिकथा वाया वाइपास', में 'पाहीघर', 'सात आसमान', हमारा शहर उस बरस' और 'सोन बरसा' में वह अलग-अलग तरह से अलग-अलग रूपों में आता है। 'उन्माद में

1. उन्माद—भगवान सिंह

इतिहास प्रच्छन्न रूप में है— सिर्फ इस अर्थ में है कि जब भी साम्प्रदायिकता के रूपों - प्रकारों का विश्लेषण किया जायेगा, साम्प्रदायिकता का इतिहास याद आयेगा, वे परिस्थितियाँ याद आयेंगी जिनमें राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, शिवसेना, बजरंग दल जैसे संगठन बने और एक तरह के Fundamentalist Rehetoric या बडबोली आक्रामकता के बल पर ताकतवर और सत्ता के सहयोगी बने।[1] साम्प्रदायिकता उन्माद है तो केवल वैयक्तिक स्तर पर नहीं, सामूहिक स्तर पर भी। इसी उन्माद का एक अन्य विमर्श 'कितने पाकिस्तान' के रूप में उपस्थित है जो अपनी कथा ढाँचा एवं शिल्प संगठन की दृष्टि से 21 वीं सदी की उपन्यास यात्रा की विशिष्ट पहचान है। कमलेश्वर लिखते हैं, '....कोई भी संस्कृति पाकिस्तानों के निर्माण के लिए जगह नहीं देती। संस्कृति अनुदार नहीं उदार होती है.... वह मरण का उत्सव नहीं मनाती, वह जीवन के उत्सव की अनवरत श्रृंखला है.... इसी सामाजिक संस्कृति की जरूरत हमें है क्यों कि वह जीवन का सम्मान करती है।' कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' इतिहास और संस्कृति की इसी गहरी समझ का विराट फलक बनकर आया है। मनुष्य के वर्तमान, समसामयिक चिन्ताओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करता यह उपन्यास न केवल राष्ट्रीय सन्दर्भो तक ही अपने को सीमित रखता है अपितु पूरे जहान की राजनीतिक, सामाजार्थिक ज्वलंत समस्याओं से जूझता सही अर्थों में पाठक को एक ग्लोबल गाँव-समाज का सदस्य बना देता है। 'कितने पाकिस्तान' में अतीत, इतिहास, परंपरा का इस्तेमाल इस रूप में किया गया है कि वह हमारे वर्तमान के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं को समझने की एक नयी दिशा और चिंतन पद्धति दे सके। उपन्यास का नायक, जो हिन्दी उपन्यास के नायकत्व से अलग है, अदीबे आलिया ही 'मनुष्य की सबसे बड़ी धरोहर' 'बेलौस, बेखौफ आवाज' की रक्षा करने में समर्थ है। इंसानियत की यही आवाज अदीब की आवाज बनकर सारी दुनिया के सांस्कृतिक इतिहास में उन विलगाववादी तत्त्वों को तलाशती है जो 'पाकिस्तानों' की निर्मिति में अपनी भूमिका निभाते रहे हैं। 'उन्माद' के रतन आबिदा की प्रेमकथा के समान यहाँ भी सलमा और अदीब की प्रेमकथा का प्रसंग अनुस्यूत है। यह प्रेम न केवल हिन्दू-मुस्लिम के बीच की दीवार को गिराता है, अपितु हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में जाने जाते मुल्कों की सीमा को भी अमान्य करता है— उनका एक ही रिश्ता है मानवीयता का।

1. कथाक्रम-6 जुलाई 92, डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख

9 वें एवं 10 वें दशक ने हिन्दी उपन्यास की अनेक रूढ़ियों को तोड़ा है। न केवल भाषा एवं शिल्प के स्तर पर बल्कि कहना चाहिये हिन्दी उपन्यास की जमीन छद्म आधुनिकता, व्यक्तिवाद, मार्क्सवादी लेखन की अति क्रान्तिकारिता के शोर से दूर होकर जीवन और समाज के व्यापक परिवेश को स्पर्श कर रही है। इस दृष्टि से मनोहर श्याम जोशी का 'कुरू-कुरू स्वाहा' के बाद प्रकाशित' कसप प्रेमकथाओं की दुनियाँ में नई दस्तक है। मैं इसे कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर एक युगान्तकारी उपलब्धि मानता हूँ। किस्सागोई आधुनिक युग में विरल होती गयी है और कला के स्तर पर सम्भावना रहित मान ली गयी है। जोशी जी ने इसी तत्त्व को नयी क्षमता के साथ सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है। 'सम्बन्धों की जीवित तात्कालिकता में मिथकीय स्मृतियों, संस्कारों को अंकित करते हुए निकटता और दूरी का खास सन्तुलन साधते हुए जोशी ने एक ऐसी कथा भाषा उपलब्ध की है जिसके लिए शिल्प सजग लेखक ईर्ष्या करेंगे। गम्भीर और अगम्भीर रोमाण्टिक और भदेस का ऐसा संगठन कम लेखकों के यहाँ दिखाई देता है। वर्तमान को मिथक पुराण में और मिथक पुराण को वर्तमान में बदलने की प्रक्रिया जोशी की कथा प्रक्रिया का जरूरी पहलू है।'[1] कसप मध्यवर्गीय घरेलू जीवन में घटित प्रेम कहानी है, जिसकी नायिका बेबी हिन्दी कथा साहित्य के अविस्मरणीय चरित्रों में गिनी जायेगी। डी० डी० का लाटापन व्यक्तित्व के रूप में अनोखा अनुभव है। 'सूखा बरगद' की व्याख्या अगर साम्प्रदायिकता की समस्या से अलग हटकर की जाये तो यह विशुद्ध प्रेम का उपन्यास है जिसकी परिणति अलगाव में होती है। 'सूखा बरगद' की रशीदा हिन्दू युवक विजय से प्रेम करती है जबकि रशीदा का भाई विजय की बहन की ओर आकृष्ट होता है। इस उपन्यास ने पहली बार प्रेम के विखण्डन के कारणों में सामाजिक कारणों को जिम्मेदार ठहराया है। यह सामाजिक कारण है— साम्प्रदायिकता का नया उभार जो न केवल समाज को तोड़ रहा है बल्कि प्रेम जैसी कोमल भावनाओं को भी कुचल रहा है। 'सूखा बरगद' में प्रेम की जो ट्रेजडी बयान की गई है वह हमारे समय की सबसे बड़ी चुनौती भरी ट्रेजडी है। प्रेम की मींमासा एवं खोज 'मुझे चाँद चाहिये' में भी है जो वर्षा वशिष्ठ की 'संघर्ष गाथा' के रूप में उपस्थित है, किन्तु विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसने न केवल हिन्दी कथा क्षेत्र में दाम्पत्य प्रेम की नींव डाली है, बल्कि दूसरी ओर कथा लेखन में कविता और उपन्यास (गद्य) के बीच सदियों से खड़ी भेद की नकली

1. उपन्यास का पुर्नजन्म— प्रो० परमानन्द श्रीवास्तव

दीवार को ढहा दिया है। विनोद कुमार शुक्ल ऐसे कथाकार हैं, जो परकीया प्रधान प्रेम से विमुख होकर पत्नी को ही 'प्रेयसी' का दर्जा देते हैं। पत्नी सोनसी का जितना रसमय और विस्मयकारी वृत्तान्त इस उपन्यास में दिखाई देता है वह इतना परिचित, किन्तु अपरिचित प्रेम का इलाका है, जो इस शताब्दी के कथा लेखन में एक आश्चर्य लोक की तरह है। प्रकृति और स्त्री के सौन्दर्य को मिलाकर इस उपन्यास में प्रेम की ऐसी अनजान खिड़की खोली गई है जो हमारे कथा क्षेत्र में सदियों से बन्द थी। इसलिए हिन्दी उपन्यास की प्रेम दुनियाँ का यह एक नया अध्याय है। विष्णु खरे ने इस उपन्यास के अनुकथन में स्पष्ट किया है, 'इस उपन्यास में कोई महान घटना, कोई विराट संघर्ष, कोई युग सत्य, कोई उद्देश्य या सन्देश नहीं है। कथानक कस्बाई महाविद्यालय के गणित के व्याख्याता रघुवर प्रसाद और उनकी नवविवाहिता सोनसी के आस पास बुना गया है। परिवेश निम्नमध्यवर्गीय है जहां पास-पड़ोस, परिवार, महाविद्यालय उसके छात्र, कर्मचारी और रोजमर्रा के जीवन के ब्यौरे अपने पूरे बिस्तार में मौजूद हैं। यहाँ न नायक है, न खलनायक, बस जीवन और उसकी जीवन्तता है। लोक और उनका जीवन, सादा और निरीह है लेकिन चमत्कार की गुजांइश और प्रतीक्षा बनी रहती है।' [1] कहना न होगा कि यह अपने आप में एक उपलब्धि है, क्योंकि इससे पहले हिन्दी उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय जीवन या तो हताशा और ऊब का स्रोत रहा है, या ब्लैक ह्यूमर का। इसीलिए मधु बी० जोशी इसे 'समकालीन वैष्णव पाठ' कहते हैं। रबीन्द्र त्रिपाठी के अनुसार, 'यों तो पहले भी कई उपन्यासों को कवित्वपूर्ण या काव्यात्मक कहा गया है लेकिन 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की काव्यात्मकता भिन्न किस्म की है। दूसरे उपन्यासों को जब काव्यात्मक कहा गया तो उसका मतलब मोटे तौर पर भाषा का काव्यात्मक होना रहा है। लेकिन विनोद कुमार शुक्ल के इस उपन्यास की काव्यात्मकता सिर्फ भाषा के स्तर पर नहीं है, बल्कि पूरे 'विजन' के स्तर पर है।' 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' हमारे अनुभव करने के ढंग को बदल देती है। हम अपने आस पास को नये तरीकों से देखने लगते हैं उसमें वह देखने की कोशिश करते हैं, जो अब तक 'अनदीखा' था, पर वहाँ मौजूद था। अमूर्तन के स्तर पर कविता यही करती है। इसी अर्थ में यह उपन्यास काव्यात्मक है।

इस दौर के उपन्यासों में एक नया स्वर स्त्री के परम्परागत ढाँचे को तोड़कर नयी-नयी चेतना व स्फूर्ति प्रदान करता है, जो उसे सतीत्व व देवीत्व के कटघरे से निकालकर उसे इन्सान के रूप में देखने

1. हंस, मार्च 1999

समझने का यत्न करता है। 'अब वह केवल खिलौना नहीं केवल रमणी भी नही, मात्र संगिनी भी नहीं, अधिकाधिक व्यक्ति होती जा रही है।'[1] नारी लेखिकाओं ने भी परम्परागत नारी चिन्ताओं और प्रश्नों से मुक्त होकर उपन्यास साहित्य को नयी भूमि दी है, जो राजनीति, मानवीय सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था, स्त्री नियति और शोषण, स्त्री-पुरूष सम्बन्ध जैसे अन्य अनेक प्रश्नों से निर्मित हुई है। इनमें कृष्णा सोबती अग्रगण्य हैं, जिन्होंने महिला लेखन को सम्पूर्ण लेखन में परिवर्तित कर दिया है। मन्नू भण्डारी की उपन्यास यात्रा महिला लेखन को नये स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। प्रेम व जीवन के संवेगात्मक पक्षों पर सफलता पूर्वक प्रतिष्ठित लेखन के बाद मन्नू ने 'महाभोज' लिखकर हिन्दी उपन्यास को समाज के व्यापक व ज्वलंत सत्य से जोड़ दिया। आपातकाल के तत्काल बाद की परिस्थितियों और राजनीति के अर्थहीन होती जाती परिस्थितियों के बीच जनमानस की यातना, संघर्ष और उसके स्वप्न भंग को जितनी संजीदगी एवं ओजस्विता के साथ इन्होंने अंकित किया है, वह अन्यतम है। इस यात्रा को राजी सेठ ने 'तत्सम' से आगे बढ़ाया है। 'निष्कवच' में उन्होंने मूल रूप से विस्थापित युवा पीढ़ी की मानसिकता को विश्लेषित करने की कोशिश की है। उषा प्रियंबदा, ममता कालिया, प्रभाखेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, साराराय, गीतांजली श्री अपनी औपन्यासिक यात्रा के माध्यम से जन-जीवन में सार्थक हस्तक्षेप के साथ उपस्थित हैं। 20 वीं सदी का अंतिम दशक अगर इसलिए याद किया जाये कि उसमें हिन्दी महिला उपन्यास लेखन ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि पा ली है तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।

1. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 6

अध्याय - 4

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और उनका शिल्प

'अंधेरे बन्द कमरे'

राकेश की रचनात्मक यात्रा इस बात की गवाह है कि उनका संवेदनशील मन सदा अपने आस-पास की घटनाओं से उद्वेलित होता रहा है। उन्होंने संवेदनात्मक दृष्टि से जीवन को देखा और जीवन को अपनी संवेदना से लपेटकर कृतियों में अभिव्यंजित किया। एक ओर राकेश अपने मन की व्याकुलता को शब्द देना चाहते हैं, दूसरी ओर वे आस-पास के जीवन्त जीवन को खुली दृष्टि से देखते हैं और उसका उपभोग अपनी रचनाओं में करते हैं। इस प्रकार उनकी रचनाओं में दो संसार साथ-साथ उपस्थित हैं—अपना और सबका। स्वयं राकेश ने लिखा है—

> ''मेरे लिए अनुभूति का सीधा सम्बन्ध मेरे यथार्थ से है और यथार्थ है मेरा समय और परिवेश- व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश। मैं इनमें से किसी एक से कटकर शेष से जुड़ा नहीं रह सकता- अपने पास के सन्दर्भों से आँख हटाकर दूर के सन्दर्भों में नहीं जी सकता।''[1]

'अपने लेखन में मोहन राकेश सारी आत्म परकता के बावजूद, 'परिवार', 'घर', और 'विवाह' जैसी संस्थाओं के सम्पूर्ण निषेध तक नहीं जाते। लेकिन इन्हें वे अपनी इच्छा और शर्तों के अनुरूप ढालना चाहकर अपने ढंग से जीना अवश्य चाहते हैं।'[2]

राकेश के उपन्यासों का मूल स्वर दाम्पत्य सम्बन्धों में तनाव, कटुता, स्त्री-पुरुष का बंधन, मुक्ति, अन्तर्द्वन्द्व का स्वर है। 'अंधेरे बन्द कमरे' उनका पहला उपन्यास है, जो अगर उपलब्धि नहीं तो 'सम्भावना अवश्य है,उपन्यास के मुहावरे को खोजने की कोशिश है।' इसकी भूमिका में उन्होंने तीन प्रश्नों को उठाया है और इनका उत्तर पाठकों पर छोड़ दिया है। 'क्या यह उपन्यास दिल्ली के जीवन का रेखा चित्र है? क्या

1. 'परिवेश'—मोहन राकेश, पृष्ठ 26
2. हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृ० 192

यह पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा है? क्या यह पत्नी-पति, हरबंस -नीलिमा के आपसी टकराहट की कहानी है? यह तीनों हो सकते हैं, लेकिन इसकी तह में कुछ और भी है। क्या इसकी तह में उगते नगर-बोध को पकड़ने की कोशिश नहीं है जो आधुनिक -बोध का परिणाम है? यह सही है कि उपन्यास की रीढ़ पति- पत्नी के जीवन में तनाव और खिंचाव के सूक्ष्म निरीक्षण और काव्यात्मक चित्रण में उपलब्ध है; लेकिन यह इसकी सीमा नहीं है।'[1] मोहन राकेश के प्रत्येक चरित्र के चेहरे पर तनाव की लकीरें हैं, वह चाहे हरबंस हो या कालिदास, नन्द हो या महेन्द्र नाथ (आधे-अधूरे)। उसका घर टूट चुका है या टूट रहा है। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व घर की खोज में है और व्यक्तित्व की खोज घर में है। उस उपन्यास में महानगरी है और महानगरी में निरन्तर टूटते हुए मानवीय सम्बन्धों की नियति; अकेलेपन का संत्रास है। श्रीकान्त वर्मा ने इसी बात को अस्तित्ववादी तौर पर कहने की कोशिश की है।वह प्रेम की विविधि भंगिमाओं के आधार पर नीलिमा-हरबंस के अर्थहीन जीवन की दृष्टि से इसका मूल्यांकन करते हैं। 'यह उपन्यास प्रेम का बैठक कमरा है जो सड़क पर है या जो एक सड़क में परिणत होता है। प्रेम करते हैं और पहले से अधिक अकेले होते जाते हैं। हम प्रेम करते हैं और एक दिन हम पाते हैं कि हम प्रेम नहीं करते थे। बहुत से लोग यह खोज नहीं भी कर पाते, शायद अधिकांश लोग। ऐसे लोगों का जीवन सबसे अधिक ट्रैजिक होता है।' 'राकेश : एक अंतरंग परिचय' में वासु भट्टाचार्य ने कहा है— "अंधेरे बंद कमरे बहुत समकालीन रचना है। आज के बुद्धिजीवी वर्ग का कन्फ्यूजन और उसके भावनात्मक जीवन की असहाय चीख इस उपन्यास में प्रतिध्वनित हुई है। जिन मजबूरियों में आज का इन्सान जी रहा है, उनका हल एक और जिन्दगी में भी नहीं है। कन्फ्यूजन के शवगार में मजबूरियों की पथरीली टेबुल पर अस्तित्ववाद की लाश-लाश नहीं, देह छटपटा रही है। लेखक की सचेतना मुक्तिवाद के अस्त्र लिये उस देह की —उस लाश की चीर-फाड़ में व्यस्त है। बीमारी की जड़ कहाँ है? किस औषद, किस शल्य से इसका उपचार होगा? क्या होगा भी? कहीं लाश का भी उपचार होता है? पर सचमुच वह लाश, लाश ही है, सजीव देह नहीं?"[2]

'अंधेरे बन्द कमरे' का चित्रपट बहुत विस्तृत नहीं है, आज की सामाजिक पृष्ठ भूमि में दो-चार व्यक्ति ही इस चित्र में अंकित हैं। ये पात्र समाज के मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं, जो अपने ही अन्दर बंद, छुटे,

1 आधुनिक हिन्दी उपन्यास—मोहन राकेश, पृष्ठ 67
2. डॉ० नरेन्द्र मोहन द्वारा सम्पादित 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' में श्रीकान्त वर्मा का निबन्ध : 'अंधेरे बन्द कमरे : मोहन राकेश', पृष्ठ 206

छटपटाते हैं और बाहर निकलने के लिए तड़पते हैं। ये पात्र दिल्ली की सर्दी में मीलों पैदल चलते हैं, कस्साबपुरा की गन्दी बस्ती में जिन्दगी काटते हैं। कॉफी-हॉउस और लॉबी होम में बैठक जमाते हैं और निरन्तर जीवन से संत्रस्त रहते हैं। समाचार पत्रों के मालिक उनके श्रम का शोषण करते हैं और उन्हें ठगते हैं। विदेशी दूतावास उन्हें नैतिक स्तर पर निरस्त करके उनकी प्रतिभा को देश द्रोह के मार्ग पर ले जाना चाहते हैं। यह सब संस्कृति और स्वतंत्रता के नाम पर होता है। सिगरेट के धुएँ और कॉफी की चुस्कियों के बीच भी वातावरण में काफी ऊब घुटन और निराशा रहती है। दिल्ली की सम्पूर्ण रंगीनियों के बीच एक अजीब उदासी और थकान पात्रों के मन पर छा जाती है। बादल घिर आते हैं, वर्षा होने लगती है, ओले गिरते हैं, हवा किवाड़ झकझोर डालती है और अंधेरे बन्द कमरों में बैठे मनुष्य का मन एक विचित्र बेबसी और अकेलेपन की भावना से भर जाता है। ये व्यक्ति नींद की गोलियाँ खाते हैं, टैंक्विलाइर्जस का सेवन करते हैं, रात-रात भर जाग कर शराब पीते हैं, किन्तु इनकी व्यथा और अकेलेपन का जैसे कोई इलाज ही नहीं है। इस कथा में दो धागे परस्पर लिपटे हैं, किन्तु वे अलग-अलग भी हैं। मधुसूदन कस्साबपुरा की गंदी बस्ती में रहता है, जहाँ की तंग गलियों में नालियों का बदबूदार पानी बहता है, जहाँ निरन्तर गाली-गलौज और लड़ाई के कर्कश स्वर हवा में तैरते रहते हैं। दूसरी तरफ शेष दिल्ली है, जहाँ रंगीन वातावरण अपनी चकाचौंध के साथ उपस्थित है।

समाज में हरबंस, नीलिमा और शुक्ला का जीवन अधिक सुविधापूर्ण और समृद्ध है। हरबंस व नीलिमा की कथा की पृष्ठभूमि में लेखक ने महानगरीय जीवन के विभिन्न आयामों को जहाँ उद्‌घाटित किया है, वहीं स्त्री-पुरुष के बीच नित नये बनते बिगड़ते सम्बन्ध सूत्रों की भी पड़ताल की है। एक-दूसरे को अपनी असफलता और अप्रतिष्ठा के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए वे एक-दूसरे के कटघरे में खड़े मुजरिम हैं। प्रतिभाहीन दम्पती हरबंस और नीलिमा मध्यवर्ग के उस स्टाक के चरित्र हैं, जिनमें शिक्षा और संस्कारवश महत्त्वाकांक्षा का जागृत हो जाना स्वाभाविक है। मगर हर महत्त्वाकांक्षी प्रतिभावान नहीं होता। नीलिमा को विश्वास है कि उसमें एक नर्तकी की प्रचुर प्रतिभा है, मगर पति की उदासीनता के कारण, वह अपनी सफलता के साधन न जुटा सकी। पति ही उसकी असफलता के लिए खलनायक है। हरबंस की त्रासदी यह है कि वह कभी उपन्यास लिखना चाहता था, न लिख सका; जो होना चाहता था, न हो सका। इसके लिए नीलिमा जिम्मेदार है। फिर भी दोनों साथ-साथ अंधेरे बन्द कमरें में रहने के लिए

अभिशप्त हैं।'अंधेरे बन्द कमरे' का हरबंस अहंवादी है और नारी के प्रति मध्यकालीन मानसिकता से ग्रसित है, उस पर पूरा शासन चाहता है, पर शेखी मूल्यों की बघारता है। वास्तव में संकोचशील नीलिमा को 'अप-टू-डेट' एवं महत्वाकांक्षी हरबंस ने ही बनाया था। नीलिमा महत्त्वाकांक्षी, आत्मनिर्भर तथा स्वाभिमानी स्त्री का संस्करण है। ऊबानू तथा जीवन भार्गव के साथ के अपने आकर्षण को न वह छिपाती है और न अपनी अनुपस्थिति में शुक्ला द्वारा की गयी हरबंस की सेवा को अन्यथा लेती है। नीलिमा का आन्तरिक द्वन्द्व वास्तविक है और वह इसे समझती भी है। वह बन्धनों में घिरकर रहना नहीं चाहती, लेकिन अन्त में उसे यह स्थिति स्वीकारनी पड़ती है। इसीलिए इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं कि 'मोहन राकेश के 'अंधेरे बन्द कमरे' में भी आधुनिकता का अधूरा स्वीकार है, अनुभूति की धारा पहले खुलकर फिर बन्द हो जाती है। इस उपन्यास में पति-पत्नी का, हरबंस-नीलिमा का एक-दूसरे से कट जाने में नगर-बोध का परिवेश है। इसमें अनुभूति की धारा खुलने का आभास देती है, लेकिन इनके एक-दूसरे में लौटने के साथ ही यह बन्द हो जाती है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि राकेश के कथानायकों की नियति लौटने में अभिशप्त है। हरबंस-नीलिमा एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और पहले से अधिक अपरिचित हो जाते हैं। इस तरह दोनों अंधेरे बन्द कमरे में रहने के इतने आदी हो चुके हैं कि रिश्तों के बाहर एक नामहीन सम्बन्ध की बात सोच ही नहीं सकते।'[1]

हरबंस -नीलिमा की इस कथा की पृष्ठभूमि में राकेश ने महानगरीय सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया है। आधी रात तक चलती पार्टियाँ, सांस्कृतिक डेलिगेशन, पत्रकारिता, उसके हथकण्डे, भौतिकता की दौड़ में पत्नी को साधन रूप बनाना, साहित्यकला- नृत्य आदि पर काफी-हाऊस में बहसों का चलना, स्त्री स्वतंत्रता की आड़ में उसे वासना की कठपुतली बनाना तथा उसके विपरीत दूसरे छोर पर दिल्ली की कस्साबपुरा जैसी गन्दी भिनकती हुई गलियों में लोगों का कीड़े-मकोड़े की तरह जीना आदि हमें महानगर दिल्ली को समझने में और उतने ही अंश में महानगरीय सांस्कृतिक जीवन को समझने में सहायक होता है। मोहन राकेश के शब्द हैं ''सड़कों की इस जिन्दगी के पीछे लोगों के अपने छोटे-छोटे घरों की जिन्दगी है। इस चमक-दमक और चहल-पहल के पीछे न जाने किन-किन अंधेरी और तंग गलियों की जिन्दगी है। एक नया शहर है, जो तेजी से बन रहा हे, उसके पीछे एक पुराना शहर

1. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख — डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 84

है जो धीरे-धीरे ढह रहा है। एक तरफ बड़ी-बड़ी नयी-नयी योजनाओं और नये प्रयोगों की जिन्दगी है, जिसकी एक अपनी संस्कृति है, दूसरी तरफ बदबू और गन्दगी में पलती हुई सीलनदार कोठरियों की जिन्दगी है, जिसकी एक अपनी अलग संस्कृति है।''[1] अंधेरे बन्द कमरे की कथा और दिल्ली के सांस्कृतिक जीवन को दयनीय और हास्यास्पद ढंग से अपने इर्द-गिर्द समेटने का प्रयत्न करने वाली नीलिमा और हरबंस एक इसी प्रकार के अभिशप्त दम्पती हैं। उनका 'प्रेम' क्या केवल शारीरिक वासना है? विवाह में दो व्यक्तियों के उलझाव और अर्न्तद्वन्द्व की कथा इस उपन्यास में बड़ी सूक्ष्म अनुभूति से और कुशलता पूर्वक कही गयी है। हरबंस की दृष्टि से हम मानों समाज में हरबंस और नीलिमा के जीवन व्यापार को देखते हैं। डॉ० प्रकाश चन्द्र गुप्त के शब्द हैं—

> ''इस कथा में मनुष्य के मानसिक अंतर्द्वन्द्वों की एक झाँकी देखते हैं। ये अर्न्तद्वन्द्व बड़े सामाजिक संघर्षों के परिपार्श्व में देखे गये हैं। बेचारा प्राणी किसी काल्पनिक सुख की आशा में चारों ओर भागा भागा फिरता है, किन्तु उसे अपनी अशान्ति से छुटकारा नहीं मिलता। शर से बिंधे शिकार की तरह व तड़पता रहता है।''[2]

इस उपन्यास में भारतीय सामाजिक जीवन का रूप अपनी सम्पूर्ण उदासी, व्यथा और विफलता लेकर प्रकट हुआ है, किन्तु इस कथा का मानव सचेत सामाजिक प्राणी भी है। वह संघर्षों में अपने प्राण को होम करने को तत्पर प्राणी है। अपनी समस्त बेबसी और दुर्बलताओं के बावजूद भी हरबंस और मधुसूदन विषम परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने से इंकार करते हैं। वे देश के साथ विश्वासघात का मार्ग दृढ़तापूर्वक त्यागते हैं। इस प्रकार वे आज के आत्मसम्मानी, प्रतिष्ठित भारतीय नागरिक के सहज प्रतीक भी हैं।

'अंधेरे बन्द कमरे' के माध्यम से राकेश ने जिन नये सन्दर्भों की तालाश की है, उनमें संत्रास बोध भी प्रमुख है। स्वतंत्रता के बाद देश में राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर जो घटित हुआ, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय जन-मानस में भय, हताशा, कुंठा, घुटन, असुरक्षा आदि की भावनाएं पैदा हुईं। इब्रादत अली कीं दयनीय स्थिति के सम्बन्ध में राकेश लिखते हैं—

1 अंधेरे बन्द कमरे' — मोहन राकेश, पृ० 249
2. आज का हिन्दी उपन्यास —डॉ० प्रकाश चन्द्र गुप्त पृ० 191

''इबादत अली उस घर का मालिक था, मगर वहाँ किरायेदारों से बदतर हालत में रहता था। जब पाकिस्तान बना था, तो वह भी और कई लोगों की तरह अपना घर छोड़कर लाहौर चला गया था शायद अपनी लड़की खुर्शीद की वजह से, कि हो सकता है, अब हिन्दुस्तान में रहकर वह उसकी ठीक से हिफाजत न कर सके।''[1]

राजनीतिक विभाजन ने लोगों के मन में केवल असुरक्षा तथा वैमनस्य की भावना ही नहीं भरी, बल्कि धार्मिक कट्टरता, जाति भेद एवं छुआछूत की भावना भी भर दी— ''घर के हिन्दू किरायेदार उससे यूँ भी खार खाते थे और मुसलमान का छुआ पानी पीने में उनका धर्म भी जाता था, इसलिए वे उसे या उस लड़की को आँगन के पम्प से पानी नहीं भरने देते थे।''[2]

कहना न होगा कि अंधेरे बन्द कमरे में घुटी हुई अकेलेपन की कथा होते हुए भी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की मानसिकता को उसकी पूरी जटिलता के साथ प्रस्तुत करता है। बावजूद इसके जिन समस्याओं को राकेश ने इस कथा में उठाया है, उनका कोई समाधान वह प्रस्तुत नहीं करते। मनुष्य के सम्बन्धों को राकेश मनोवैज्ञानिक की भाँति अपनी अनुसंधानशाला में माइक्रोस्केप के नीचे देखते हैं। दाम्पत्य जीवन की इन उलझनों और विफलताओं का हल क्या है? शुक्ला, जिसका लगाव हरबंस से है, सुरजीत के साथ कैसे जीवन बिता सकेगी? क्या मधुसूदन, जो शुक्ला से प्रेम करता है, ठकुराइन की लड़की से विवाह करके, संतुष्ट व सुखी जीवन बिता सकेगा? सुषमा से उसका प्रेम अचानक यांत्रिक ढंग से कस्साबपुरा की ओर क्यों मुड़ जाता है? इन प्रश्नों को पाठक के मन में छोड़कर उपन्यास का अन्त होता है।

फिर भी राकेश का 'अंधेरे बन्द कमरे' सातवें दशक के नये आयाम खोलने की गवाही देता है। इसमें पहली बार स्त्री-पुरुष के नये सम्बन्धों और तनावों को भरपूर खुली आँखों से देखने की कोशिश की गयी है। इसमें सांस्कृतिक विघटन, बदलते वाह्य परिवेश में स्त्री-पुरुष की मानसिकता की ढकी-छिपी रेखाएँ और कोण पहली बार उजागर हुए हैं। 'यह स्वीकार करना होगा कि आज के शहरी जीवन, आधुनिक बोध के साथ जी रहे स्त्री-पुरुष, उनके अन्तर में उमड़ते द्वन्द्वों, तनावों अकेलेपन आदि का बड़ा

1. 'अंधेरे बन्द कमरे' पृष्ठ
2 अंधेरे बन्द कमरे, पृष्ठ

मार्मिक चित्रण इसमें हुआ है और ये जीवन के एक कटु यथार्थ से हमारा साक्षात्कार कराते हैं।'[1] 'राकेश ने इसमें शिल्प की प्रयोगात्मकता लानी चाही है। इसमें पात्रों का पूर्वालोकन किसी पात्र द्वारा निजी घटना के वर्णन के बजाय उसके प्रस्तुतीकरण का, स्थितियों के नाटकीकरण का इस प्रकार कई युक्तियों का व्यवहार किया है, जो अपने आप में दिलचस्प है।'[2]

चरित्र संगठन की दृष्टि से देखें तो राकेश ने अपने चरित्रों के माध्यम से आज के सन्दर्भों में अकेले पड़ते मानव-मन और उसके व्यक्तित्व को रूपायित किया है। एक व्यक्तिवादी उपन्यास होने के नाते अंधेरे बन्द कमरे के पात्र अपना रास्ता खुद बनाते हैं। उनमें अपने ढंग से जीने की कामना है। उन सबका अपना पृथक-पृथक दायरा है, जिसे तोड़कर कोई भी दूसरों के हिसाब से जीना नहीं चाहता। इसमें प्रत्येक पुरुष पात्र के साथ एक नारी पात्र है। पात्रों के व्यक्तित्व के अवसर उपन्यास में बहुत कम हैं क्यों कि सभी प्रमुख पात्र अपनी-अपनी भावनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का सहारा लेकर जहाँ तक चल पाते हैं, वहीं बन्द कमरों में बहुत जल्दी कैद हो जाते हैं। हरबंस और नीलिमा जिस कमरे में कैद हैं, उससे बाहर निकलने का रास्ता उन्हें नहीं मालूम। इसीलिए बाहर जाने के लिए उन्हें छलांग लगानी पड़ती है। ईर्ष्या, खीझ और हीन ग्रन्थि का शिकार बनता हुआ हरबंस अपनी कमजोरी छिपाने की कोशिश करता हुआ लंदन भाग जाता है। उधर नीलिमा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के द्वार खोजती हुई कला संसार में खो जाना चाहती है। मधुसूदन एक ऐसा पात्र है, जो कस्साबपुरे की सीलन और बदबूदार गलियों में ठकुराइन की कैद में रहता हुआ भी महानगरीय चमक-दमक और आभिजात्य संस्कृति में गुम हो जाना चाहता है। सुषमा एक ऐसी आधुनिक नवयुवती है, जो मधुसूदन को माध्यम बनाकर अपनी अतृप्त आकाक्षांओं की पूर्ति करना चाहती है। शुक्ला और सुरजीत पति- पत्नी होकर भी अलग-अलग वृत्तियों के भोक्ता हैं। ठकुराइन का व्यक्तित्तव ही ऐसा है कि वह गरीबी और संघर्षों की तमाम मार सहकर भी जीवित है। इस प्रकार उपन्यास का प्रत्येक पात्र अपने ढंग का अकेला है। प्रत्येक -चरित्र की अपनी सीमाएँ और अपना समस्यालोक है। उपन्यास में अस्तित्व का संघर्ष न केवल हरबंस नीलिमा में है, बल्कि वह मधुसूदन, सुषमा, ठकुराइन, निम्मा आदि पात्रों में भी है। कॉफी हाऊस व दूतावासों में होने वाली पार्टियाँ भी इसी चरित्र-विन्यास का अंग है।

1. मोहन राकेश— डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, पृष्ठ 52
2. नेमिचन्द्र जैन— अधूरे साक्षात्कार, पृष्ठ 109

संवाद-योजना की दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होगा कि 'राकेश ने संवादों के लिए संवाद का प्रयोग कभी नहीं किया है। वे वहीं पर आये हैं जहाँ उनकी आवश्यकता है। साथ ही साथ जैसी आवश्यकता, वैसे ही संवादों का प्रयोग राकेश के संवाद शिल्प की विशेषता रही है।'[1] राकेश के 'अंधेरे बन्द कमरे' उपन्यास में आये संवादों का महत्त्व वाह्य परिवेश के अंकन की दृष्टि से उतना नहीं है जितना कि अन्तर्मथन की अभिव्यंजना से। इसके संवाद कथा को गति प्रदान करते हैं, चरित्रोद्घाटक हैं; लेखकीय दृष्टिकोण के बोधक होने के साथ-साथ पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया और मनःस्थिति के भी विश्लेषक हैं। इस प्रकार उपन्यास में सर्वत्र प्रसंगानुकूल कथोपकथन शिल्प का प्रयोग किया गया है, किन्तु अधिकांश स्थल स्वगत कथन अथवा वर्णन विशेष में समाप्त हो गये हैं। नीलिमा के पेरिस प्रवास में उसका तथा ऊबानू का संवाद कथोपकथन की परोक्ष पद्धति का परिचायक है। यहाँ ऊबानू और नीलिमा को पाठक के सामने न लाकर नीलिमा की स्मरण शक्ति द्वारा फ्लैश बैक पद्धति से संवाद कौशल प्रस्तुत है; जो शिल्प की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास में अभिनव प्रयोग है।

'अंधेरे बन्द कमरे' उपन्यास आत्मकथात्मक होते हुए भी वर्णनात्मकता लिये हुए है। मधुसूदन जो कथा का प्रणेता है, वक्ता और श्रोता दोनों है। इसके अतिरिक्त इसमें पत्र विधि, नाटकीय विधि, पूर्वदीप्ति विधि, प्रतीक विधि, भावात्मक विधि और सूक्ष्म व्यंजनात्मक विधि का प्रयोग हुआ। इस प्रकार यह शिल्प प्रविधि की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। मनोवैज्ञानिक न होते हुए भी उनमें मानसिक गुत्थियों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं विचारों के आधार पर किया गया है। इसके पात्र अपने जीवन की जटिलताओं से घिरे, विधि संबंन्धों से बंधे साथ-साथ जीने को बाध्य हैं। चाहकर भी उन्हें एक-दूसरे से मुक्ति नहीं मिलती, स्वातंत्र्योत्तर समाज में अंधेरे बन्द कमरे ही उनकी नियति है। राकेश हरबंस और नीलिमा के बन्द कमरों को खोलकर खुले बाजार में तो आ गये हैं और खुलावट की यही प्रक्रिया अंधेरी बन्द गलियों, दिल्ली की चमक-दमक, होटल और स्त्रियों की जिन्दगी, पत्रकारिता और कलागोष्ठियों में विश्राम पाती हुई लन्दन तक चली जाती है, किन्तु उसमें गतिहीनता अधिक है। इसका कारण एक से प्रसंगों की बार-बार आवृत्ति, पात्रों के बीच लगभग एक सी मनःस्थिति का आवर्तन-विवर्तन और शिल्प की एकरसता आदि को माना जा सकता है। बीच-बीच में आये लम्बे-

1. डॉ० सुषमा अग्रवाल— मोहन राकेश :व्यक्तित्व व कृतित्त्व

लम्बे वर्णन,पात्रों का एक लम्बा सिलसिला, एक ही ढंग से तानें एवं छींटाकशी की प्रक्रिया ने कथा की अनवरुद्ध जीवनी शक्ति को रोक दिया है। लगता है दाम्पत्य जीवन में समाती जाती जड़ता का प्रभाव कथा पर हो गया है। फिर भी नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में कहे; 'राकेश ने इसमें शिल्प की प्रयोगात्मकता लानी चाही है। इसमें पात्रों के पूर्वावलोकन का, किसी पात्र द्वारा निजी घटना के वर्णन के बजाय उसके प्रस्तुतीकरण का, स्थितियों के नाटकीकरण का— इस प्रकार कई युक्तियों का व्यवहार किया है, जो अपने आप में दिलचस्प है। पर कुल मिलाकर उसमें कोई विशिष्टता या चमक नहीं पैदा होती। 'अंधेरे बन्द कमरे' बेशुमार सम्भावनाओं के बावजूद अनजाने की एकरसता के अंधेरे कमरे में बन्द हो गया है और जीवन से किसी गहरे साक्षात्कार का आभास नहीं दे पाता''[1]

1. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 132

'मैला आँचल'

उपन्यास में युगानुरूप बदलते हुए जीवन तथा जीवन मूल्यों को उसके सही और वास्तविक परिवेश में चित्रित करने का स्वाभाविक लचीलापन अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में अधिक है, इसलिए इसकी आन्तरिक और वाह्य संरचना में , इसके कथ्य एवं रूप में सर्वाधिक परिवर्तन होते रहे हैं। आंचलिक उपन्यास, जिसका प्रथम माँडल 'मैला आँचल' के रूप में है, इसी नव्यताकांक्षी और प्रयोगधर्मिता की उपलब्धि है और इस उपलब्धि के मूल में है युगीन समस्याओं तथा युग यथार्थ से सीधे टकराने की प्रवृत्ति, जीवन यथार्थ के साथ उपन्यासकार की प्रतिबद्धता तथा समय के मुहावरे में बोलने की उसकी विवशता। ग्रामीण यथार्थ को आधार बनाकर उपन्यास पहले भी लिखे गये थे। प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'प्रेमाश्रय' और 'गोदान' के यथार्थ से हम परिचित ही हैं। शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' जैसे उपन्यास का अलग ही महत्त्व है। पर 'मैला आँचल' की नवीनता और सर्जनात्मक क्षमता को पहली बार एक आश्चर्य की तरह हिन्दी उपन्यास यात्रा में लक्ष्य किया गया। डॉ० विजयदेव नारायण साही की धारणा है, ''प्रेमचन्द के उपन्यास आंचलिक नहीं है क्यों कि उन गाँवों की कोई स्वत: सम्पूर्ण सत्ता इस आधार पर नहीं बनती कि जीवन की मौलिक उद्‌भावना ही यहाँ पाठक के जीवन-मूल्यों से अलग स्तर पर हो। उनके गाँव पूरे समाज के अंग है। स्वत: सम्पूर्ण छविमय समाज नहीं। इसके विपरीत रेणु के 'मैला आँचल' में वर्णन शैली में ही हमें दो दृष्टियों का बोध होता रहता है—एक खड़ी बोली द्वारा अभिव्यंजित वह जीवन स्तर जो अप्रस्तुत है, लेकिन जहाँ से दूरबीन लगाकर पाठक और लेखक दोनों ही अंचल को देखते हैं; आंचलिक शब्दावली द्वारा चित्रित भिन्न स्तर पर बीतता हुआ वह छविमय जीवन जिसकी शर्तें बिल्कुल अलग है।''[1] 'भारतीय उपन्यास के पाठक अब तक्षि शिव शंकर पिल्लै के उपन्यास 'मछुवारे', गोपीनाथ महांति के उपन्यास 'माटी मटाल' से अपरिचित नहीं है। फिर भी 'मैला आंचल' की नवीनता में कुछ खास है जिसे समझने के लिए उपन्यास के विश्वसन्दर्भ को तथा भारतीय सन्दर्भ को, विशेष रूप से स्थानिक सन्दर्भ को

1. छठवाँ दशक— डॉ० विजयदेव नारायण साही, पृष्ठ 225

साथ-साथ ध्यान में रखने की जरूरत है। एक जीवन्त क्रीड़ा भाव या विनोदप्रियता, वस्तु तथ्य, चरित्र या भाव प्रसंग की मूर्तता में जहाँ निरन्तर मौजूद है, वहीं क्या एक ट्रैजिक रंग भी रह -रहकर नहीं उभरता! और यह एक ऐसा संकेत है जो 'मैला आंचल' के मर्म तक पहुँचने में सबसे अधिक सहायक हो सकता है।[1] रेणु के शब्द हैं :''इसमें फूल भी है शूल भी, धूल भी है गुलाल भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी,सुन्दरता भी है कुरूपता भी— मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।''[2] यही है वह खास जीवन सन्दर्भ, जो रेणु का औपन्यासिक यथार्थ भी है और वह दृष्टि बिन्दु भी जिससे यथार्थ को देखा जा रहा है। इसमें एक ओर वाह्य नैतिकता की धज्जियाँ उड़ाई जा रही हैं वहीं दूसरी ओर आन्तरिक नैतिकता के लिए छटपटाहट भी है। इस द्वन्द्व के कारण ही 'मैला आँचल' आंचलिक उपन्यास भी है और आधुनिक उपन्यास भी। 'मैला आँचल' में बालदेव, लक्ष्मी कोठारिन, बामनदास, डॉ० प्रशान्त जैसे कितने ही खरे, सजीव जीवंत चरित्र हैं पर कोई एक चरित्र उसमें केन्द्रीयता नहीं प्राप्त करता। एक अर्थ में वह सजीव ग्रामांचल ही उपन्यास मे नायकत्व प्राप्त करता है, जिसमें मानवीय उदात्त भावना और विकट ऊल-जलूल का अद्‌भुत संयोग है। परस्पर विरोधी मान्यताओं के टकराव के बावजूद गहरी जीवना सक्ति 'मैला आंचल' का बीज भाव है। संघर्ष के मूल उद्वेग के साथ ही एक ट्रैजिक लय उपन्यास के कथा प्रवाह में आद्यन्त विद्यमान दिखाई देता है, जो जीवना सक्ति के मूल भाव से ही सम्बद्ध है। डॉ० नित्यानन्द तिवारी के अनुसार, ''लगभग सभी महत्त्वपूर्ण आलोचकों ने 'मैला आंचल' को शहरी कथाओं के सामने रखकर उसकी ताजगी और जीवंतता की सराहना की है, लेकिन साथ ही उसमें प्रौढ़ता का अभाव भी देखा है। किन्तु उसकी ताजगी और जीवंतता सिर्फ दृश्य की नहीं है, दृष्टि की भी है। उस दृष्टि का आभास मिलते ही 'मैला आंचल' स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक प्रौढ़ रचना लगेगी।........ उसमें विषय वस्तु की ताजगी और जीवंतता है। विषय वस्तु यानी व्यक्ति और संस्थाओं (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि) के बीच उभरने वाले नये संबन्ध की व्याकुलता, उत्साह, अंधकार और प्रकाश ।''[3]

मैला आंचल' में विषयवस्तु अपनी सम्पूर्ण प्रक्रिया में है। वह व्यक्ति और समाज के परिवर्तन के बीच से कुछ परिणामी लक्षणों को लेकर भाषा के खेल से मनुष्य को आत्म साक्षात्कार नहीं कराता वह

1 उपन्यास का पुनर्जन्म —प्रो० परमानंद रीवास्तव, पृ० 53
2. मैला आँचल, भूमिका।
3 हिन्दी उपन्यास : 1950 के बाद, में डॉ० नित्यानंद तिवारी का लेख, पृ० 20

मनुष्य को उस कठोर वास्तविकता से मुठभेड़ कराता है जिसके बीच उमे रहना और जीना है। डॉ० प्रशान्त को रेणु मेरीगंज भेजते हैं, मलेरिया पर रिसर्च करने, लेकिन वे पहले मनुष्य थे, वैज्ञानिक बाद में। उनहें वहाँ तरह-तरह की चीजें, दृश्य और स्थितियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं—

1. ''डॉक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार हो गया है। उसे लगता है, मानी वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है।....''

2. ''आम के पेड़ों को देखने से पहले उसकी आँखे इन्सान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर जिंदा रहना है....''

3. ......कफ से जकड़े हुए दोनों फेफड़े, ओढ़ने को वस्त्र नहीं, सोने को चटाई नहीं, पुआल भी नहीं! भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी मरता नहीं जी जाता है!''

4. ''कपड़े के बिना सारा गांव अर्द्धनग्न है। मर्दों ने पैंट पहनना शुरू कर दिया है और औरतें आंगन में काम करते समय एक कपड़ा कमर में लपेट कर काम चला लेती हैं। बारह वर्ष के बचे तो नंगे ही रहते हैं।''

5. ''दवनी-मड़नी करके जमा करो, साल भर खाये हुए कर्ज का हिसाब चुकाओं। बाकी अगर रह जाये तो फिर सादा कागज पर अंगूठे का टीप करो। सफाई करनी है तो बैल-गाय भर ना रखा या हलवाहा, चरवाहा दो। फिर कर्ज खाओ।''

6. ''.... यहाँ बिटामिनों की क़िस्में उनके अलग-अलग गुण और आवश्यकता पर लम्बी-चौड़ी फेहरिस्त बनाकर बटवाने वालों की बुद्धि पर तरस खाने से क्या फायदा? मच्छरों की तस्वीरें, इससे बचने के उपायों को पोस्टरों पर चित्रित करके अथवा मैजिक लालटेन से तस्वीरें दिखाकर मलेरिया की विभषिका को रोकने वाले किस देश के लोग थे!.....''

7. ''बेजमीन आदमी, आदमी नहीं जानवर!''

8. ''डॉक्टर का रिसर्च पूरा हो गया, एकदम कम्पलीट। वह बड़ा डॉक्टर बन गया। डॉक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है....?''

9. ''गरीबी और जहालत इस रोग के दो कीटाणु हैं।''

डॉ० प्रशान्त का रिसर्च पूरा नहीं हुआ लेकिन उस बौद्धिकता और विवेक को उनके ठोस प्रसंगों-सन्दर्भों सहित जरूर अर्जित कर पाये जिसके जरिये इस समाज में आमूलचूल परिवर्तन करना है। इनके शब्द हैं— 'मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आंसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आंचल तले। कम से कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूं, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूं।'[1] यहाँ सारे सम्बन्ध एक नये परिप्रेक्ष्य में दिखाई पड़ते हैं, टूटते, बनते, बिगड़ते, टूटते और फिर बनते। जीवन अपने मौलिक, सहज प्रवाही रूप में यहाँ उपस्थित है। इसी से उसमें इतना रस है, इतना संगीत और कवित्व है, इतनी तीव्रता और दर्द है। मठ पर नये महन्त को चादर मिलने का आयोजन, बिदा पति नाच, होली का उत्सव और उस अवसर पर डॉक्टर प्रशान्त और कमली का परस्पर आत्म प्रकटीकरण, अपनी माँ को याद करते-करते डॉक्टर का आत्मविश्लेषण, संथालों का मेरीगंज के अन्य निवासियों से संघर्ष, बावनदास की मृत्यु आदि ऐसे स्थल हैं, जिनमें सौन्दर्य बोध मूलक संयम और अकृत्रिम सहज भावावेश का ऐसा उत्कृष्ट सम्मिश्रण है, जो सदा मर्मस्पर्शी कला को जन्म देता है। वास्तव में 'मैला आंचल' की विशिष्टता इसमें नहीं है कि उसमें देहाती जीवन का बहुत गहरा अध्ययन है, अथवा सामाजिक समस्याओं और उसके निदान के दार्शनिक आधार उसमें मौजूद हैं, अथवा युगीन जीवन सत्यों का उद्‌घाटन लेखक कर सका है। 'उसकी विशिष्टता है उस अपूर्व आत्मीयता में, जिसके साथ लेखक ने गाँव के जीवन की समस्त कटुता और संगीत को, सरलता और विकृति को, स्वार्थपरता और सामाजिक एक सूत्रता को, अज्ञान और मौलिक नैतिक संस्कार को सँजोया है।'[2] कथा के एक छोरपर है वन्ध्या धरती का विशाल अंचल, जिसमें दूब भी नहीं पनपती। दूसरे छोर पर वह अनिवार्य संगीत, जो शोषण और दमन के घटनाचक्र में और अधिक मुखर होता जाता है। बिखरे हुए अनेक असम्बद्ध घटना प्रसंगों के बीच इसी अन्तर्विरोधी जीवन लय को पकड़ने की जरूरत है। महंथ सेवादास, रामदास और गांधीवादी बालदेव, लक्ष्मी कोठारिन का सम्बन्ध एक जैसी स्थितियों का सूचक नहीं है। कहीं शारीरिक शोषण को आध्यात्मिक गौरव से ढँका जा रहा है तो कहीं लौकिक जीवनाशक्ति आध्यात्मिक झूठ की हँसी उड़ा रही है। प्रशान्त और कमली का सम्बन्ध आदर्श और भावना के मूल भाव से जुड़ा है और उसे भविष्य संकेत से

1. मैला आंचल, पृ० 334
2. अधूरे साक्षात्कार —नेमिचन्द्र जैन, पृ० 35

जोड़कर विशेष अर्थवत्ता भी दी गयी है पर उससे कहीं अधिक जीवन्त लगाव दूसरे चरित्र-रूपों में दिखाई देता है। इस गाँव का अपना एक खास ढाँचा है। जाति विभक्त समाज की बिडम्बनाएँ एकदम सतह पर ही दिखाई दे जाती हैं। कायस्थ-राजपूत- यादव-सबके सोचने के ढंग में पहले जाति आती है। डॉक्टर प्रशान्त का जादू गाँव पर आसानी से चल जाता है तो भी उससे सर्वप्रथम 'जाति' ही पूछी जाती है। गाँव में आते हुए उसे पहला केस मिला- तहसीलदार की बेटी कमला का जो बेहोशी का शिकार होने के नाते सबकी चिन्ता का विषय रही है। कभी-कभी उसकी बीमारी में नाट्य और असलियत का फर्क गायब हो जाता है। डॉक्टर और कमली के परस्पर आकर्षण को न तो दूसरा नाम दिया गया है न उस मूल भाव का कोई अन्यथा कारण ही कहा गया है। यह अवश्य है कि गाँव के बदलने की कल्पना और कमली को सम्पूर्ण पाने की कल्पना एक ही आदर्शीकृत रागभाव के भिन्न रूप हैं। चरखा सेंटर की मंगला देवी क्रान्तिकारी समाजवादी कालीचरण के यहाँ चली जाती हैं और उसमें क्रान्ति की पहल कुछ ज्यादा मानवीय हो उठती है। एक तरह से देखें तो अवैध प्रेम सम्बन्धों का जाल सा फैला दिखाई देता है, पर सब मिलाकर वह जीवन के खुलेपन का ही प्रमाण है। उसे लेकर न बहुत वर्जनाएं हैं न अतिरिक्त कुंठा! प्रत्येक प्रेमी यहाँ देवता नहीं आदमी की खोज में है। मानवीय दुर्बलताएं ही यहाँ प्रखर और उदात्त के लिए जगह बनाती है।

मैंला आँचल में कुछ चरित्र रूपों की विशिष्टता सबसे अधिक उपन्यास को पठनीय बनाती है। परमानन्द जी के अनुसर 'महत्त्वपूर्ण उपन्यास में उल्लेखनीय चरित्र वे होते हैं, जिन्हें गुण दोष की श्रेणी में स्पष्ट रूप से परिभाषित लक्षणों के आधार पर देखना असम्भव हो उठे।'[1] बालदेव ऐसा ही चरित्र है। लक्ष्मी की नजर में 'कितने सूधे हैं बालदेव जी' ' बालदेव का अनुभव है कि 'लक्ष्मी के शरीर से 'एक खास तरह की सुगन्ध निकलती है।' गांधी जी के रासते पर चलता हुआ बालदेव हिंसावाद के बिरूद्ध है। उसके अनुसार, 'शरीर में ज्यादा बल होने से हिंसावाद करने का खौफ रहता है।' अतिरिक्त संकोच और डर से घिरा हुआ वह कई बार पहल नहीं करता, महज अनुसरण करता है। महंत सेवादास के निधन पर मठ की गद्दी को लेकर जो विवाद खड़ा होता है उसमें लक्ष्मी के प्रति अपने संवेदनात्मक झुकाव के बावजूद वह हस्तक्षेप नहीं करता। जबकि कालीचरण के सीधे हस्तक्षेप से विचलित होता है। ईर्ष्यादग्ध होता है। कालीचरन की उग्र क्रान्तिकारिता और बालदेव का गांधीवाद, इस विचारधारात्मक संघर्ष को रेणु

1. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० 54

ने उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में उभारने की कोशिश की है। उपवास द्वारा आत्मशुद्धि और प्रायश्चित गांधी जी का सुपरिचित मार्ग था और बावनदास उस मार्ग का सच्चा अनुयायी है, पर बावनदास कांग्रेस के बदलते हुए 'कल्चर' से निराश और हतप्रभ है। वह अनुभव करता है,' भारतमाता जार-बेजार हो रही है।' पर गांधी की हत्या बावनदास को तोड़ देती है, "हाल क्या सुनियेगा! अब सुनना क्या है! रामकिसुन आसरम में भी हरिजन भोजन होगा।..... बिलेक- पी कल मर गया।.... शिवनाथ बाबू आये हैं पटना से। ...... ससांकजी परांती सभापति हो गये हैं, वह भी पटना में ही रहेंगे। . .. सब आदमी अब पटना में ही रहेंगे। .... छोटन बाबू का राज है। एक कोरी बेमान, बिलेक मारकेटी के साथ कचहरी में घूमते रहते हैं। ....सब चौपट हो गया।"[1] और वह कांग्रेस पार्टी में, और सारे देश में बढ़ रहे अनैतिक मूल्यों के खिलाफ लड़ते हुए अपने जीवन का बलिदान कर देने का निश्चय करता है। वह अकेले भारत पाकिस्तान की सीमा पर, नागर नदी के किनारे पहुँचकर पाकिस्तान जाने वाली गाड़ियों को रोक देता है और कापरा को ललकारता है, "आइऐ सामने। पास कराइए गाड़ी। आप भी कांग्रेस के मेंबर हैं और हम भी। खाता खुला हुआ है, अपना-अपना हिसाब किताब लिखाइए। .... आज के इस पवित्तर दिन को हम कलंक नहीं लगने देंगे।"[2] और अन्तत: गाड़ियाँ बावनदास को कुचलती निकल जाती हैं। हवलदार और नाका पर तैनात सिपाही बावनदास की लाश को पाकिस्तान की सीमा में फेंक आते हैं। इस प्रकार बावनदास 'दो आजाद देशों की, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की, ईमानदारी को, इंसानियत को, बस दो ही डगों में नाप' लेता है। इस प्रकार बावनदास की मृत्यु और कालीचरन का जीने के लिए बचा रहना अधिक महत्त्वपूर्ण एवं अर्थवान है, क्योंकि बावनदास का जीना इसलिए बहुत सारवान नहीं है कि उसमें भावुकता है और मरना इसलिए अधिक सारवान है कि मानव-जीवन की उभरी अमानवीय शक्तियों की क्रूरता अपने भरपूर प्रहार के साथ खुल जाती है। 'उनकी (बावनदास, होरी) मृत्यु आलोक का विस्फोट है। उनके सारे जीवन को उनकी मृत्यु ही अर्थ से आलोकित करती है। इस प्रकार उनकी मृत्यु बौद्धिक स्तर पर मनुष्य के लिए सृजनशील संभावनाओं से भरी हुई है। जीते हुए उनके क्रिया व्यापार सीमित दूरी तक समाज और राजनीति

1. मैला आंचल, पृष्ठ 310
2. वही, पृष्ठ 318

के दबावों का मुकाबला कर पाते हैं लेकिन उनकी मृत्यु उस अमानवीय शक्ति का पुंज हो उठती है जो मानवता और मनुष्य के सवालों को हमेशा सृजनशील केन्द्रों पर सक्रिय करती रहती हैं।'[1]

मैंला आंचल में एक ओर सामाजिक तनाव और संघर्ष के अनेक रूपों की झलक है, जिसके माध्यम से आगे घटित होने वाली उग्रतर स्थितियों की कल्पना की जा सकती है; दूसरी ओर मूल मानवीय रागात्मकता पर इतना बल है कि मानवीय दुर्बलताओं को सहानुभूति देना भी उससे बाहर की चीज नहीं है। लक्ष्मी कोठारिन महंत सेवादास को दोष नहीं देती। उनकी विवशता को क्षम्य मानती है कि जब बुढ़ापे में आदमी की इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, वह माया के प्रबल वेग को सम्भाल नहीं पाता। दोष तो वह स्वयं को देती है कि एक ब्रह्मचारी को धर्मभ्रष्ट करने का पाप उसी के माथे है। इस ग्रामीण अंचल की सामाजिक-राजनैतिक -सांस्कृतिक संरचना में सुराजी, कांग्रेसी, सोशलिष्ट और चलित्तर कर्मकार सभी हैं। 'अभी संघर्ष साफ नहीं है। उन्हें न तो तर्क से ही बहुत अलग-अलग देखा जा सकता है न व्यवहार से ही। चर्खा-कर्घा, लाठी-भाला, बम- पिस्तौल साथ-साथ क्रान्ति और परिवर्तन के हथियार बन रहे हैं। उनका अलग-अलग वैचारिक आधार बना हुआ है, पर संक्रमण भी जारी है।' यहाँ मँहगी, अकाल, होली का उन्माद, बावलापन सभी एक साथ उपस्थित है। 'रोने-कराहने के लिए बाकी ग्यारह महीने तो हैं ही, फागुन-भर तो हँस लो, गा लो। जो जीये सो खेलै फाग।' — यही है इनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण, जिसके बल पर वे जीवन भर खटते हैं, सताए जाते हैं और संघर्ष करते हैं। यही समय है जब डॉक्टर प्रशान्त को भवभूति के 'मालती माधव' की याद आती है। यही समय है जब 'कमली का अंग अंग मानो फड़क रहा है' और डाक्टर प्रशान्त को भी अपने दिल की धड़कन साफ सुनाई दे रही है। बामनदास स्वाधीनता आन्दोलन के अनुभवों में पका हुआ है जो अनशन-आत्मशुद्धि और प्रायश्चित करके अपनी छोटी-छोटी दुर्बलताओं से क्रमशः मुक्त हुआ है। इसीलिए डॉ० नित्यानंद तिवारी की धारणा सत्य प्रतीत होती है, 'उसकी ठेठ देशीयता (आंचलिकता) विश्वनागरिकतावादी विचारधारा के सामने चुनौती की तरह खड़ी है। वह चाहे जितनी पिछड़ी हुई हो; उसकी जड़े हैं, परंपरा है, सांस्कृतिक समृद्धि है और इन्हीं कारणों से वह सजीव तथा भिन्न है। यह भिन्नता ठोस मानवीय वास्तविकता है।'[2] कहना न होगा कि मैला आँचल की आंचलिकता, स्वाधीनता आन्दोलन की सन्तान है। स्वाधीनता आन्दोलन मुख्यतः

1. हिन्दी उपन्यास ,1950 के बाद मे डॉ० नित्यानद तिवारी का लेख
2. हिन्दी उपन्यास : 1950 के बाद, में डॉ० नित्यानंद तिवारी का लेख, पृ० 22

राजनीतिक होते हुए भी सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक— सभी क्षेत्रों में अलग-अलग तरह के लोगों द्वारा अपनी-अपनी दृष्टि और विचारधारा के तहत लड़ा जा रहा था। मेरीगंज के लोग भी पूरी लड़ाई लड़ रहे हैं, अपनी तरह से। 'स्वाधीनता आन्दोलन यदि राष्ट्रवादी और मानवतावादी है तो 'मैला आँचल' की आंचलिकता में भी स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रवाद और मानवतावाद के नये प्रसंग, आवेग और उद्वेग की प्रस्तावना है।'[1] जमीन की बन्दोवस्ती के समय कालीचरण एक नेता के रूप में उभरता है जो कहीं न कहीं एक प्रामाणिक और वास्तविक 'व्यक्ति मनुष्य' का उभरना भी है। जमीन की लड़ाई के दौरान स्वाभाविक प्रक्रिया में जातिवादी समाज वर्गवादी समाज में रूपान्तरित होने लगता है। इस प्रक्रिया में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतनाएं एक दूसरे में घुली मिली हैं। अतएव 'मैला आंचल' में व्यक्ति और समाज एक दूसरे में दखल देते हैं और एक दूसरे के लिए नये-नये तनाव और दु:ख पैदा करते हैं। अपने आंतरिक और मानवीय सार को वे इसी प्रक्रिया में अर्जित करते हैं।'[2] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्द हैं—'रेणु के लिए यह सारा संघर्ष निरा समाजशास्त्रीय तथ्य नहीं है इसलिए वह क्रमबद्ध ढंग से पूरे-पूरे ब्यौरों के साथ नहीं आता— असम्बद्ध घटना प्रसंगों के रूप में आता है। इसलिए रेणु के आशय का ठीक-ठीक पढ़ा जाना महत्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण है उपन्यास के पाठ की पद्धति। पाठ का ढंग। पाठ का नजरिया। जरूरी है शिल्पगत बिखराव का भी सतर्क पाठ- प्रकारान्तर से सार्थक वस्तु ग्रहण। वस्तु और शिल्प का ऐसा अनन्य भाव कम कथाकारों के लिए संभव या सुलभ हो पाया है— जहाँ वस्तु ही रूप है और रूप ही वस्तु है।'[3]

'मैला आंचल' दो खण्डों में लिखा गया उपन्यास है। दूसरे खण्ड के प्रारम्भ में ही संकेत है कि 'सुराज' 15 तारीख (1947) को मिल जाने वाला है। पहला खंड स्वाधीनता आन्दोलन के अन्तिम दौर को घेरता है। पर पाठक अनुभव करेंगे कि उपन्यास दो खंडों में ही नहीं खंड-खंड प्रसंगों की बनावट को अक्षुण्ण रखते हुए लिखा गया है। स्पष्ट है कि वह यथार्थवादी इतिवृत्त के परिचित माडल को तोड़कर लिखा गया है। यहाँ यथार्थ के साथ जीवन के मूल रस-राग सौन्दर्य से गुनगुनाते संगीत को आत्मसात करने के लिए एक ढीला-ढाला कथात्मक ढाँचा खोज लिया गया है। परमानन्द जी के अनुसार, 'इसी अर्थ में

1 वही, पृष्ठ 22
2 हिन्दी उपन्यास :1950 के बाद -डॉ० नित्यानद तिवारी का लेख, पृ० 23
3. उपन्यास का पुनर्जन्म —डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० 56

'मैला आंचल' भारतीय उपन्यास है।' निर्मल वर्मा ने इस खास शिल्प रूप की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखा है, ''मैला आंचल' और 'परती परिकथा' महज उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास नहीं है, वे भारतीय साहित्य में पहले उपन्यास हैं, जिन्होंने अपने ढंग से झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नई दिशा दिखाई थी जो यथार्थवादी उपन्यास के ढाँचे से बिल्कुल भिन्न थी। उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव, कथात्मक परम्परा को तोड़ा था। उसे अलग-अलग 'एपीन्सोड' में बाँटा था, जिन्हें जोड़ने वाला धागा कथा का सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा लैण्डस्केप था जो अपनी आत्यन्तिक लय में उपन्यास को रूप और फार्म देता है।''[1] वास्तविकता तो यह है कि भारतीय उपन्यास की इस आन्तरिक लय को रेणु ने झिझकते हुए नहीं, बहुत सतर्क ढंग से पकड़ने या स्वायत्त करने की कोशिश की। रेणु के यहाँ यह परिवेश भौगोलिक -प्राकृतिक, कालिक, सामाजिक -सांस्कृतिक रूप में है। रेणु के प्रकृति परिवेश की सबसे बड़ी विशेषता उसके भौतिक रूप की अपेक्षा मानवीय संवेदना के वाहक के रूप में चित्रित होने में है। भौगोलिक और प्राकृतिक परिवेश का स्वरूप कहीं शब्द चित्रात्मक है तो कहीं ध्वनि-चित्रात्मक, कहीं रूपात्मक है तो कहीं भावात्मक और काव्यात्मक। कालिक परिवेश, यहाँ दो रूपों आसन्नवर्तमानकालिक एवं सामान्य वर्तमानकालिक के रूप में उपस्थित है। असन्नवर्तमानकालिक वातावरण का निर्माण गाँव में मलेरिया सेंटर, चर्खा सेंटर के खुलने, महंथ की मृत्यु के बाद नये महंथ के चुनाव सम्बन्धी विवाद के उत्पन्न होने तथा पन्द्रह अगस्त को देश की स्वतंत्रता मिलने से निर्मित हुआ है और सामान्य वर्तमान कालिक वातावरण देश की स्वतंत्रता के कुछ पूर्व तथा तुरन्त बाद वाली राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक रीति-नीति तथा परम्परागत स्थितियों और लोकतत्त्वों के द्वारा। 'मैला आंचल' में सामाजिक -सांस्कृतिक परिवेश अपने सम्पूर्ण आन्तरिक और वाह्य पक्षों तथा पहलुओं के साथ भाषिक सर्जनात्मकता के नये आयामों के रूप में चित्रित तथा रूपायित हुआ है रेणु का।

'मेरीगंज एक बड़ा गाँव है, बारहो बरन के लोग रहते हैं।...

राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मन-मुटाव और झगड़े होते आये हैं। ब्राह्मणों की संख्या कम है। इसलिए वे हमेशा तीसरी शक्ति का कर्तव्य पूरा करते हैं। अभी कुछ दिनों से यादवों के दल ने भी जोर पकड़ा है।'[2]

1 वही, पृष्ठ 56
2 मैला आचल, पृ० 15

यह चित्र है गाँव में उभरती हुई जातिवादी व्यवस्था का जो गाँव की जिन्दगी को घुन की तरह भीतर ही भीतर खा रहा है। मेरीगंज केवल जातिवाद का ही शिकार नहीं है, सारा गाँव अलग-अलग टोलियों- कायस्थ टोली- में तो बँटा ही है राजनैतिक स्तर पर भी यह टोलियाँ बँटी है। बालदेव जी कांग्रेसी सभा में जब बोलने के लिए खड़े होते हैं तो सोशलिष्ट वासुदेव उठकर कहता है, "आप पूंजीवाद हैं। इस सभा में आप नहीं बोल सकते।"[1] जनता की ओर से आवाज आती है, "बैठ जाइये, बैठ जाइये। कपड़ा की पुर्जी बाँटिये, चीनी बिलेक कीजिये।"[2] इस सामाजिक- आर्थिक सांस्कृतिक परिवेश में नैतिक विघटन कोई आश्चर्य नहीं है। कहना न होगा कि वातावरण चित्रण के बिंब, ध्वनि और गति के बिंब, अमूर्त भावों के बिंब, अच्छी-बुरी स्थितियों के बिंब, सादृश्य मूलक बिंब, अनुभाव मूलक बिंब आदि अनेक प्रकार के बिम्बों तथा ध्वन्यात्मकता, सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता के द्वारा आज की समकालीन जिन्दगी एवं उसके परिवेश का अंकन जिस रूप में 'मैला आंचल' में उपस्थित है, वह अन्य आंचलिक उपन्यासों के लिए उदाहरण है। इसीलिए नेमिचन्द्र जैन की धारणा सत्य है,"उसके शिल्प में नवीनता है। विभिन्न भावों, मनोदशाओं और घटनाओं को तथा बहुत से व्यक्तियों और समूहों के कार्यों और भाववेगों को एक नये ढंग से बार-बार 'टेलीस्कोप' करने की पद्धति से एक साथ ही गति का और स्थिरता का, दूरी का और समीपता का, प्रभाव उत्पन्न होता है। पूरा उपन्यास एक फिल्म जैसा लगता है जिसके पार्श्व-संगीत में मादल और ढोल और लोक गीतों के मादक स्वर निरन्तर सुनाई पड़ते रहते हैं।"[3]

प्रविधि के स्तर पर रेणु ने दृश्यात्मक एवं परिदृश्यात्मक प्रविधि को ही ग्रहण किया है। रेणु की विशेषता यह है कि उन्होंने परिदृश्यात्मक प्रविधि के द्वारा कथा को 'प्रस्तुत' ही नहीं किया है, उसे नाटकीय भी बना दिया है। परिदृश्यात्मक प्रविधि को एक साथ दृश्य और श्रव्य बना देने की कला में रेणु अद्वितीय तो हैं ही दृश्यात्मक प्रविधि के भी उन्होंने नये द्वार खोले हैं। लोकगीतों और लोककथाओं की कड़ियों की सहायता से कथा को अग्रसर करने की प्रविधि, स्वगत चिंतन के रूप में कथा प्रस्तुत करने की प्रविधि का भी रेणु ने अच्छा परिचय दिया है। परस्पर गुंथे हुए प्रसंगों के संश्लिष्ट चित्र उभारने के लिए 'रेणु' ने बहु प्रचलित यथार्थवादी शैली में ही छाया-चित्रात्मक शैली (फोटोग्राफिक) का नया आविष्कार कर लिया है।

1. वही, पृ० 110
2. वही, पृ० 110
3. अधूरे साक्षात्कार , नेमिचन्द्र जैन, पृ० 40

भाषा का अनेक स्तरों पर वैविध्य 'मैला आंचल' की सर्वोपरि विशेषता है। इस भाषा वैविध्य से उपन्यास के बहुरंगी कथा संसार को विश्वसनीयता ही नहीं व्यक्तित्त्व भी प्राप्त हुआ है। उपन्यास के प्रत्येक पात्र को विशिष्ट व्यक्तित्त्व प्रदान करने तथा उनके मनोभावों और संवेदनाओं की निजता और वैशिष्ट्य को वाणी देने में यह भाषा वैविध्य अद्‌भुत रूप से कारगर हुआ है। मैला आंचल की भाषा ध्वनि-दृश्य बिम्बों की सृष्टि करने में अद्‌भुत है। नाटकीय दृश्यों की योजना 'मैला आंचल' के शिल्प का प्रमुख गुण है आर भाषा उसका हमेशा साथ देती है। पर रेणु की सबसे बड़ी उपलब्धि नाटकीय प्रसंगों को ध्वनि-बिंबो से संयुक्त करने में है। केवल भाषा की सहायता से ध्वनि -दृश्यात्मक बिम्ब -योजना बहुत मुश्किल काम है। पर रेणु इसमें सफल ही नही है, आश्चर्यचकित करते हैं। इस दृष्टि से तहसीलदार की 'हंसेरी' और संथालों के बीच मारमीट प्रसंग द्रष्टव्य है—

''चलो! चलो! मारो! .... साला संथाल! बाहरी आदमी! जान जाये तो जाये। तहसीलदार विश्वनाथ परसाद की ही जमीन पर धावा किया है? ..... चलो रे!.....

भौं भौ भूं ऊं ऊं ! कुत्ते परेशान हैं भूंकते भूंकते।

।....डा डा डा डा डा डा........

संथालों के डिग्गा और मादल एक स्वर में बोल उठे :

रिंग रिंग रिंग रिंग रिंग ! डा डा डा डा !

आज रिंग रिंग ता धिन ता अथवा डा डिग्गा डा डिग्गा नहीं, सिर्फ रिंग रिंग रिंग रिंग...., डा डा डा डा में ...'' यह खेत में बजा रहा है,संथालिनों को सचेत कर रहा है, तुम लोग भी तैयार रहो...

डा डा डा डा ! .....संथालिनें जबाब देती हैं रिं रिं रिं रि !

अर्थात् तैयार हैं, जूड़े में फूल खोंसनें में बस जितनी देर लगें तैयार हैं।....

''जै काली माई की जै!'' दो सौ गलों की आवाज सुनकर कालीथान के बड़गाछ पर बैठे हुए कौए एक ही साथ कांव-कांव कर उड़ते हैं। कुत्ते और भी जोर से भूंकने लगते हैं।

''जै! काली माई की जै!''

''महात्मा गांधी की जै!''

''इनकिलाब जिन्दाबाद!''

''सोशलिस्ट पार्टी जिन्दाबाद!''

''झंडा हिन्दू राज का !''

''हिंदू राज की जै।''

''तहसीलदार बिस्नाथ परसाद की जै!''

''बाददेव जी की जै!''

''घेर लो चारों ओर से! भागने न पावें।''....

हो हो हो हो हो !. .'' (मैला आंचल, पृ० 203-204)

स्पष्ट है कि 'मैला आंचल की भाषा उपन्यास की भाषा का ही एक नया आयाम नहीं खोलती वरन् उपन्यास विधा को नया जन्म देती है, जिसका मादल स्वर आज भी गूँज रहा है।

अलग-अलग वैतरणी

'इस बदलते मंजर का अरसे से मुतजिर था, मगर यह नया दौर खलिल को पस्त हिम्मत बनाने आ रहा है, इससे मैं जरूर ना-वाकिफ था।'[1] उपन्यास के पात्र खलील मियां की यह वेदना अकेले उनकी नहीं है, इसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत का पूरा भारतीय ग्राम-परिवेश सिसक रहा है। कथाकेन्द्र 'करैता' भी इसी सिसकन, वेदना और कराह से गुजर रहा है जिसकी अत्यन्त ही यर्थापरक एवं संवेदनात्मक अभिव्यक्ति 'अलग-अलग वैतरणी' में है। इसीलिए विजयदेव नारायण साही की धारणा बहुत कुछ सीमा तक सही दिखाई देती है,''प्रेमचन्द का होरी भी वैतरणी में ऊभ-चूभ कर रहा है। लेकिन पूंछ शायद वैतरणी को पार कराने में मदद कर दे। शिव प्रसाद सिंह के उपन्यास में संस्कारों की गऊ न जाने कहाँ खो गई है, शेष सिर्फ वैतरणी ही वैतरणी है, जिसमें सब ऊभ-चूभ कर रहे हैं।' शिव प्रसाद जी ने 'एक खास सजीव ग्रामीण परिवेश करैता की ठनक पहचानने के बहाने आजादी के बाद के समूचे भारतीय जीवन की तब्दीलियों, विसंगतियों, कठोर सच्चाइयों और प्रतिक्रियाओं से सीधा साक्षात्कार करने की कोशिश की है। चीजों और स्थितियों के ठीक सामने होने में कभी-कभी उनकी भावुक अतिरंजना आड़े जरूर आती है, और जब तब उनका सुपरिचित साहित्यिक कौशल भी ऊब उत्पन्न करता है। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस साक्षात्कार की प्रक्रिया में अपने ढंग की गतिमयता और पूर्णता भी है।' 'अलग-अलग वैतरणी' का कथाकार यहाँ 'करैता' के माध्यम से हमारे समूचे ग्राम जीवन की व्यथा-कथा को अभिव्यंजना दे रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के काल के राजनीतिक, प्राकृतिक एवं सामाजिक रूप के जितने भी अभिशाप हो सकते हैं उनका शिकार न केवल करैता ही हुआ, बल्कि हमारे सभी गाँव बुरी तरह उनकी चपेट में आ गये। एक टुच्ची और घटिया राजनीति का अजगर हमारे तमाम गावों को लीलता जा रहा है। पहले तो जमींदार अकेला था, परन्तु अब तो कदम कदम पर शोषक खड़े हो गये हैं। जग्गन मिसिर एक स्थल पर इसी असलियत को खोलकर रख देते हैं-''आज जुल्म कौन करता है गांवों में ? वह छुटभैइये जो पहले

1. बीहड़ पथ के यात्री, सं० प्रेमचन्द जैन, पृष्ट 91

जमींदारी के बूटों से रौंदे जा रहे थे। अब छुटभइये गोल बनाकर अपने से कमजोरों, गरीबों को सताते हैं। लूटतें हैं। आप ही बताइये न, खलील मियां की जमीन किसने छीनी? जमींदार ने? धनेसरी का खस्सी कौन खा गया? जमींदार? सनकू चमार को गाँव-निकला किसने दिया? जमींदार ने? गाँव की बहू-बेटियों को भद्दी-भद्दी बातें जमींदार कह रहा है? बेचारे शशिकान्त मास्टर की आँख में बालू डालकर उनका रूपया जमीदार ने छीना? लोगों की खड़ी फसल चोरी से जमींदार काटता है? बोलिए, यह सब कौन करता है?''[1] करैता टूटे हुए आदर्शों और बीमार मूल्यों वाला ऐसा गाँव है, जहाँ भारतीय प्रजातंत्र पूरी तरह कराह रहा है। वैसे तो करैता गांव के प्रत्येक घर-परिवार और प्रत्येक व्यक्ति के दु:खों और समस्याओं की अलग-अलग वैतरणियों की कथाएं ही इस उपन्यास के कथानक की बुनावट में शामिल है, पर इन सब अलग-अलग वैतरणियों के बीच निचली सतह पर एक अन्तर्धारा भी प्रवाहित हो रही है, जो इस अंचल-जीवन में लगे घुन, विघटन और मानवीय मूल्यों के ह्रास की कथा कहती है। क्या आन्तरिक और क्या वाह्य सभी प्रकट-अप्रकट, दृश्य और गोपन सच्चाइयाँ कथानक के छोटे बड़े रेशे हैं जो उसकी बुनावट के उपादान हैं।

स्वतंत्रता के बाद करैता गाँव में आये सामाजिक बदलाव, सांस्कृतिक अवमूल्यन, आर्थिक गिरावट, जाति और वर्गों का आपसी संघर्ष, दलबन्दी, राजनीति, भ्रष्टाचार और ढहते सामंतवाद के मलबे पर उठती हुई नयी सामाजिक व्यवस्था की इमारत के अनेक पूर्ण और खंडित चित्रों को जोड़कर ही उपन्यास के कथानक का निर्माण किया गया है। अपने केन्द्रीय प्रश्न को लेखक ने 'करैता' के जग्गन मिसिर के माध्यम से करीबन अंत में प्रस्तुत किया है—''गाँव का क्या होगा? गाँव कोई आदमी है कि उसका कुछ होता रहेगा? अरे भाई, यह तो खेमा है। कभी उखड़ता है, कभी गड़ता है; कभी बुरे दिन आते हैं, कभी अच्छे दिन आते हैं; कभी बिगड़ता है, कभी संवरता है; असली चीज तो धरती है। आप क्या समझते हैं कि अब दुनिया को धरती से कोई मतलब नहीं रहा? धरती ही सब कुछ देती है, विपिन बाबू!''[2] लेखक ने 'करैता' के माध्यम से भारत के उजाड़ होते जाने वाले देहाती दुनिया की कथा बताने की चुनौती स्वीकार की है और प्रकरान्तर से धरती और मनुष्य के सूखते सम्बन्धों के प्रति चिंतित होकर अपनी व्याकुलता को, व्यथा को औपन्यासिक विधान दिया है। रचना के आधार-फलक के रूप में जो जीवन चुना गया है, वह

1. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 331
2. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 687

उतना सरल, सादा और उलझनहीन आज नहीं रह गया है! समस्त उपन्यास में दर्जनों पात्र ऐसे वाक्य बोलते पाए जाते हैं जिनसे इस जिंदगी का भारीपन, बेढंगापन और बेतरतीबी स्पष्ट प्रकट होती है—

''जिन्दगानी कट जाए, यही बहुत है।''

''देखते नहीं कैसा निहंग जमाना है''

''जिधर देखता हूँ अजीब कुहराम है। सभी परेशान हैं, सभी दु:खी''

''ये राज में तो सुखदेव रामजी अंग्रेजी जमाने से भी ज्यादा विपत बढ़ गयी है। जाने का हो गया है कि कहीं कुछ सूझता ही नहीं।''

इसीलिए दो हजार की आबादी वाला गाँव 'करैता' आज अंधेरी बंद भुतही गलियों से भरा होकर एक बिना चेहरे वाला अभिशप्त गाँव की प्रतीति कराने वाला गांव बनकर रह गया है। ''आप जो भी कहिये मिसिर जी, करैता जैसा बदनाम, दरिद्र, गिरा हुआ बीमार गाँव शायद ही कहीं हो। यहाँ कोई भला आदमी रह ही नहीं सकता।'',[1] ''इस गाँव के हर व्यक्ति की आत्मा में कोई अतृप्त, प्यासा, बेचैन प्रेम हाहाकार कर रहा है।''[2] ''ई साला गाँव तो बीरबावन पुर है। यहाँ इस लंका में हर साला बावनै हाथ का बनता है।''[3] ''यह गाँव तो अब रहा ही नहीं जिधर देखता हूँ अजीब कुहराम है। सभी परेशान हैं, सभी दु:खी। पता नहीं इस गाँव पर किस ग्रह की छाया पड़ गई है। किसी के चेहरे पर खुशी दीखती ही नहीं।''[4] ''जहालत, गरीबी और तंग खयाली की पर्तें एक-पर-एक न जाने कब से जमती चली गई हैं''[5] ''गाँव साला हरामियों से भर गया है।''[6] जैसी अनेक पंक्तियाँ करैता के पूरे ताने-बाने को उजागर करती हैं। पंचायती चुनावों के कारण पार्टीबन्दी की दीवारें उठ रही हैं, खलियान फूंके जा रहे हैं, शोषण और यौन-सम्बन्धों की चक्की चल रही है, वासना तृप्ति के लिए षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं, दूसरों की गरीबी का मखौल उड़ाया जा रहा है, बात बात में लाठियाँ निकल रही हैं, अध्यापक अपना अकेलापन मिटाने के लिए शिष्यों का दुरुपयोग कर रहे हैं। अंचल में नयी चेतना का प्रादुर्भाव विपिन और देवनाथ जैसे स्थानीय

1. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 674
2. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 378
3. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ, 326
4. अलग-अलग वैतरणी,पृष्ठ 262
5. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 263
6. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 533

पात्रों द्वारा भी होता है पर मास्टर शशिकान्त और सरूप भगत जैसे बाहर से आये पात्रों द्वारा भी। सरूप भगत के कथन में नयी चेतना और मजदूरों की बदलती हुई मानसिकता का स्पष्ट और प्रखर रूप तब दिखाई देता, जब वह अपनी लड़की के साथ सीरीसिंह को छेड़छाड़ करते देखता है, "इज्जत तो सबकी एक ही है बाबू चाहे चमार की हो, चाहे ठाकुर की। हम आपका काम करते हैं, मजदूरी लेते हैं। हमें गरज है कि करते हैं, आपको गरज है कि कराते हैं। इसका मतलब ई थोड़ा हो गया कि हम आपके गुलाम हो गये।"[1] बावजूद इसके हर जगह एक छोर से दूसरे छोर तक मोह भंग है। एक छोर पर जैपाल सिंह का मोह भंग है तो दूसरे छोर पर विपिन का। पर यह अन्तर कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जैपाल के मोह भंग में ज्यादा सजीवता और ज्यादा सच्ची तड़प है, जबकि विपिन का मोहभंग फीका और बेजान है। शशिकान्त करैता गाँव में नयी चेतना जगाकर इसे स्वर्ग बनाने के सपने लेकर "एक दिन सूरज की रोशनी में करैता आया था......... वह रात की अंधेरी में अपने सारे हौसले लुटाकर लौट गया।[2] झिनकू चमार कहीं विद्रोहात्मक बातें करता भी है तो जमीन से उखाड़ दिया जाता है और वह चुपके से रास्ते पर मजूरी करने चला जाता है। विपिन और देवनाथ अपने हथियार परिवार और परम्परा के सामने डाल देते हैं और गाँव से, परिवार से भागने में ही निस्सार पाते हैं। विपिन की प्रतिक्रिया है—"मारो साले गाँव को गोली। साल भर तक मैंने इस गाँव में रहकर यह जान लिया है कि यहाँ किसी भले आदमी का रहना मुश्किल है। यह एक जीता-जागता नरक है जिसमें वही आता है जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं। चारो ओर कीचड़, मच्छर, जहरीली मक्खियाँ इसके बीच भुखमरी, डरावनी हड्डियों के ढाँचे, किंचरीली आँखों और बीमारी से फूले पेट वाले छोकरे, घरों में बन्द गंदगी में आपातमस्तक डूबी औरतें जो एक दूसरी को खुले-आम चौराहे पर नंगियाने में ही सारा सुख और खुशी पाती हैं, धुंधवाते मन के अपाहिज जैसे नवयुवक जो अंधेरी बन्द गलियों में बदफौली करने का मौका ढूढते फिरते हैं, हरे-थके प्रौढ़ जो न गृहस्थी के जुए को उतार पाते हैं, न उसमें उत्साह से जुट पाते हैं, मौत का इंतजार करते बुड्ढे अपने ही बेटे-बेटियों से उपेक्षित बिल-बिलाते रहते हैं— यही है न हमारी जन्मभूमि करैता।"[3] 'टूटन' इस उपन्यास का मूल स्वर है। यह टूटन करैता गाँव के जन-जन में, उनकी जीवन-दृष्टियों में, उनके विभिन्न क्रियाकलापों में अनेक रूपों में परिव्याप्त है। खलील चाचा का उखड़ना एक पाक, दरियादिल भारतीय मुसलमान का उखड़ना है

1. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 249
2. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 522
3. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ

और उसकी हमें जबर्दस्त कीमत देनी पड़ती है। पुष्पी विवाह की फाँस गले में बांधकर चली जाने को बाध्य है और यह विवाह उसके साथ घटी दुर्घटना का परिणाम है। जैपाल सिंह जमींदारी उन्मूलन से टूटते हैं, उनके विरोधी सूरज सिंह पंचायत चुनाव में पराजित होकर टूटते हैं, देवनाथ अपने पिता के व्यवहार से टूटता है और उपन्यास का सबसे जिन्दादिल पात्र जग्गन मिसिर अपनी भौजाई और गांव वालों के टुच्चे व्यवहारों से टूटता है। परिवारिक बोझ, कुमार्गगामी पति और ढहती जमींदारी की दीवारों के नीचे कनिया के आत्मसंकोच की करुण कथा आत्मा को झंकृत कर देती है। जगेसर चौधरी ने गाँव से जाते समय 'मन-ही-मन कसम खा ली कि अब वह भी इस बीर बावनपुर नगर में लौटकर नहीं आयेगा विंधेसरी लुहार चार-चार दिन फाके करने की मजबूरी से भयानक रूप में तंग आकर मिर्जापुर के जंगल में लकड़ी काटने के लिए जाने पर विचार करता है। सुरजितवा ने ने पिता से झगड़कर गांव की दरिद्रता से तंग आकर कस्बे में लाण्ड्री खोली। झिनकू जमीन से अखड़कर सड़क बनवाने के काम में जुट गया। गाँव के सभी काम करने वाले शहर जाते हैं, सभी रास्ते शहर की ओर उन्मुख हो गये हैं; सिर्फ जग्गन मिसिर को छोड़कर। विरक्ति जग्गन मिसिर के यहाँ भी है, लेकिन उनके यहाँ आस्था है, "आप जा रहे हैं विपिन बाबू जाइए। कोई आपको उसके लिए दोष भी नहीं देगा। सभी जाते हैं। हमारे गाँवों से आजकल इकतरफा रास्ता खुला है— निर्यात। सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहाँ से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है। अच्छे मोटे ताजे जानवर, गाय-बैल, भेड़-बकरे जाते हैं। हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी जिसके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिये जाते हैं पल्टन में, पुलिस में, मलेटरी में, मिल में। फिर वैसे लोग जिनके पास अक्ल है, पढ़े-लिखे हैं यहाँ कैसे रह जाएंगे? वे जाएंगे ही। जाना ही होगा।"[1]

उपन्यास की सर्वाधिक कथाएं करैता की ब्राह्मण, ठाकुर, अहीर एवं हरिजन जातियों एवं उसके परिवारों के बनते-बिगड़ने की घटनाओं एवं प्रसंगों से सम्बद्ध है। गाँव का आकाश इन्हीं जातियों एवं वर्ग-संघर्षों की टकराहटों से गूँजता रहता है। 'प्रेम, शोषण, यौन सम्बन्ध, गरीबी और समय के बदलते हुए रूप को व्यंजना देने वाली जो भी छोटी-छोटी उपकथाएं उपन्यास को गति प्रदान करती हैं, उसमें सरसता पैदा करती हैं और पाठकीय संवेदना को प्रेरित - प्रज्वलित करती हैं।'[2] धर्म, संस्कृति, राजनीति और गरीबी करैता के जीवन-प्रवाह को कहाँ बिगाड़ रहे हैं, अलग-अलग वैतरणी में इसकी जीती-जागती तस्वीर

1 अलग-अलग वैरणी,
2 शिव प्रसाद सिंह— स० अरुणेश नीरन, में डॉ० वंशीधर का लेख

उभरी है। करैता की यह कथा देवीधाम से आरम्भ होकर जमींदार जैपाल सिंह की छावनी पर पूरी होती है और इस बीच यह गाँव के मेले-ठेलों, गली-मोहल्लों, नालों-पुलों और घर आंगनों में जाने कहां -कहां घूम जाती है। इस आदि और अन्त के बीच में है गाँव के लोगों के व्यक्तिगत और सामूहिक दु:खों की अलग-अलग वैतरणियां, पुराने और नये मूल्यों की टकराहटें, नयी मानसिकता की छटपटहाटें, मुमूर्ष सामंतवाद की नयी सामाजिक व्यवस्था से संघर्ष और गांव की जिन्दगी में चौतरफा टूटन, विखराव तथा घुटन। हालांकि इस उपन्यास का मूल स्वर टूटन, पराजय, निराशा और पलायन है पर जग्गन मिसिर के माध्यम से लेखक ने गांवों की इस गलीज स्थिति का कारण और इससे उबरने के निदान देकर आस्था बचाये रखी है, ''यहाँ रहते वे हैं, जो यहाँ रहना चाहते, पर कहीं जा नहीं पाते। यहाँ से जाते अब वे हैं, जो यहाँ रहना चाहते हैं पर रह नहीं पाते।''[1] इसमें भी सन्देह नहीं कि अलग-अलग वैतरणी में कथागत बिखराव है पर लेखक ने अपनी कुशल कथा-योजना से उन्हें इस तरह आपस में बुन दिया है कि गांठे जल्द दिखाई ही नहीं पड़ती। यौन- अतृप्ति की शिकार पटनहिया भाभी के दु:खों की वैतरणी अलग है तो बिपिन -पुष्पी के असफल प्रेम की कथा अलग। कनिया अपने ही दु:खों की वैतरणी में जीवनभर तैरती रहती है और बेचारे मानवतावादी खलील मियां तो धक्के से ही जमींन पर आ रहे . .. देखते ही देखते पूरा माहौल बदल गया'' इसी करैता मे रहकर या यहाँ से जाकर जैपाल सिंह को लगता है कि ''एक हिंसक दुर्गन्ध उनके फेफड़े में अटक गयी है।'' शशिकान्त, जिसे करैता से बेशिनाख्त लौटना पड़ता है हताश, पराजित —अपने से ही सवाल करता है, ''क्या मैं इस मुर्दा जगह को बदलने के बजाय खुद ही उसी का एक अंग नहीं बनता जा रहा हूँ।'' और जग्गन मिसिर को महसूस होता है कि ''इस गाँव में हर व्यक्ति की आत्मा में कोई अतृप्त प्यासा बेचैन प्रेम हाहाकार कर रहा है।'' दयाल महराज गाँव के सफरमैना हैं; धरमू सिंह टूटते किसान हैं,; हरिया, सिरिया और छविलवा गाँव की नयी पीढ़ी की सारी विकृतियों को अपने चरित्र में समेटे हुए हैं। सरूप भगत का चरित्र एक सर्वहारा खेतिहर मजदूर होकर भी अक्खड़ व्यक्तित्त्व वाला है, जो स्वातंत्र्योत्तर भारत को नयी दिशा देने में समर्थ है। झिनकू भी जनतांत्रिक चेतना से सम्पन्न व्यक्तित्त्व की धार लिये हुए है, ''मारकर जान ले लो। लेकिन हम एक बार नहीं सौ बार कह रहे हैं। हम बिना रोजीना बन्नी के काम नहीं करेंगे। पटनहिया भाभी का चरित्र- विकास भी पर्याप्त सहजता लिये हुए

1. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ 675

है। उसमें यौन-सम्बन्धों के प्रति एक ललक है, उसके भीतर एक अतृप्ति है, वह इतनी पूर्णकाम है कि विपिन, शशिकान्त और देवनाथ तीनों उसके प्रति रागासिक्त हो उठते हैं पर उसे अपने संस्कार कभी संयम नहीं खाने देते- "चलो अपने करम में यह था ही नहीं, सब है एक नहीं है तो क्या हुआ।" पुष्पी एवं धनेसरी का चरित्र भी अपनी कुछ अलग विशिष्टता लिये हुए है। लेखक ने 'घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण', 'कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण', 'पत्र एवं डायरी द्वारा चरित्र-चित्रण', 'समूह वार्ता द्वारा चरित्र-चित्रण', अन्तर्द्वन्द्व द्वारा चरित्र-चित्रण' प्रविधियों के व्यापक प्रयोग द्वारा आंचलिकता को नयी जमीन देने के साथ ही आंचलिकता से मुक्ति भी प्राप्त की है। यों ही नहीं है कि 'अलग -अलग वैतरणी' की तटचर्चा में शिवप्रसाद जी ने कई बार की काटपीट के बाद भी उपन्यास के अन्तिम रूप से असंतोष व्यक्त किया है जो उन्हीं के शब्दों में "उनके मन के करैता की सही 'ठनक' को बाँध नहीं पाया है। वस्तुत: यह उनके अपने दर्द की वैतरणी में बहकर गाँव से बाहर चले जाते हैं ये सभी अलग-अलग व्यक्तियों की अपनी अलग-अलग वैतरणियां तो हैं पर सबके बीच में बैठा है 'करैता' गाँव के टूटन और स्खलन, अवमूल्यन और बिखराव की व्यथा भरी कहानी, जो बहुत कुछ सीमा तक स्वातंत्र्योत्तर भारत की भी कहानी है।

शिवप्रसाद जी ने अपने उपन्यास को आंचलिक मानने से आग्रहपूर्वक इन्कार किया, इसका प्रमुख कारण सम्भवत: यह है कि आंचलिकता का परिवेश व्यक्तियों को उठने नहीं देता। इसीलिए 'अलग-अलग वैतरणी' में विशिष्ट वर्गीय चरित्र वाले टाइप पात्र बहुत ही कम हैं। प्राय: सभी पात्रों की अपनी राग एवं लय है। जैपाल सिंह और उनके परिवार के अन्य सदस्यों के अतिरिक्त शेष सभी पात्र मध्य एवं निम्न वर्ग के हैं। जग्गन मिसिर, सुरजु सिंह, सुखदेव राम, हरिया, सिरिया, खलील मियां, शशिकान्त आदि मध्यवर्गीय पात्र हैं और दयाल पंडित, गगोई महराज, हरखू सरदार, धनेसरी, बुढ़िया, धुर फेंकन, सरूप भगत, लच्छीराम सुगनी, पुष्पी आदि निम्नवर्गीय पात्र। लेकिन इनमें से किसी एक का भी चरित्र अपने ही वर्ग के दूसरे पात्र की तरह नहीं है। इस उपन्यास के पात्रों की अपनी अलग-अलग वैयक्तिकता के सम्बन्ध में 'दिनमान' के टिप्पणीकार का यह कहना सर्वथा संगत है कि, "हर चरित्र अपने पैरों पर खड़ा होता है, चलता है, लडखड़ाता भी है, पर लेखकीय वैसाखी नहीं लगाता.... जिस चरित्र में जितना अधूरापन है, उसे लेखक ने स्वीकार कर लिया है और एक आदर्श चरित्र रखने के फेर में उसमें भराई नहीं की है।"[1] इसमें

1 दिनमान, 21 मई 1969 पृ० 39

'करैता' का चरित्र भी कम व्यंजक नहीं है ''करैता, जहाँ 'रेधनीचिरइया पेड़ से कलपती उड़ रहीं है -कुत्ते की तरह रोती हुई—सब कुछ तो सफाचट कर दिया- पता नहीं अब क्या करने पर लगी है', 'जहाँ जमींदारी की पुश्तैनी पुख्ता दीवालें एक हल्के शिल्प की असमर्थता नहीं, वरन् करैता की विशिष्टता है। इस शिल्प में ऐसा बहुत कुछ है, जो 'मैला आँचल' के लेखक रेणु के शिल्प की याद दिलाता है —कहीं लोककथाओं का रूपक, कहीं लोकगीतों की झनक, कहीं निरपेक्ष दृष्टि और कहीं टूटती स्थितियों की लय के साथ सम्बद्ध सापेक्ष आसक्ति या लगाव। इसके बावजूद ''अलग-अलग वैतरणी' को आंचलिक कहना जरूरी नहीं। सच तो यह है कि करैता की उपेक्षा करके आज के समय, मनुष्य और भारतीय लोकतंत्र की पहचान असम्भव है— भारतीय लोकतंत्र, जो लगातार टूटते आदर्शो और मूल्यों के बीच आज तक अपनी नयी या स्वस्थ परम्परायें कायम नहीं कर सका है।''[1]

उपन्यास की शैली सपाट और यथार्थवादी है। बात कहने की पद्धति कथाकार की किंचित परिवर्तन के साथ, वैसी ही है जैसी कि प्रेमचन्द और उनकी परम्परा में है। उपन्यास में कहीं-कहीं पत्र शैली, लोकवार्ता शैली और फ्लैशबैक शैली भी अपनाई गयी है।

1. उपन्यास का पुनर्जन्म— डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 112

रागदरबारी

'सूनी घाटी का सूरज' और 'अज्ञातवास' जैसी कृतियों की समीक्षा करते हुए आलोचक डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ने लिखा, 'श्रीलाल शुक्ल 'पाखंड विखंडन' के मास्टर लेखक हैं। वे स्वतंत्रता के बाद के मोह भंग और मूल्य भ्रंशता को गहरी वेदना के साथ, खीझ के साथ नहीं व्यक्त करते। पात्रों से श्रीलाल शुक्ल जिस प्रकार की विश्वसनीय दूरी बनाये रखते हैं, वह भी उनके कथात्मक कौशल की विशेषता हैं। यह कौशल किसी व्यंग्य लेखक में ही हो सकता है कथा मात्र के लेखक में नहीं।[1] यह रागदरबारी के सन्दर्भ में भी सोलहो आने सच है। 'रागदरबारी हिन्दी की उन रचनाओं की परम्परा में है जो आलोचना के सहारे के बिना अपनी पठनीयता के बल पर लोकप्रिय एवं सम्मानित, प्रतिष्ठित हुई है।'[2] रागदरबारी को लेकर आलोचकों के एक वर्ग ने जहाँ इस उपन्यास को अपने युग का सशक्त दस्तावेज तथा हिन्दुस्तानी जिन्दगी की मुख्यधारा को पकड़ने की कोशिश (कमलेश, आलोचना अक्टूबर-दिसम्बर 68) माना है, वहीं कई अन्य आलोचकों ने इसके विस्तार और गहराई पर, इसकी बुनियादी ईमानदारी पर प्रश्न चिन्ह लगाये हैं। श्रीपत राय ने कथा, सितम्बर ६९ में इसे 'बहुत बड़ी ऊब का महाग्रंथ' व 'अतिशय उबाने वाली करूचिपूर्ण और कुरचित कृति' करार देते हुए यह भविष्यवाणी की थी कि 'यह अपठित रह जायेगी'। नेमिचन्द्र जैन ने इसे 'असंतुष्ट, क्षुब्ध व्यक्ति की बेशुमार शिकायतों और झीझ भरे आक्षेपों का अंतहीन सिलसिला करार दिया था।' आज तीन दशकों के अन्तराल के बाद इन आलोचकीय मंतव्यों को झुठलाते हुए जब इस उपन्यास ने एक साथ पाठकीय प्रशंसा, पठनीयता एवं साहित्यिक स्वीकृति के विरल कीर्तिमान स्थापित किये हैं तो श्रीलाल शुक्ल की कथा दृष्टि की विवेचना निश्चित रूप से एक जटिल व दुविधा जन्य कार्य है और इसलिए चुनौतीपूर्ण भी।'[3] तभी तो रवीन्द्र कालिया के शब्द हैं—'श्रीलाल जी आलोचकों के बल पर आगे नहीं बढ़े, पाठकों ने उन्हें पहले मान्यता दी।'[4] डॉ० विद्यानिवास मिश्र के अनुसार,

1 तद्भव, एक, मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृष्ठ 23
2 तद्भव -एक में डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख, पृष्ठ 92
3. तद्भव, एक में वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 26
4. तद्भव, एक, पृष्ठ 75

'रागदरबारी पर्त दर पर्त छीलने वाला उपन्यास है, इसके बावजूद वह पठनीय ही नहीं, अत्यन्त प्रभावोत्पादक भी है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि उसका प्रभाव केवल नकारात्मक है, पाखंडों के तिरस्कार पर बल है, अपने अतिरिक्त सबकों नैतिकता से शून्य मानने वाला है परन्तु ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीलाल जी जीवन की निर्मल्यता और पारदर्शिता के पक्षधर हैं।'[1]

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश के मोह भंग की जो यात्रा रेणु के 'मेरीगंज' से शुरू हुई थी वह 'गंगौली' करैता होते हुए श्रीलाल शुक्ल के 'शिवपालगंज' में भी जारी है। 'मोहभंग की दास्तान लेकर जब श्रीलाल शुक्ल का 'शिवपालगंज' साहित्य के पन्नों का 'रागदरबारी' बना तो वह न तो किसी लगाव भरी पीड़ा का मोहताज हुआ और न ही उसने किसी भावुक क्षण को भाव दिया। धारदार तेवर और पैने व्यंग्य के औजारों से बेरहम शल्य क्रिया करते हुए समाज को फांक-फांक काटा और रेशे-रेशे छीला। शिवपालगंज विकासशील देश का ऐसा कस्बा है, जिसे चीरने फाड़ने से पहले सुन्न कर दिया गया।'[2] बीरेन्द्र यादव के अनुसार, 'रामदरबारी' नेहरूयुगीन जनतंत्र की कामिक शैली में रचा गया 'क्रिटीक' है।'[3] उत्तर नेहरूवाद के इस आरम्भिक दौर में जनतंत्र कटघरे में था, कांग्रेस का एकाधिकार समाप्त हो रहा था; केन्द्रीयताएँ टूट रही थी, नैतिकता, सदाचार, कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी और परोपकार जैसे मानवीय व सामाजिक मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव प्रबल था। 'रागदरबारी' ऐसे ही सर्वनकारवादी व अनास्था के दौर की साहित्यिक उपज है। 'सच, नैतिकता, ईमानदारी, इंसानियत और प्रजातंत्र को धता बताकर लोभ, मोह, उपयोगितावाद और ताकत लाठीतंत्र की प्रतिष्ठा का यह 'दरबारी राग' भ्रष्ट सत्ता तंत्र का 'माइक्रोस्तर' पर विखंडन है, क्यों कि उपन्यासकार की मान्यता है कि 'दिल्ली से ले कर शिवपालगंज तक काम करने वाली देसी बुद्धि सब जगह एक सी है।'[4] रागदरबारी का महत्त्व और मौलिकता इस भ्रष्ट सत्ता तंत्र की विकृतियों की ठेठ देशज कथात्मक प्रस्तुति है। सम्पूर्ण व्यंग्यपरक शैली में लिखे गये इस उपन्यास ने हिन्दी उपन्यास यात्रा में एक अलग ही तकनीक का सूत्रपात किया है, जो लेखन के स्तर पर कार्टून शैली का अनुकरण कही जा सकती है। सुधीश पचौरी ने इसे 'पैरोडी' का दर्जा दिया है। ''पैरोडी के रास्ते पढ़ते हुए अचानक लगता है कि रागदरबारी कथाओं में उपलब्ध राष्ट्रीय रूपक के मिथ को बड़े निर्मम ढंग से नष्ट

1. तद्भव, एक, मैत्रेयी पुष्पा का लेख, पृष्ठ 91
2. तद्भव, एक, पृष्ठ 26
3. तद्भव, एक, पृष्ठ 26
4. तद्भव एक वीरेन्द्र यादव का लेख पृष्ठ 36

करता है। यही रागदरबारी का 'डिपार्चर' है, टर्निंग प्वाइंट है, जहाँ से हिन्दी कथा कथन प्रेमचन्द के रूपक / रूपकों से न केवल अलग दिशा में चलने लगता है, बल्कि प्रेमचन्द की संरचनाओं को 'मिथ्या' जैसा बताता है। रागदरबारी के पढ़ने के बाद, 328 पृष्ठ तक शिवपालगंज में रहने के बाद प्रेमचन्द के गाँव अचानक झूठे लगने लगते हैं। प्रेमचन्द की दुकान में अपना माल रख बेचने वालों के लिए इस उत्तर आधुनिक 'शिफ्ट' से निपटना मुश्किल है जो रागदरबारी की पैरोडी पैदा करती है। वरना इस प्रश्न का उत्तर क्या है कि छत्तीस तक जो ग्राम्य जीवन एक मनोहारी 'इन्नोसेन्स' में मौजूद दिखता है वह अड़सठ तक आते आते भयावह 'गंजहेपन' में क्यों तब्दील हो जाता है।''[1] यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि 'रागदरबारी में लूटतंत्र के खलनायकों के चित्रण में श्रीलाल शुक्ल को जो दक्षता दीखती है, वह तंत्र के पीड़ितों के वर्णन में नहीं है।'दरअसल अभिजात्य के जिस धरातल पर खड़े होकर वे नकार की कामिक शैली अपनाते हैं उसमें खलपात्रों की ही उत्कृष्ट रचना हो सकती है'[2] यही कारण है कि अपनी ग्राम्य पृष्ठ भूमि के 'रागदरबारी' में होरी, धनिया, गोबर, दु:खी चमार, घीसू, माधव, हल्कू जैसे दु:खी और उत्पीड़ित पात्र नहीं दिखाई देते। गोदान का कृषक रागदरबारी में आकर — पं० कालिका प्रसाद जैसा हो गया है जिसका पेशा 'सरकारी ग्रांट और कर्जे खाना था। वे सरकारी पैसे के द्वारा सरकारी पैसे के लिए जीते थे।'[3] स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में, ''कालिका प्रसाद प्रेमचन्द के उन कथानायकों में न थे जो लगान वसूलने वाले अमीन को देखते ही घर के भीतर घुस जाया करते थे और बीबी से घबराहट में कहने लगते थे, 'दरवाजे पर सहना खड़ा है।' वे उनमें थे कि हजार रूपये की कुर्की लिए अमीन चबूतरे के नीचे खड़ा हुआ खुशामद कर रहा है और वे चबूतरे के ऊपर बैठे हुए निश्चिंत भाव से कह रहे हैं, आपको कार्रवाई रोकने में दिक्कत हो तो कहिए ऊपर से लिखा लाऊं।''[4] सच्चाई तो यह है कि प्रेमचन्द के होरी की सन्तानें आज भी दमन-शोषण के दुश्चक्र एवं विपन्नता की मार से ग्रस्त हैं। अंतर इतना है कि प्रेमचंद के रचना संसार में होरी व हल्कू के साथ-साथ 'रागदरबारी' के कालिका प्रसाद के पूर्वज पंडित दातादीन सरीखे लोग भी थे, 'जिन्होंने लगान की एक पाई न दी थी, कुर्की आती तो कुएं में गिरने चलते मगर असामियों को

1. तद्भव, अक एक, में सुधीश पचौरी का लेख, पृष्ठ 160
2. वही, वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 33
3. रागदरबारी, पृष्ठ 182
4 रागदरबारी पृष्ठ 182

सूद पर रूपये उधार देते।'[1] रागदरबारी' में आकर प्रेमचन्द का समाज आमूलचूल परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा है। 'रागदरबारी' का कस्बाई वातावरण गाँव व नगर का अंतर मिटाते हुए उन कुप्रवित्तियों को रेखांकित करता है, जो भारतीय जनतंत्र व विकास के माडल को खोखला बना रही है। यहाँ रागदरबारी में प्रकाशित यह लेखकीय घोषणा द्रष्टब्य है कि 'रागदरबारी का सम्बन्ध एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे हुए गाँव की जिन्दगी से है, जो आजादी के बाद की प्रगति और विकास के नारे के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्त्वों के आघातों के सामने घिसट रही है। यह उसी जिन्दगी का दस्तावेज है।' इस लेखकीय घोषणा के बावजूद सच यह है कि 'रागदरबारी' गाँव की जिन्दगी का उतना बड़ा दस्तावेज नहीं है जितना उन 'निहित स्वार्थों एवं अवांछनीय तत्त्वों' का, जो शहर एवं गाँव का फर्क मिटाते हुए हर कहीं उपस्थित है, 'रंगनाथ को शिवपालगंज के बारे में ऐसा लगने लगा कि महाभारत की तरह , जो कहीं नहीं है वह यहाँ है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है,[2] ''उत्तर प्रदेश के अवध इलाके के लखनऊ जैसे किसी शहर से कुछ ही मील दूर सड़क के किनारें स्थित गाँव कस्बा शिवपालगंज आजादी के बाद विकसित हुए हिन्दुस्तान में कहीं भी मिल सकता है।''[3]

श्रीलाल शुक्ल 'रागदरबारी' में ऐसे खल समाज की रचना करते हैं जहाँ स्वतंत्रता, जनतंत्र, न्यायपालिका पंचायत राज, सहकारिता तथा अन्य लोकतान्त्रिक संस्थाएं 'निहित स्वार्थों एवं अवांछनीय तत्त्वों, के हाथ की कठपुतली भर बन कर रही जाती हैं। भारत जैसे अर्ध सामंती और विकासशील देश में जनतंत्र को कैसे निहित स्वार्थों के लूटतंत्र में बदला जा सकता है। शिवपालगंज इसकी छोटी-मोटी प्रयोगशाला है। इसीलिए डा० चन्द्रकान्त बांदिबडेकर के शब्द सही लगते हैं, ''रागदरबारी में भारतीय जनतंत्रवाद की असलियत का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रकट हुआ है— जनता लगभग जानती है कि उसके पास वोट तो है परंतु वह किसी काम का नहीं है। सामान्य से सामान्य मतदाता भी किसी उम्मीदवार को वोट देने के लिए तैयार है। जनतंत्रवाद की महत्त्वपूर्ण प्रणाली का हास्योत्पादक रूप असल में राजनीतिक ट्रेजडी का एक पहलू है।''[4] स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'वैद्य जी' जैसे परजीवी वर्ग द्वारा जनतांत्रिक संस्थाएं एवं विकास योजनाएं किस प्रकार व्यक्तिगत हित साधन हेतु अपहृत कर ली गयी, रागदरबारी इसकी मनोरंजक

1. गोदान, पृष्ठ 105
2. रागदरबारी, पृष्ठ 63
3. कमलेश का लेख आलोचना, अक्टूबर - दिसम्बर 68, पृष्ठ 99
4 उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चन्द्र कान्त बांदिबडेकर, पृष्ठ 289

औपन्यासिक पैरोडी है। शिवपालगंज ऐसा प्रिज्म है, जहाँ से आधुनिक जनतंत्र का विकृत यथार्थ सैंकड़ों किरणों के माध्यम से अपने विरुपित व कुरुपित रूप में कभी दीखता है तो कभी विलुप्त हो जाता है। 'रागदरबारी' के केन्द्र में वैद्य जी की बैठक, छंगामल कालेज, कोआपरेटिव सोसाइटी एवं ग्राम पंचायत सरीखी संस्थाएं हैं, जिन पर स्वातंत्र्योत्तरभारतीय समाज के विकास की अवधारणाएं टिकी हैं। इन संस्थाओं की विकृतियों को चिन्हित करते हुए उपन्यासकार 'विलायती तालीम में पाये हुए जनतंत्र' को कटघरे में खड़ा करता है।'[1] रागदरबारी उपन्यास के आरम्भ में जो ट्रक का बिम्ब है, वह जैसे रूके ठहरे भ्रष्ट लोकतंत्र का ही मूर्त प्रत्यक्ष है। मैत्रेयी पुष्पा की दृष्टि में रागदरबारी, 'जिसमें जोर है, उसके पास लाठी है, अत: उसी की भैंस होगी के सिद्धान्त का व्यंग्यात्मक प्रतिपादन करता हुआ, खोखले आदर्शों का माखौल उड़ाता हुआ अपना परचम लहराये हुए है।[2] शिवपालगंज का छंगामल इंटरमीडिएट कालेज 'रागदरबारी' का केन्द्रीय घटनास्थल है, क्योंकि इस कालेज के माध्यम से समस्त शिवपालगंज ही नहीं, समूचे देश की दशा-दिशा का परिचय प्राप्त होता है। श्रीलाल शुक्ल के शब्दों में, ''यह राग उस दरबार का है जिसमें हम देश की आजादी के बाद और उसके बावजूद आहत अपंग की तरह डाल दिये गये हैं या पड़े हुए हैं।''[3]

किन्तु आलोचकों की दृष्टि में देश छोड़कर यह उपन्यास शिवपालगंज का भी समग्र चित्र प्रस्तुत नहीं करता। भारत का पूरा ग्राम-समाज छंगामल इण्टर मीडिएट कालेज नहीं है, न उनकी समस्त संस्थाएं संस्थागत राजनीति की उखाड़ पछाड़ से सम्बन्धित हैं। इसमें कुछ और भी है, जो सुन्दर, कोमल, मार्मिक है। किन्तु यहीं उपन्यासकार की रचनाधर्मिता तथा उसके लिए परिस्थितियों के चयन का प्रश्न सामने आता है। उनकी धारणा है कि, 'उपहासपूर्ण दृष्टि मैंने नहीं डाली है। ग्रामीण जीवन में जो प्रवृत्तियाँ थीं मैंने उन्हें लिखा। गांव में जो आदमी भांग घोटता है, नंगे बदन रहता है, विपन्न है तब भी ठठोली करता है, हंसता है, बातें करता है, एक जीवंत वातावरण सृजित करता है।'[4] उपन्यास में वर्णित स्थितियाँ समग्र जीवन को प्रस्तुत नहीं करती, पर वे समग्र वास्तविकाता का अंग हैं, वास्तविकता के केवल इसी अंग का चुनाव लेखक की सीमा नहीं उसके उददेश्य का परिचायक है। व्यंग्य चित्रकार का काम सामान्यत: सुंदर, करुण कोमल का अंकन करना नहीं, पैनी छुरी चलाना है। इस उद्देश्य से वह किसी विसंगत स्थिति को ही चुनता

1 तद्भव, अंक एक, वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 31
2. तद्भव, अंक एक, पृष्ठ 42
3 'रागदरबारी' सस्मरण, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 241-42
4. तद्भव, अंक एक, श्रीलाल शुक्ल से अखिलेश की बातचीत, पृष्ठ 125

है, जैसे इस उपन्यास में चुना गया है।'[1] डॉ० नित्यानंद तिवारी ने उपन्यास पर स्थितियों या चरित्रों के वर्णन में रीतिबद्धता तथा फार्मूलेबाजी का आरोप लगाया है। कहना न होगा कि यह शैली भी बहुत कुछ कार्टूनी रेखांकन पद्धति के सचेत या अचेत अनुसरण के कारण ही है। किसी विशेष स्थिति या चारित्रिक विशेषता के लिए कलाकार रेखाओं का एक विशेष ढंग से विन्यास करता है। स्वयं श्रीलाल शुक्ल ने अखिलेश से बातचीत के प्रसंग में कहा है, ''रागदरबारी में अनेक छोटे-छोटे चरित्र हैं, जिनकी उपहास्यदता को लेकर मैंने सम्पूर्ण वातावरण का निर्माण किया है, मगर अंततः वे तंत्र के ऊपर किये गये मेरे आघात को अधिक तीव्र बनाते हैं। लंगड़ को ही लें, उसका चरित्र उपहास्पदता ज्यादा प्रकट करता है या सत्ता तंत्र के अन्याय को ?''[2]

रागदरबारी में परिवेश को नायकत्व मिला है, शिवपालगंज स्वयं में एक चरित्र के रूप में उभरता है। वैयक्तिक चरित्र का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप से होता है, फिर भी कुछ चरित्र उभरकर सामने आ गये हैं। इन चरित्रों के केन्द्र में वट वृक्ष की तरह फैले हैं बैद्य जी। शिवपालगंज के खल-समाज का नायकत्व बैद्य जी, उनके कुनबे और उनके संगी साथियों का है जो परजीवी बिचौलिया संस्कृति के प्रतिनिधि है, जो प्रत्येक युग में सक्रिय हैं। उपन्यासकार के ही शब्दों में, ''बैद्य जी थे, हैं और रहेंगे। अंग्रेजों के जमाने में वे अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देशी हुकूमत में वे देशी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे। वे देश के पुराने सेवक थे। पिछले महायुद्ध के दिनों में, जब देश को जापान से खतरा पैदा हो गया था, उन्होंने सुदूर पूर्व में लड़ने के लिए बहुत से सिपाही भरती कराये, अब जरूरत पड़ने पर रातों रात वे अपने राजनीतिक गुट में सैकड़ों सदस्य भरती करा देते थे। पहले भी वे जनता की सेवा जज की इजलास में जूरी और असेसर बन कर दीवानी के मुकदमों में जायदादों के सिपुर्दकार होकर और गाँव के जमींदारों में लम्बरदार के रूप में करते थे। अब वे कोआपरेटिव यूनियन के मैनेजिंग डाइरेक्टर और कालेज के मैनेजर थे।''[3] इतना ही नहीं, ग्रांट या कर्जा देने वाली किसी नयी स्कीम के बारे में योजना आयोग के सोचने भर की देर थी, वे उसके बारे में सब कुछ जानते थे।[4] क्योंकि वैद्य जी उस विचौलिया संस्कृति के पुरोधा थे जिसका 'पूरा कर्मयोग

1. हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद—सं० डॉ० नित्यानंद तिवारी एवं डॉ० निर्मला जैन, में कुसुम बांठिया का लेख
2. तद्‌भव, अंक एक
3. रागदरबारी, पृष्ठ 39
4. वही पृष्ठ 183

सरकारी स्कीमों की फिलासफी पर टिका था।'[1] वंशवाद, कुनबापरस्ती, जाति प्रेम, राजनीति का अपराधीकरण जैसी विकृतियाँ जो आज भारतीय जनतंत्र के लिए चुनौती है, श्रीलाल शुक्ल का रागदरबारी उसे पूरे व्यंग्य-विद्रूपता के साथ उद्घाटित करता है। उपन्यास के रूप्पन के अनुसार, 'सारे मुल्क में यह शिवपालगंज ही फैला हुआ है।'[2] और 'असली शिवपालगंज बैद्य जी की बैठक में था।'[3] बकौल उपन्यासकार, बैठक का मतलब ईट और गारे की बनी हुई इमारत भर नहीं है। नं० 90 डाउनिंग स्ट्रीट, व्हाइट हाऊस, क्रेमलिन आदि मकानों के नहीं, ताकतों के नाम है।'[4] 'रागदरबारी' सत्ता के इसी ताकत का विमर्श है जो चोरी, लूट, गबन, व्यवस्थापिका कार्यपालिका-न्यायपालिका के मनमाफिक दुरूपयोग पर टिकी है। 'रागदरबारी' के बैद्य जी, उनका कुनबा और उनके संगी-साथी लूटतंत्र की इसी ताकत से जुड़े हैं। सब या तो उनकी निरंकुश परम स्वतंत्र व्यवस्था के पुर्जे हैं, या होकर भी नहीं है जैसे रामाधीन भीखम-खेड़वी। रंगनाथ बाहर से गया है और गलत या सही शोधकर्ता का भ्रम पाले हुए है इसलिए असंगत है'[5] वह वापस जाना चाहता है तो रूप्पन पूछता है ''नफरत करने वाले तुम होते कौन हो? कोई इनसे बाहर हो क्या?' वह नींद भरी आवाज में बोला, 'कहां जाओगे दादा? वहाँ भी इसी तरह के हरामी मिलेंगे।''[6] 'लंगड भ्रष्ट व्यवस्था में एक निरीह सत्याग्रही है इसलिए वह भी असंगत है। शेष चरित्र दबंग, भ्रष्टाचार, हर तरह के दुराचार, हेकड़ी, नंगई, मूर्खता, स्वार्थ, झूठ, पाखंड के मूर्तिमान रूप हैं। सनीचर, रूप्पन, बद्री, जोगनाथ, खन्ना मास्टर, कालिका प्रसाद एक ही दुनियाँ के जीव हैं। शिक्षा और दूसरे मूल्यों की ऐसी तैसी करते हुए सबके सब कुम्भीपाक में है। रंगनाथ के मन में कहीं इस व्यवस्था से विरोध की लहर उठ रही है तो वह शुरू में ही जान लेता है कि विरोध की पहली ही कोशिश में वह भरभरा कर लुढ़क गया है।'[7] और बचा रह जाता है शिवपालगंज का बदरंग यथार्थ जहाँ यह अनबूझ पहेली है कि 'सच्चाई किस चिड़िया का नाम है? और यह बताना मुश्किल है कि क्या सच है, क्या झूठ है।'[8] जहाँ नैतिकता का स्वरूप यह है, 'नैतिकता समझ लो कि यही चौकी है। एक कोने में पड़ी है। सभा सोसाइटी के वक्त इस

1. वहीं, पृष्ठ 183
2 वही, पृष्ठ 388
3. वही, पृष्ठ 35
4. वहीं, पृष्ठ 36
5. तद्‌भव, अंक एक, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 6
6 रागदरबारी
7. तद्‌भव, अंक एक, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 6
8 रागदरबारी, पृष्ठ 102

पर चढ़ कर लेक्चर फटकार दिया जाता है। यह उसी के लिए है।'[1] और 'इंसानियत का प्रयोग शिवपालगंज में उसी तरह चुस्ती और चालाकी का लक्षण माना जाता था, जिस तरह राजनीति में नैतिकता का।'[2] डॉ० रामदरश मिश्र ने रागदरबारी की पात्र योजना में यह कमी पाई कि इसमें मानवीय गुणों से युक्त कोई भी पात्र ऐसा नहीं है जो छाये हुए घने अंधेरे में एक आलोक बिन्दु हो, जिसे मानवीय मूल्यों में आस्था हो। यहाँ यह प्रश्न है कि क्या प्रत्येक उपन्यास के लिए इन मूल्यों के पैटर्न का पालन एक अनिवार्यता है। मेरी दृष्टि में शिवपालगंज का चरित्र ही ऐसा है कि उसके अनुरूप ही पात्र यहाँ फिट बैठते हैं। इस उपन्यास में केवल एक पात्र लंगड़ 'सत्त की लड़ाई' लड़ता हुआ दिखाया गया है, किन्तु लंगड़ का धर्मयुद्ध भी निराला के चतुरी चमार के मुकदमे की तरह अस्तित्त्व का संकट न होकर महज एक सनक है। मुकदमें की नकल प्राप्त करने का उसका संघर्ष अत्यन्त प्रहसननुमा है, क्योंकि इसके मूल में किसी अन्याय या शोषण के प्रतिकार व विरोध का संकल्प न होकर 'लंगड़ और नकल बाबू के बीच चलने वाला धर्मयुद्ध है, जो घूस की रेट पर टिका है, ''नकलनवीस चिड़ीमार निकला, उसने पाँच रूपये मांगे। लंगड़ बोला रेट दो रूपये का है, इसी पर बहस हो गयी....... लगड़ को भी गुस्सा आ गया। उसने अपनी कंठी छू कर कहा :'जाओ बाबू, तुम कायदे से काम करोगे तो हम भी कायदे से ही काम करेंगे। अब तुमको एक कानी कौड़ी न मिलेगी। हमने दरख्वास्त लगा दी है, कभी न कभी तो नम्बर आयेगा ही ।''[3] अतएव कहना न होगा कि 'इस उपन्यास में भी प्रस्तुति की कसावट की खातिर कुछ बिडंम्बनापूर्ण स्थितियों को ही चुना गया है और उनके माध्यम से व्यक्ति चरित्र तथा व्यापक पैमाने पर समाज तथा देश के चरित्र की विसंगतियों को रंखांकित किया गया है।' जहाँ तक उपन्यास में बेला को छोड़कर अन्य नारी पात्रों की अनुपस्थिति का प्रश्न है, श्रीलाल शुक्ल के विचार स्वयं ही स्पष्ट हैं, ''दरअसल भारतीय ग्राम पुरुष प्रधान हैं। वहाँ स्त्री आनुषंगिक अस्तित्त्व मात्र है। मगर रागदरबारी में स्त्री चरित्रों के न होने के पीछे अनिवार्यत: यह कारण नहीं है। रागदरबारी का जो तंत्र है, कथा का जो सूत्र है, उसमें स्त्री चरित्रों की गुंजाइश नहीं बनती।''[4]

1. वही, पृष्ठ 123
2. वही, पृष्ठ 103
3. वही, 45
4. तद्भव, अंक एक, श्रीलाल शुक्ल एवं अखिलेश के साथ बातचीत, पृष्ठ 125

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, नेमिचन्द्र जैन ने 'चालू किस्म की जुमलेबाजी' कहा है। यह जुमलेबाजी भी वस्तुत: एक व्यंग्य चित्र की रीतिबद्धता का ही एक अंग है। 'कार्टून की रेखाओं की वक्रता उपन्यास में भाषा की वक्रता के रूप में प्रतिफलित होती है। यह वक्रता लेखक के अपने वर्णनों में दृष्टिगत होती है और उसकी टिप्पणियों में भी'। दूसरी ओर पात्रों की बोलचाल के फूहड़ प्रयोग भी इस उपन्यास की एक विशिष्ट रीति बन गये हैं। इसके वार्तालाप में बोलचाल की भाषा का कच्चा माल बिना किसी सुधार-संवार के प्रयुक्त हुआ है- अपनी खानगी, बेहूदगी और भदेसपन के साथ। रागदरबारी में वैद्य जी की शिष्ट, शालीन भाषा भी है, जो उनके सौम्य, संस्कारी मुखौटे का हिस्सा है; किन्तु बद्री, रूप्पन, सनीचर आदि अधिकतर चरित्रों की भाषा फूहड़ गंवारपन से भरी हुई है जो व्यवस्था की खामियों के पड़ताल से जुड़ी है। इस प्रकार रागदरबारी में मुख्यत: भाषा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप गंजहे लोगों की बोलचाल में, संवाद में उभरता है और गंजहों की मानसिकता को, चरित्र को आकार देता है। दूसरा रूप लेखक की अपनी व्यंग्यात्मक, और हास्योत्पादक शैली है।

श्रीलाल शुक्ल ने परिवेश को प्रमुखता दी है, अत: शैली में वर्णनात्मकता प्रचुर रूप में आती है, परन्तु इस वर्णनात्मकता को चित्रांकन और मूर्तिमत्ता की कला से जीवन्त बना दिया है जिसे ट्रक थाने, मेले, दुकानों एवं कालेज के वर्णन प्रसंग में देखा जा सकता है। वस्तुओं, स्थितियों तथा व्यक्तियों का वर्णन करते समय लेखक जहाँ एक ओर उसकी वास्तविकता को उजागर करता है, वहीं साथ-साथ उसमें छिपी असंगतियों को तथा हास्योत्पादकता को उघाड़ता चलता है। कहीं कहीं समर्थ, सप्रयोजन शब्द से भी व्यंग्यात्मक परिवेश की सृष्टि करता है—

'कुछ बेशर्म लड़के भी हैं, जो कभी-कभी इम्तहान पास कर लेते हैं'

'चरी कहीं सचमुच ही उग आई थी।'

'इतना काम है कि सारा काम ठप्प पड़ा है।'

'इस देश में लड़कियाँ व्याहना भी चोरी करने का बहाना हो गया है।'

इस प्रकार के शब्दों का परिवेश उपन्यास में अनेक स्थलों पर व्यंग्य की सृष्टि करता है, जिनसे देशकाल परिस्थिति, सूक्ष्म निरीक्षण, अतिशय धारदार ढंग से व्यक्त होता है। 'रागदरबारी का हास्य विकट

हास्य उत्पन्न नहीं करता। हम जोर से ठहाके नहीं लगा सकते परंतु गालों में जीभ रखकर अवश्य दाद देते चलते हैं। व्यंग्य का प्रयोग विसंगतियों पर प्रकाश डालने के लिए सर्वत्र किया गया है।'[1] इसीलिए वीरेन्द्र यादव की दृष्टि में, 'रागदरबारी का हास्य संयमविहीन हास्य, जहाँ उपन्यासकार स्थितियों को हास्य के अनुकूल बनाने में असमर्थ होने पर, भाषा से हास्य की रचना करता है।'[2] एक बानगी कुछ यूं है, ''वे महिलाएं पाखाने की कार्रवाई को एकदम से स्थगित कर सीधी खड़ी हो गयी और उन्हें 'गार्ड आफ आनर' जैसा देने लगी।''[3] कहना न होगा कि यहाँ श्रीलाल शुक्ल की भाषा मात्र संग्राहक की भूमिका न अदा कर स्वयं में कथ्य बन जाती है, वह एक नयी सक्रियता धारण कर लेती है। भाषा की यह अतिरिक्त सक्रियता लेखकीय अतिकथन की भी माँग करती है, जिसकी पूर्ति हेतु उपन्यासकार ने 'रागदरबारी' में रंगनाथ के रूप में सूत्रधार का सृजन किया है। लेखकीय अतिकथन की डोर जहाँ सूत्रधार रंगनाथ के हाथ से छूटती दिखाई पड़ती है, वहाँ लेखक नेपथ्य से कथा सूत्र को स्वयं संभाल लेता है। कभी-कभी पात्रों के माध्यम से, कहीं स्वयं अपने कथन के रूप में।

शिवपालगंज के लोगों की भाषा में उखाड़-पछाड़, बेलाग चुभतापन, बेरोकटोक अक्खड़पन, मुँहफट बेबाकपन स्पष्ट होता है। गाली-गलौज के साथ कुछ ग्राम्य जीवन की भदेस अनगढ़ भाषा का प्रयोग भी है। प्रिंसिपल की ब्रजभाषा भंगिमा और जोगनाथ की सर्फरी बोली ने अपना अलग रंग जमाया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

1. ''अंडा नहीं देंगे तो क्या बाल उखाड़ेगे? सब मीटिंग में बैठकर रांडो की तरह फांय-फांय करते हैं, काम-धाम के वक्त खूंटा पकड़कर बैठ जाते हैं।''

2. ''यह जांघ खोलो तो लाज, और वह खोलो तो लाज''

3. ''हमारे बाप रांड की तरह रो रहे हैं।''

1. हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति— चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, पृष्ठ 295
2. तद्भव, अंक एक, वीरेन्द्र यादव का लेख, पृष्ठ 28
3. रागदरबारी, पृष्ठ 233

रामदरश मिश्र ने इसकी व्यंग्यात्मकता को जहाँ 'आरोपित'[1] और 'अनावश्यक' मानते हैं, वहीं नेमिचन्द्र जैन ने 'अक्षम्य संवेदनहीनता'[2] कहा है। वस्तुत: इस उपन्यास की मूल दृष्टि 'हाई कामेडी' (श्रीलाल शुक्ल) है और यही पूरी रचना का आधार है। रघुवीर सहाय ने श्रीलाल शुक्ल के रचनात्मक तनाव का उल्लेख करते हुए उनकी व्यंग्य रचनाओं के बारे में जो कहा वह रागदरबारी के बारे में पूरी तरह सच है : ''श्रीलाल शुक्ल अपने रचनात्मक तनाव की रक्षा में नितांत आधुनिक हैं और यहीं पर उनकी भाषा आज की मुर्दा राजनीति के हाथों भाषा के निरन्तर अवमूल्यन के बावजूद सार्थक हो जाती है। वह प्रतीकों और मिथकों से मुक्त रहकर टूटे शब्दों का ऐसे इंदराज करते हैं कि वे कभी अपने टूटे अर्थ स्थापित न कर पाये।''[3]

1. रामदरश मिश्र, आधुनिक हिन्दी उपन्यास
2 नेमिचन्द्र जैन- असंतोष का खटराग, जनांतिक (1981), पृष्ठ 55
3. 'यहाँ से वहाँ' की भूमिका (सन्दर्भ, तद्भव, एक में डॉ सत्य प्रकाश मिश्र के लेख।

नदी के द्वीप

डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ने 'शेखर : एक जीवनी' की परम्परा, तकनीकि और उपलब्धि पर विचार करते हुए जो कहा उसे 'नदी के द्वीप' के सन्दर्भ में भी कहा जा सकता है, 'शेखर : एक जीवनी' ऐसी रचना है, जिसकी रोशनी उससे पहले के और बाद के उपन्यास साहित्य पर पड़ती है। शेखर को पढ़ते ही लगता है कि न केवल उपन्यास लिखने का तरीका बदल गया, बल्कि उपन्यास पर विचार करने का तरीका भी बदल गया। द्विवेदीयुगीन मनोरंजन और सोद्देश्यतावादी धारणा से सहसा हम वैचारिकता और उद्देश्य की खोज के जगत में प्रवेश कर जाते हैं।'[1] 'नदी के द्वीप' हिन्दी उपन्यास यात्रा का महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है। 'उपन्यास के रूप में न केवल उस प्रकार की कोई अन्य रचना हिन्दी में नहीं; बल्कि उतनी सूक्ष्मता, संवेदनशीलता और अनुभूतिगत प्रबलता से लिखी हुई कृतियाँ बहुत ही कम है। बहुत सी दृष्टियों से 'नदी के द्वीप' हिन्दी की साहित्यिक चेतना को, सौन्दर्य बोध को, हिन्दी गद्य की सूक्ष्म अभिव्यंजना शक्ति को एक सर्वथा नया ही स्तर प्रदान करता है और हिन्दी उपन्यास को पश्चिमी देशों के उपन्यास साहित्य का समकक्षी बना देता है।[2] डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्द हैं, ''नदी के द्वीप' जो मूलत: एक प्रणय कथा है, विश्व युद्ध के कुछ सन्दर्भों को संकेतिक भाव से जहाँ-तहाँ प्रस्तुत करता है। उनको वाद देने पर 'नदी के द्वीप' का प्रणय संसार बहुत कुछ स्वत: पूर्ण है। पर उपन्यास के रूप में 'नदी के द्वीप' का प्राय: त्रुटिहीन संघटन 'शेखर' की तुलना में कहीं अधिक तोषप्रद है। शायद इसीलिए 'नदी के द्वीप' का पाठन अधिक सघन, एकतान और तृप्तिकर है।''[3] डॉ० विजय देव नारायण साही ने 'नदी के द्वीप' में आंचलिक तत्त्वों की पहचान की है, 'नदी के द्वीप' को आंचलिक कहना शायद अनुचित या आकस्मिक जान पड़े। वह किसी भौगोलिक अंचल की कथा नहीं है। लेकिन यदि हम आंचलिकता को कथाकार की दृष्टि से सम्बद्ध मानें और परिभाषा के अनुसार कटे हुए, अपने-आप में बन्द, स्वत: सम्पूर्ण समाज की

---

1. शेखर : एक जीवनी—सं० रामकमल राय मे डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र का लेख, पृ०
2. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 22
3. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 68

उद्‌भावना और छविमयता को उसकी कसौटी मानें तो आंचलिक दृष्टि के तत्त्व उसमें मिलेंगे। एक अर्थ में उसके मुख्य पात्र केवल व्यक्ति या वर्ग विशेष नहीं हैं—वे मिलकर एक अलग 'समाज' का निर्माण करते दीखते हैं। बेशक इस समाज की स्वतः सम्पूर्णता उतनी चरम नहीं है जितनी 'मैला आंचल' के समाज की। वस्तुतः इस समाज का 'समाज' न बनकर जग मगाते द्वीपों की तरह बिखर-बिखर जाना ही कथाकार का महत्वपूर्ण कथ्य है। मगर इसके पीछे उपन्यासकार की वह मौलिक तलाश ही है जो खाई के उस पार अन्य मूल्यों पर आधारित एक भिन्न सामाजिकता की छविमय सम्भावना को देखना चाहती है। दीपक की लौ की तरह इस सम्भावना का अस्तित्व और निर्वाण एक ही प्रक्रिया का नाम है जो इस ज्योतिर्मय 'दुःख भरी कहानी' को जन्म देती है इसी अर्थ में 'नदी के द्वीप' में आंचलिकता का आभास होता है—खाई, चेतना की स्वतंत्र सत्ता और यथार्थ की छविमयता ध्यान में रखना जरूरी है कि आंचलिकता इन पात्रों में या इनके सामाजिक वर्ग में नहीं है बल्कि उनके वर्गत्व की ओर जो कथाकार की विशिष्ट उन्मुखता है, उसके कारण है। इन्हीं पात्रों की कहानी बिना आंचलिकता के भी कही जा सकती थी जिस तरह पूर्णिया जिले के किसानों की कहानी प्रेमचन्द की तरह बिना छविमयता के कही जा सकती थी। व्यर्थ विवाद बचाने के लिए हम इस दृष्टि को अर्ध आंचलिक या 'द्वीपभावी' या कोई अन्य नाम दे दें—मेरा मूल आग्रह उस खाई पर है जो इस कथा के सौन्दर्य-बोध का अभिन्न अंग है।''[1] इस अत्यन्त लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि 'नदी के द्वीप' में 'भाषा के आभिजात्य के बल पर या एक खास तरह की काव्यात्मक भाषा का जादू जगाकर यह उपन्यास बहुतेरे पाठकों को सम्मोहित करता रहा है। प्रेम के दुःख का अनुभव करने वाली इस कृति में एक अनोखी मार्मिकता है भी। पर सब मिलाकर व्यक्तिगत पूर्णता और खंडित सामाजिकता के जिस दर्शन पर निजी संबंधों की यह प्रणयगाथा टिकी हुई है, आधुनिक पाठकों की दृष्टि में प्रश्नांकित हुए बिना न रहेगी।'[2]

कहना होगा कि ''नदी के द्वीप' के पाठक को कतिपय सीमाओं को लांघना होगा। स्वयं अज्ञेय ने एक कथन में वैचारिक सीमा का संकेत करते हुए लिखा था—''उपन्यास अनिवार्यता पूरे समाज का चित्र हो यह मांग बिल्कुल गलत है। उपन्यास की परिभाषा के बारे में यह भ्रान्ति (जो देश में या कम से कम

---

1. छठवाँ दशक—विजय देव नारायण साही, पृष्ठ 227
2. हिन्दी उपन्यास : 1950 के बाद—सं० नित्यानंद तिवारी, डॉ० निर्मला जैन में डॉ० परमानंद श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 1।

हिन्दी में काफी फैली हुई मालूम होती है) साहित्य के सामाजिक तत्त्व को गलत समझने का परिणाम है। कह लीजिए कि पिछली या विकृत प्रगतिवादिता का परिणाम है।''[1] इसीलिए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी को कहना पड़ा कि 'नदी के द्वीप' की प्रणय-संवेदना भिन्न और प्राय: असाधारण किस्म की है।'[2] पर यह असाधारण होते हुए भी विश्वसनीयता लिए हुए है। डॉ० चतुर्वेदी की दृष्टि में यह असाधारणता दो स्तरों पर दिखाई देती है। एक तो जो मुख्य चरित्र इसमें दिखाई देते हैं—भुवन, रेखा, गौरा—वे समाज के विशिष्ट वर्ग से लिये गये हैं। दूसरे यह कि उनके बीच का प्रणय-सम्बन्ध न तो सामान्य ईर्ष्या द्वेष से परिचालित है और न उसमें आत्म-त्याग या आत्म-पीड़न का परम्परागत रूप मिलता है। नदी के द्वीप में प्रेम का वातावरण बिल्कुल भिन्न प्रकृति का है इसमें जहाँ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला है और राग में भी एक भिन्न तरह का संयम दिखाई देता है, वहीं शरीर के उत्सव भाव को भी उन्मुक्त रूप में स्वीकार किया गया है। इस तरह 'भावुकता, बौद्धिकता और देह का आकर्षण सब मिलाकर 'नदी के द्वीप' की प्रणय-संवेदना को एक विशिष्ट, पर उदार रूप देते हैं। और यह रूपांकन सम्भव हुआ है प्रधानत: उपन्यासकार की संवेदनशील और सुकुमार भाषा की सर्जनात्मक शक्ति के द्वारा।'[3] इसीलिए नेमिचन्द्र जैन को कहना पड़ा, '' 'नदी के द्वीप' में चित्रित प्रेम की असामाजिकता मूल रूप में वैसी ही असामाजिकता है जैसी मीरा के प्रेम में रही होगी। इसीलिए उसमें वैसी ही सामाजिक निरपेक्षता है, वैसी ही सहन करने की और उस पीड़ा से अधिक पवित्र, सफल और परिपूर्ण होने की क्षमता है। 'नदी के द्वीप' में प्रेम का चित्रण और उस प्रेम के फलस्वरूप दो स्त्री-पुरुषों के बीच व्यक्तित्व का, तन और मन दोनों का समर्पण, किसी विकृति का न तो परिणाम है न उसका कारण।'[4] 'नदी के द्वीप' में देह का यह समर्पण प्रेम की चरम अनुभूति के रूप में दो शरीरों का मिलन है जो अपने अधिक से अधिक सार्थक रूप में अभिव्यक्त हुआ है—

1 ''साक्षी हों सूर्य और प्रकाश, और पवन और तले बिछी घास और चट्टानें, साक्षी हों अन्तरिक्ष के अगणित देवता और अकिंचन वनस्पतियाँ-------''

---

1. सन्दर्भ, अज्ञेय—सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ 125
2. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 68
3. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी। पृष्ठ 68
4 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द जैन

2. ''लेकिन यह सत्य है जो कोई साक्षी नहीं माँगता, सिवाय अपने ही भीतर की निविड़ समर्पण की पीड़ा के, अपने ही में, निहित स्पन्दित और क्रियाशील असंख्य पीड़ाओं की असंख्य सम्भावनाओं के---''

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रेम को, स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को इस सूक्ष्म और पवित्र स्तर पर ग्रहण और चित्रित कर सकना 'नदी के द्वीप' की एक महत्वपूर्ण देन है। इसीलिए यह उपन्यास गद्य में लिखे हुए एक लम्बे प्रेम काव्य जैसा लगता है।

उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर ही अंकित पंक्तियाँ, जो उपन्यास का अंग न होते हुए भी सतर्क पाठकों को उपन्यास की अन्तर्वस्तु की कड़ियों को पकड़ने में अर्थपूर्ण लगेंगी : ''दुःख सबको मांजता है/ और / चाहे स्वयं को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु / जिनको मांजता है / उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।''[1] नदी के द्वीप की रेखा का समस्त जीवन जैसे अज्ञेय की इन पंक्तियों की सार्थकता सूचित करता है। अज्ञेय के जीवन दर्शन के अनेक सूत्र रेखा की ओर से दी गयी जीवन और अस्तित्व की व्याख्या में अविकल रूप में मौजद है, ''हम जीवन के नदी के अलग-अलग द्वीप हैं—ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरंतर उनका भाग्य गढ़ती चलती है, द्वीप अलग-अलग होकर भी निरंतर घुलते और पुनः बनते रहते हैं—नया घोल नये अणुओं का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप-----।''[2] पूरे उपन्यास में नदी के द्वीप का यह सहज और भाव संकुल बिम्ब परिव्याप्त है। अज्ञेय ने लिखा है कि यदि उनसे पूछा जाय—नदी के द्वीप किसके लिए लिखा गया उपन्यास है तो सबसे पहले कहना होगा—''अपने लिए, अर्थात् अपने को यह बात सप्रमाण दिखाने के लिए कि मेरी आस्था, मेरी निष्ठा, मेरे संवेदना-जाल की सर्म्पूता और सच्चाई, मेरी इंटिग्रिटी उसमें अभिव्यक्त हुई है।'' कहना होगा कि व्यक्तित्व-संघटन की चिन्ता 'नदी के द्वीप' को 'शेखर' : एक जीवनी से जोड़ती है। 'दोनों कथाकृतियों के मूल में प्रेम और पीड़ा की सर्जनात्मक क्षमता अंकित हुई है। शेखर की प्रणय संवेदना भारतीय स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि में विकसित होती है, भुवन फासिस्ट खतरे से लड़ने के लिए विश्व युद्ध में भाग लेता है और उसका प्रेम प्रगल्भ होता है युद्ध के वातावरण में।''[3] शेखर की तुलना में भुवन का

---

1. नदी के द्वीप—अज्ञेय
2. नदी के द्वीप
3. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

व्यक्तित्व प्रौढ़ और विकसित है। 'प्रेम और विवाह और दोनों की पीड़ा जो व्यक्तित्व को परिपूर्णता की ओर अग्रसर करते हैं, 'नदी के द्वीप' की वस्तु के प्रधान निर्णायक तत्त्व हैं।'[1] गौरा द्वारा सहसा बुलाये जाने पर भुवन लिखता है, ''व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास जब तक पूरा नहीं हो जाता, तब तक उसे ईकाई से बाहर प्रसृत करने का प्रश्न नहीं उठता, वह प्रश्न तभी उठना चाहिए जब उसके बिना और विकास के मार्ग न हों।''[2] विवाह की आवश्यकता की इस सूक्ष्म व्याख्या के केन्द्र में व्यक्तित्व ही है। चन्द्र माधव के चरित्र के माध्यम से भी व्यक्तित्व पर मूल्यों के विघटन और उससे उत्पन्न खतरे की ओर लेखक ने संकेत किया है। चन्द्र माधव के एक पत्र का उत्तर देती हुई गौरा लिखती है, ''मेरी समझ में तो एक विश्व संकट यह भी है कि साधना आज इतनी नगण्य हो गयी है कि हमारा साध्य जीवन का आनन्द न रहकर जीवन की सुविधाएं रह गया है। यानि जीवन की हमारी परिभाषा ही बदल गयी है, वह जीवन का नहीं, जीवन की क्रियाओं का नाम हो गया है। इसलिए आज हम जीवन की शोध नहीं, जीवन की दौड़ की बात करने लगे हैं : जीवन का वाह्यीकरण करते-करते हमने उनका बहिष्कार ही कर दिया है।''[3]

अज्ञेय ने आत्मनेपद् में स्वीकार किया है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है, 'तो मेरी रुचि व्यक्ति में ही रही है और है; 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र का ही उपन्यास है। घटना उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काफी है, पर घटना प्रधान उपन्यास वह नहीं है।'' यह चरित्रों से छनकर संवेदनाओं की ही कहानी है—एक दर्द भरी प्रेम कहानी, जिसमें कम से कम दो पात्रों (रेखा और भुवन), प्रेम में व्यक्तिगत पूर्णता अनुभव करने-कराने की बड़ी क्षमता स्पष्ट झलकती है। लेकिन यहाँ यह भी कहना होगा कि रेखा के व्यक्तित्व के माध्यम से प्रेम कथा का त्रिकोण-भुवन, रेखा, गौरा—प्रचलित और सामान्यत: स्वीकृत त्रिकोण से भिन्न दिखाई देता है। रेखा एक आत्म सजग और तीव्र बुद्धि की युवती है। उसमें ''एक दूरी है—एक अलगाव है—कि वह जिस समाज से घिरी है और जिसका केन्द्र है, उससे अछूती भी है।''[4] रेखा के पास ''रूप भी है, बुद्धि भी; किन्तु बुद्धि मानों तीव्र संवेदना के साथ गुथी हुई है और वह रूप एक

---

1. नदी के द्वीप—अज्ञेय
2. नदी के द्वीप—अज्ञेय
3. नदी के द्वीप—अज्ञेय
4. नदी के द्वीप

अदृश्य, अस्पृश्य कवच सा पहने हुए है।''[1] भुवन पहली बार अनुभव कराता है कि रेखा में कुछ है जिसका उन्मेष जीवन का उन्मेष है और जिसे जान सकना एक महान अनुभूति हो सकती है। ''वह पहनती है तो रेशम, जो वास्तव में सफेद नहीं होता, उसमें हाथी दांत की सी, या मोतियों के फूल-सी, या पिसे चंदन सी एक हल्की आभा होती है-----यों तो शुभ्र श्वेत भी ऐसा होता है कि पहनने वाले को दूर अलग ले जाता है, पर यह रेशमी सफेद तो और भी दूर ले जाता है, दूर ही नहीं, एक ऊंचाई पर भी; रेखा मानों उसके साथ चलती हुई भी एक अलग मर्यादा से घिरी हुई चल रही है।''[2] अपने दाम्पत्य जीवन की असफलता से शापित वह भुवन की ओर आकृष्ट होती है और वर्जना विहीन ढंग से, उसके प्राप्त प्रेम को वरदान मानकर अंगीकार करती है। 'प्रेम की विभिन्न स्थितियों और मनोदशाओं का आत्मीय और प्रगाढ़ अंकन लेखक ने किया है—प्रेम में निहित सारी कवित्वपूर्ण उदारता के साथ रेखा अत्यन्त उन्मुक्त भाव से इन प्रेम-पूर्ण क्षणों को जाती है। अपनी भावनाओं के प्रति वह सच्ची है और इसे ही वह प्रेम की कसौटी बना लेने में विश्वास करती है। अनेक कवियों और उनकी प्रेम कविताओं को आधार बनाकर वह अपने इस प्रेम को व्यंजित और सम्प्रेषित करती हे। किसी आगत भविष्य की चिता से पूरी तरह मुक्त रहकर, वह सिर्फ अपने वर्तमान को ही सच मानती है।'[3] 'शेखर : एक जीवनी' के शेखर के वेदना वाले सूत्र—'वेदना में एक शक्ति होती है, जो दृष्टि देती है'—का ही विस्तार रेखा के चरित्र में दिखाई देता है।

इसीलिए एक ट्रेजडी के रूप में भी 'नदी के द्वीप' की अद्वितीयता है। बहुत कुछ मूल्यवान, अर्थवान के व्यर्थ होने की गहरी मानवीय पीड़ा रेखा के टूटन में हमें मिलती है। तीव्र संवेदनाशील, बुद्धिमान और चिंतनशील समद्ध व्यक्तित्व का तिल-तिल कर टूटने के लिए विवश होना गहन ट्रैजिक बोध देती है।''[4] अज्ञेय ने स्वयं लिखा है—''रेखा अपनी भावनाओं के प्रति सच्ची रहना चाहती है, भीतर के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उसने समर्पण की सीमा तक पहुँचा दिया है। जहाँ यह व्यक्तित्व की बहुत बड़ी शक्ति है, व्यक्तित्व के विकास का उत्कर्ष है, वहाँ यह उसकी एक पराजय भी है। क्योंकि केवल 'अपने में जो है,

---

1. वही
2. वही
3 हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृष्ठ 85
4. हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति—डॉ० चन्द्रकान्त वादिवडेकर

उसके प्रति समर्पण' काफी नहीं। अपने से बाहर और बड़ा भी कुछ है जिसके प्रति भी उतना ही निस्संग समर्पण वास्तव में चरित्र की पूर्ण विकसित और परिपक्व अवस्था है। रेखा की ट्रेजडी उसके इसी समर्पण के अधूरेपन की ट्रेजडी है—जितना ही वह पूरा है उतना ही अधूरा है क्योंकि वह अधूरे के प्रति है।''[1] रेखा अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्णता की खोज में है अपने भाव जगत की परिपूर्णता की खोज में बड़े आत्मविश्वास के साथ संघर्षरत है। समस्त कथा संघटना में, कहीं भी कोई प्रखरता, सूक्ष्मता और भाव गहनता उत्पन्न होती है, तो वह रेखा के कारण ही। 'रेखा का व्यक्तित्व अपने आप में तो प्रखर प्रभावशाली है ही, साथ ही वह उपन्यास के अन्य चारों पात्रों के ऊपर भी छाया रहता है। बाकी सारे पात्र आलोकित अथवा बुझे हुए दीखते हैं तो रेखा के व्यक्तित्व के आलोक को प्राप्त करके अथवा खोकर।[2]

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की दृष्टि में, 'नदी के द्वीप' के कथा संघटन की एक विशिष्ट उपलब्धि है रेखा और गौरा के पारस्परिक सम्बन्ध का अंकन। इस पक्ष के सामने भुवन और रेखा तथा भुवन और गौरा के सम्बन्ध भी कुछ हल्के से हो जाते हैं। उपन्यास के प्रणय-संवेदन की विशिष्टता भी रेखा और गौरा की परस्पर प्रतिक्रियाओं पर अधिकतर निर्भर है।'[3] रेखा के व्यक्तित्व में सौन्दर्य की मद्धिम आभा के साथ बौद्धिकता का गहरा रंग है। राग को उसने दबाया नहीं है, पर राग से वह कहीं अनुशासित भी नहीं दिखाई देती। वेदना से परिष्कृत रेखा का व्यक्तित्व अपनी उदार संवेदना में भुवन को मुक्त रखने के साथ ही 'प्रेम' को भी मुक्त रखता है। इसीलिए गौरा के प्रति भुवन के आकर्षण को प्रचलित ईर्ष्या-द्वेष से देखने के बजाय रेखा उसमें अपने व्यक्तित्व का प्रसार अनुभव करती है। तभी तो वह गौरा के पास अपनी अगूँठी और चूड़ी स्नेह और आशीर्वाद के साथ भेज देती है। गौरा के प्रति रेखा के मन में प्रारम्भ से ही वत्सल एवं सख्य भाव मिश्रित संवेदना दिखाई देती है—

तोमाय

साजाबो यतने कुसुमे रतने

केयूरे कंकणे कुंकुमे चन्दने

1. सन्दर्भ, अज्ञेय—सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृष्ठ 126
2. वही
3. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 27

साजाबो

किंशुके रंगने

तोमाय------

'इस तरह रेखा के चरित्र में प्रेम बँधता नहीं, मुक्त करता हे। और यही रेखा के व्यक्तित्व का वास्तविक रूप है, जिसमें शरतचन्द्र की तरह आत्मपीड़ा नहीं है और न परम्परागत प्रेम कथा का ईर्ष्या भाव है, वरन् सारी मन:स्थिति कों गहराई से समझने का यत्न है।'[1] भुवन प्रेम के सघन और दुष्प्राप्य क्षणों को पूरी तल्लीनता से जीने में विश्वास करता है। विज्ञान और कविता का समन्वय कर सकने की क्षमता ही उसके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। गौरा को लिखे पत्र में वह अपने को 'किसी सुदूर पोत-भंग का बहकर आया हुआ एक टूटा और विपन्न तख्ता' स्वीकार करता है और अपने अस्थिर और अनिश्चित जीवन को प्रेम की ऊर्जा से बचाये रखना चाहता हे। अपनी शिष्या और सखी गौरा के व्यक्तित्व की निकटता और उष्मा मिलने पर भुवन का व्यक्तित्व पूर्णतर होता है। उपन्यास के अन्त में गौरा को पत्र लिखते वह अपनी आरम्भिक उपपत्तियों की निष्पत्ति का अनुभव करता है, ''सब कुछ अधूरा है, और ज्यों-ज्यों वह आगे पूरेपन की ओर बढ़ता है, नयी अपूर्णताएँ भी उसके आगे स्पष्ट हो जाती हैं—कितना बड़ा जीवन है, कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवाहमान और उसमें व्यक्ति की ये छोटी-छोटी इकाइयाँ—प्रवाह से अलग जो कोई अस्तित्व नहीं रखती, कोई अर्थ नहीं रख़ती, फिर भी सम्पूर्ण है, स्वायत्त है, अद्वितीय है और स्वत: प्रमाण है, क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित है; अपने आगे उत्तरदायी है; स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप, दण्ड और पुरस्कार, शास्ति और तुष्टि, ये सब बाहर हैं तो केवल समय है, सत्य तभी है जब भीतर से उद्‌भूत हों-----'' यह अधूरापन कहीं-न-कहीं भुवन के चरित्र में भी दिखाई देता है। डॉ० परमानंद श्रीवास्तव ने रेखा के समानान्तर भुवन के चरित्र को परखते हुए लिखा है—''तमाम दुर्घटना से गुजरकर रेखा के प्रखर, पूर्ण, गहन संवेदनशील व्यक्तित्व की कोई क्षति नहीं होती—आधुनिक स्त्री के रूप में इतनी मार्मिक और खरी व्यक्तित्वपूर्णता सचमुच हिन्दी कथा साहित्य में विरल है—पर, भुवन जिसे संवेदनात्मक पूर्णता का जीवन देने की कोशिश लेखक ने बराबर की है, अक्सर दयनीय लगने

1. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 75

लगता है। जब तब उसकी भाषा एक रोमाटिंक प्रलाप लगने लगती है।''[1] नेमिचन्द जैन के शब्द हैं, ''भुवन के चरित्र की परिकल्पना में कहीं विरोध है, असंगति है। ऐसा लगता है कि दो अलग-अलग ऐसे व्यक्ति मिला दिये गये हों जो किसी गहरे आन्तरिक क्षण में भी एक नहीं होते। भुवन जैसी संवेदनशीलता प्रकट करता है वह उसके जीवन में कहाँ से आयी होगी, यह प्रश्न मन में उभरता है, और कुछ देर बाद ऐसा लगता है कि उसका सारा आत्म विश्लेषण; उसकी सारी संवेदनशील, सूक्ष्म भाव ग्राहिता आरोपित है, उसके व्यक्तित्व से निष्कृत नहीं।----नौकुछिया और तुलियन में जो भुवन है वह बाकी उपन्यास के भुवन से मूलतः भिन्न जान पड़ता है, जैसे दो भिन्न व्यक्ति हों।''[2]

चन्द्र माधव की उपस्थिति 'नदी के द्वीप' में व्यक्त प्रेम-दर्शन में एक व्याघात उपस्थिति करती है। 'चन्द्रमाधव में उन्होंने महत्त्वाकांक्षा का ढोंग, रुचिहीनता, कामुकता, ओछापन वैमनस्य और द्वेष आदि सभी विशेषताएं एक साथ दिखाई हैं : और अन्त में अपना चरम रोष प्रकट करने के लिए उसे कम्युनिस्ट भी बना दिया है।'[3] 'कुछ ऐसा जान पड़ता है कि कम्युनिस्टों के प्रति अपना रोष प्रकट करने के लिए ही उन्होंने इस पात्र की इस भाँति कल्पना की है। पूर्वाग्रह की ऐसी प्रबलता हर कलाकार के लिए घातक होती है, चाहे वह कलाकार कम्युनिस्ट हो या कम्युनिस्ट विरोधी।'[4] इसी आधार पर डॉ० भगवत शरण उपाध्याय ने 'नदी के द्वीप' को 'सुन्दर पके फल में कीड़े' की संज्ञा देकर उसकी आलोचना की है। वे इसे साम्यवाद और प्रगतिवाद के 'वल्गराइजेशन' का उदाहरण मानकर प्रस्तुत करते हैं। ''अच्छा होता यदि अज्ञेय ने उन पर प्रहार उनके सिद्धान्तों के माध्यम से किया होता, यदि साम्यवादियों के त्याग, तप, साधना विचारसरणि, लोक चेतना, लोकहित पर अज्ञेय ने आघात किया होता। इससे उस शक्ति का केश लुंचन तक न होगा, ऐसा मेरा विश्वास है, फिर यह शिथिल अपेक्षाकृत फूहड़ आक्रोश उस सफल कृती की मर्यादा की ओर उंगली उठायेगा, मुझे डर है, क्योंकि मैं अज्ञेय के साथ भड़ैती या फूहड़पन का सम्बन्ध नहीं कर सकता।''[5] इतना ही नहीं अज्ञेय में स्वयं चन्द्र माधव के प्रति दुराग्रह है, तभी तो 'नदी के द्वीप' पर

---

1 हिन्दी उपन्यास : 1950 के बाद—सं० डॉ० निर्मला जैन एव डॉ० नित्यानंद तिवारी, में डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख, पृष्ठ 5
2. अधूरे साक्षात्कार नेमिचन्द जैन पृष्ठ 27
3. वही, पृष्ठ 29
4 वही, पृष्ठ 30
5 विवेक के रंग—सं० देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 198

लगाये जाने वाले अश्लीलता के आरोप को वे चन्द्रमाधव के चरित्र विन्यास से जोड़ देते हैं, '' 'नदी के द्वीप' में अश्लीलता किसी भी वर्णन में नहीं मानता; दृष्टि में वह है तो न लेखक की ओर न रेखा या भुवन की; बल्कि चन्द्रमाधव की दृष्टि में वह है। वह कह सकते हैं कि भुवन या रेखा वास्तविक नहीं, चन्द्र माधव वास्तविक है; जो कहते हैं। मुझे उनसे बहस नहीं, क्योंकि शायद यही ठीक ही है कि थोड़ी बहुत अश्लीलता ही वास्तविक है।''[1] इसके अतिरिक्त एक और भी दुर्बलता चन्द्रमाधव के चरित्र की परिकल्पना में दिखाई देती है कि उपन्यास की मूल कथावस्तु के साथ उसका सम्बन्ध बहुत आत्यन्तिक नहीं है। विसदृशता के रूप में भी उसकी उपस्थिति अनिवार्य नहीं दिखाई देती।

'नदी के द्वीप' का अंत इस काव्यात्मक चिंतन में है, ''मूल्यवान और सम्पृक्त क्षण, क्योंकि प्रतीक्षा के—वह प्रतीक्षा चाहे कितनी लम्बी हो, कर्म की इस अजब, प्रवाहिनी नदी से लंबी, भुवन प्रतीक्षा करेगा, जैसे कि नि:सन्देह गौरा भी प्रतीक्षा करेगी-----क्योंकि प्रतीक्षाएं भी, अजय, अनागत काल की नदी में स्थिर, शिथिल समय के द्वीप है।''[2] स्पष्ट है कि प्रेम का मर्म प्रतीक्षा में है, पीड़ा में है, सफरिंग में है और यही व्यक्तित्व को पूर्ण बनाने वाला तत्त्व है।

'नदी के द्वीप' का शिल्प संगठन उनकी विशेष दृष्टि का परिणाम है, जो चरित्र, कथा संघटन, भाषा, शैली सभी स्तरों पर हिन्दी उपन्यास यात्रा की एक उपलब्धि है। प्रमुख चार चरित्र, जो अज्ञेय के अनुसार चार संवेदनायें हैं को केन्द्र बनाकर कथानक को अध्यायों में नियोजित किया गया है। 'अन्तराल' जैसे संकेत उनमें एक प्रकार का अंतर्संगठन बनाते हैं। संवाद, स्वयमालाप, पत्र, कविताओं के स्मरण संकेत अर्थात् उदाहरण आदि के माध्यम से इस अनुभूतिमय प्रेमगाथा की बुनावट की गयी है। 'लेखक की तीव्र भावप्रवणता ने उनकी भाषा को अद्‌भुत काव्यात्मक सघनता अथवा तरलता यथा प्रसंग, और स्थान-स्थान पर, प्रदान की है। हिन्दी का गद्य 'नदी के द्वीप' में सर्वथा ही नये सामर्थ्य के साथ प्रस्तुत हुआ है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं और विचारों की प्रखरता के साथ अभिव्यक्त करने की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है।'[3]

---

1. आत्मनेपद, पृष्ठ 80
2. 'नदी के द्वीप',—अज्ञेय
3. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन

'भाषा-प्रयोग और रचना संगठन की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' की कला अप्रतिम है। अपने प्राय: त्रुटिहीन विधान में यह उपन्यास अनेक वर्षों तक आने वाले रचनाकारों के लिए एक चुनौती बना रहेगा।'[1] अज्ञेय के यहाँ भाषा सर्जनात्मक व्यक्तित्व की चिन्तना का एक प्रधान अंग के रूप में उपस्थित है। इसीलिए रेखा हो या भुवन या गौरा यहाँ तक कि चन्द्र माधव, भाषा उनके लिए अभ्यास नहीं जीवित सत्य है। भाषिक सर्जनात्मकता के कारण उपन्यास में सर्वत्र सूक्ष्म अंकन और अर्थपूर्ण वर्णनों का क्रम मिलता है। अज्ञेय ने घटना या चरित्र के वाह्य स्थूल रूप पर जोर न देकर उनके आन्तरिक घात-प्रतिघात को समझना चाहा है, जहाँ यथार्थ का अधिक वास्तविक रूप देखा जा सकता है। 'नदी के द्वीप' की सारी संवेदनशीलता और सुकुमारता अधिकतर उसके भाषा-प्रयोग के कारण है जिसके अभाव में वह एक सामान्य प्रेम-कथा होकर रह सकता था। अब नदी के द्वीप इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार भाषा संवेदना को विकसित करती है और उसे ऊपर उठाती है।'[2] अतएव डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में कहे, '' 'नदी के द्वीप' के रचना-संघटन को समझने पर लगता है कि 'शेखर' की तुलना में उसका औपन्यासिक विधान गहरे संवेदनात्मक सूत्रों और भाषा सम्बन्धी सतर्कता के कारण कहीं अधिक अच्छी अन्विति पर सका है। 'नदी के द्वीप' की एक डिजाइन है, भले ही वह एक ऐसे जीवन से आंकी गयी है जो सामान्य जन-जीवन का भाग नहीं है।''[3]

---

1. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 76
2 वही, पृष्ठ 77
3 वही, पृष्ठ 81

'आधा गाँव'

''मैला आंचल' के बाद 1956 एवं 1966 के बीच ''सागर, लहरें और मनुष्य', 'वरुण के बेटे', 'ब्रह्मपुत्र', 'परती : परिकथा', 'कोहवर की शर्त' आदि हिन्दी के श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास प्रकाशित हुए, किन्तु आंचलिकता का जैसा सघन प्रयोग राही मासूम रजा की कृति 'आधा गाँव' (1966) में है, वैसा किसी में नहीं। आधा गाँव की कहानी उत्तर प्रदेश में गाजीपुर जिले के गंगौली गाँव से सम्बन्धित है, लेकिन गंगौली यहाँ पूर्ण रूप में नहीं आया है। 'उस गाँव में 'सैयद' लोगों के मकान हैं। कुल मिलाकर दस घर होंगे। दक्खिन पट्‌टी वाले घर दक्खिन पट्‌टी कहलाते हैं और उत्तर पट्‌टी वाले घर उत्तर पट्‌टी कहलाते हैं। बीच में जुलाहों के घर हैं। सिब्बूदा के घर से राकियों की आबादी शुरू होती है और फिर, गंदी कच्ची गली गंगौली बाजार में दाखिल हो जाती है-------गाँव के आस-पास कई घूरे आबाद हैं। किसी में चमार रहते हैं, किसी में भर, और किसी में अहीर।'[1] लेकिन राही अपने को केवल सैयद परिवारों तक सीमित रखते हैं, 'हमें इन्हीं तीनों फाटकों और उनके चारों तरफ रहने वाले सैयद परिवारों में जाना है।'[2] इन सैय्यद परिवारों में रहने वाले लोग गाँव के सबसे प्रभावशाली लोग हैं—जमींदार एवं भूस्वामी वर्ग के लोग। इनके आपसी अन्तर्विरोध, छोटे-छोटे झगड़ों, रीति-रिवाजों, विघटन और विकृति को चित्रित करने में ही लेखक ने अपना ध्यान केन्द्रित किया है।

'आधा गाँव' की कहानी देश में जितनी सीमित है, काल में उतनी ही फैली हुई है। आजादी की पूर्व बेला से लेकर उसमें कुछ समय बाद तक के काल-प्रवाह से गुजरते हुए यह उस मुस्लिम समाज की कहानी है, जो आन्तरिक और वाह्य दबावों से टूट रहा है। समय के इतने व्यापक फैलाव को लेखक ने इसलिए लिया है ताकि वह दिखला सके कि ''क्या था, क्या है और क्या होने वाला है।''[3] और इसलिए

---

1. आधा गाँव, पृष्ठ 13
2. वही, पृष्ठ 14
3. वही, पृष्ठ 42

'आधा गाँव' एक गाँव विशेष की कहानी होते हुए सिर्फ गाँव की कहानी नहीं है। राही ने अपने उपन्यास के विषय में लिखा है, 'यह कहानी न कुछ लोगों की है न कुछ परिवारों की। यह उस गाँव की भी कहानी नहीं है, जिसमें इस कहानी के बुरे-भले पात्र अपने आप को पूर्ण बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह कहानी न धार्मिक है न राजनीतिक क्योंकि समय न धार्मिक होता है, न राजनीतिक और यह कहानी समय ही की। यह गंगौली में गुजरने वाले समय की कहानी है।' गंगौली में गुजरने वाला समय बहुत कुछ वही है जो 'करौता', 'बेलारी', 'मेरीगंज', 'परानपुर' में गुजर रहा था और यह समय बड़ा निर्मम होता है ''कई बूढ़े मर गये, कई जवान बूढ़े हो गये, कई बच्चे जवान हो गये और कई बच्चे पैदा हो गये, यह उम्रों के इस हेर-फेर में फंसे हुए सपनों और उनके हौसलों की कहानी है।'' और इस कहानी में राही मासूम रजा पूरे परिवार के साथ स्वयं भी उपस्थित है और 'गंगौली' की कहानी को अपने ही घर-परिवार की कहानी के रूप में ढाल दिया है : ''मैं जिस गाँव और जिन लोगों की बातें कर रहा हूँ, वह मेरा गाँव है और मेरे अपने लोग हैं और मैं उनसे प्यार करता हूँ।------मैंने पूरे गाँव को नहीं चुना, बल्कि गाँव के उस टुकड़े को चुना, जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। कथाकार के लिए यह जरूरी है कि वह उन लोगों को अच्छी तरह जानता हो, जिनकी वह कहानी सुना रहा है।''

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव की इस सन्दर्भ में मान्यता यह गलत नहीं है कि 'एक अच्छी बात है कि 'आंचलिक' उपन्यासों की कोई रूढ़ि इस उपन्यास में नहीं है, क्योंकि यहाँ अंचल सिर्फ खिड़की है, जिसे मानवीय इतिहास और वास्तविकता के बदलते हुए चेहरे देखे जा सकते हैं। इस दृष्टि से उपन्यास को 'आंचलिक' खाते में रख देने से इसकी ऐतिहासिक महत्ता के कम हो जाने की आशंका है। बड़ी बात यह है कि यह उपन्यास एक ऐतिहासिक मोह भंग की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। कभी वे अपने 'जातीय आभिजात्य' में बन्द थे—चरित्र और आचरण की छोटी-बड़ी सैकड़ों कमजोरियों के बावजूद—क्योंकि उन्होंने समय का संकट नहीं देखा था—देखने के लिए उन्होंने रेल नहीं देखी थी और मोटर उनके लिए अंग्रेजी लोहे के मानिन्द थी—फिर जंग छिड़ गयी और महंगाई ने उन्हें पूरी तरह तोड़ दिया। टाट का दुपट्टा ओढ़ने वाली लड़कियों के कन्धे दुखने लगे, कफन के लिए परमिट और परमिट के लिए रिश्वत की जरूरत होने लगी।'[1] हिन्दुस्तान की आजादी का सपना पूरा होते न होते 'सभ्य' कहे जाने वाले

1. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 116

सफेदपोश लोगों ने गंगौली जैसे निश्छल परिवेश में भी विषाक्त साम्प्रदायिकता की विकृति फैला दी। 'आधा गाँव' के एक सशक्त पात्र फुन्नन मियां पाकिस्तान की परिकल्पना का मजाक उड़ाते हैं—

['आदाब चाचा!' अनवारुल हसन राकी का लड़का फारूक आ गया।

'काहे भैया, तोरे पाकिस्तान का क्या हाल है?'

'वह तो बन रहा है।'

'काहे न बनिहे, तू कहि रहयो तो जरूर बनिये। बाकी ई गंगौली पाकिस्तान में जई हे कि हिन्दुस्तान में रइहे?'

'ई तो हिन्दुस्तान में रहेगी। पाकिस्तान में सूबा सरहद, पंजाब, सिन्ध और बंगाल होगा। और कोशिश कर रहे हम लोग कि मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान में ही जाए।'[1]]

राही बार-बार यह प्रश्न उठाते हैं कि जब अन्ध भक्ति किसी समाज में उत्पन्न कर दी जाती है तो सत्य-असत्य, कल्पना-यथार्थ के बीच की दीवार टूट जाती हैं। एक अन्य स्थल पर राही की उपरोक्त दृष्टि और तीखी हो उठती है। फुन्नन मियां सद्दन से जो कुछ दिन पहले पाकिस्तान चला गया है, कई तीखे सवाल करते हैं—

[''अरे तोरे पाकिस्तान का क्या हाल है----''

''वहाँ तो लोग रोजा-नमाज में ही वक्त गुजारते हुईहें।''

''क्यों?''

''अरे भाई इस्लामी हुकूमत है। क्यों का क्या सवाल।''

''तो इस्लामी हुकूमत का मतलब आपने ये समझा कि रोजा-नमाज होता होगा?'' सद्दन ने उत्तर दिया।

''का इस्लामी का मतलब बदल दिए लोग?'' फुन्नन मियां ने सवाल दागा।

---

1 आधा गाँव—राही मासूम रजा

''इस्लाम का मतलब है दादा कि मुसलमानों को नौकरी मिले।''

''अच्छा ई हमें न मालूम रहा कि रसूल अल्लाह, मार ऐसी पर उधम जोते रहे कि मुसलमानों को नौकरी मिले। आज तू हमरी बड़ी परेशानी दूर कर दियो। मौलवी बेदार बहुत नाक में दम किये रहत हैं। हकीम साहब को ई बात समझाओं बेटा।''[1]]

'आधा गाँव' में राही मासूम रजा ने गंगौली के मुसलमान जमींदारों के मानसिक द्वन्द्व का अंकन बहुत प्रामाणिक रूप में किया है। क्रमशः बढ़ती हुई बदहाली में भी एक ओर उनके जीवन का ठस्सा और शान उन्हें चीजों से समझौता करने से रोक रही थी, दूसरी ओर परिवर्तित स्थितियों में गाँव में रह पाना उनके लिए कठिन हो रहा था। अपने उपन्यास पर संस्मरणात्मक टिप्पणी लिखते हुए राही ने लिखा है, ''परन्तु यह उपन्यास लिखने के बाद मैंने जो सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात जानी वह यह है कि यहाँ का मुसलमान पाकिस्तान नहीं गया और यदि गया भी तो हिन्दुओं से डर के नहीं गया। वह कराची गया। वह लाहौर गया। वह ढाका गया------पाकिस्तान नहीं गया। हमें शहर और देश में फर्क करना चाहिए। गंगौली में तो हिन्दु-मुस्लिम दंगे नहीं हुए थे। पर जमींदारी गंगौली में भी खत्म हुई। जमींदारी के साथ समाज का पूरा ढांचा टूट गया। गंगौली का जमींदार गाजीपुर में पान की दुकान नहीं खोल सकता था। पर कराची में उसे कौन जानता है। इसीलिए जब उससे गंगौली छूटी तो वह गंगौली से इतनी दूर चला गया जहाँ कोई काम करके जीने में उसे शर्म न आये। जमींदार गया तो उसके साथ जीने वाले भी गए कि उन्हें ठीक से जीना नहीं आता था। इन पाकिस्तान जाने वालों को मुसलमान कहना ठीक नहीं है-----'' गाँव के मियां लोगों के लिए पाकिस्तान का बनना-न-बनना उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना कि जमींदारी टूटना। कारण यह था कि ''हम्माद मियां के अलावा किसी जमींदार के पास एक धुर जमीन नहीं थी। ये लोग देखते-देखते पल भर में नूरुद्दीन शहीद के मकबरे की भाँति गिर गये।-------वे घरों से निकले और जब घर ही छूट गया तो गाजीपुर और कराची में क्या फर्क है-----।'[2] इस उपन्यास में राही ने एक बड़ी बात यह कही है कि जमीन से जुड़ा हुआ मुस्लिम पाकिस्तान नहीं गया। मिगदाद साफ कहता है : ''अम न जाए वाले हैं कहीं। जायें ऊ लोग जिन्हें हल बैल से शरम आती है। हम त किसान हैं तन्नू भई।

1. अधा गाँव पृष्ठ 334
2. आधा गाँव पृष्ठ 309

जहाँ हमारा खेत, तहां हम।''[1] इसलिए जमींदारी प्रथा पर जिदा रहने वाले मौलवी बेदार जैसे लोग अपने गाँव से इतनी दूर चले गये जहाँ कोई भी काम करके जीने में शर्म महसूस न हो। मौलवी बेदार के सन्दर्भ में फुन्नन मियां सही फर्माते हैं, ''तू इ मत सोचिहो कि ऊ पाकिस्तान एह मारे गये हैं कि देहली के इमाम बाड़े पर सिख लोग कब्जा कर लिहिन है, एह मारे गये हैं कि गंगौली में रहे का कौनो सहारा न रह गवा रहा। क उन बूते रहते। आस-औलाद रही ना, हल चलावे आता न रहा और फुस्सु मियां की तरह जूते की दुकान खोले की हिम्मत ना रही। तो कह दीहिन कि हम ई मुलक में ना रहेंगे जिसमें इमामबाड़े पर सिख लोग कब्जा कर लिहिन हैं। अब्बू मियां का भी यही हशर होने वाला है। गंगौली में थोड़े ही दिनों के मेहमान हैं। बाकी तू लूली लगड़ी खेती कर रहयौ। तू तो जमीन छोड़ के पाकिस्तान ना जा सकत्यौ और अब गाँव में रहे के वास्ते ई जरूरी है कि आदमी के पीछे सौ-पचास लाठी रहे-----समझियो फुन्नन मियां भी पाकिस्तान चले गये होते, बाकी ऊ एह मारे न गये कि हियां कौन उनकी झांट टेढ़ी कर ली है। हम एक ठो फुन्नन मियां ना हैं, तम सौ दो सौ लाठी हैं।''[2] कहना न होगा कि यह उपन्यास, झूठा सच, तमस की कड़ी में नई संवेदना जोड़ता है, जो गंगौली के माध्यम से समाज के व्यापक एवं ज्वलंत सत्य को समेटता है। विभाजन उपन्यास का केन्द्रीय बिन्दु नहीं है, किन्तु राही ने दिखलाया है कि विभाजन को लेकर जो आजादी आई, वह हिन्दुस्तान की मुस्लिम आबादी के लिए कितना बड़ा हादसा थी, दिलो की तनहाई से लेकर बिस्तर की तनहाई तक। समय के परिवर्तन से निस्तृत पीड़ा के कारण ही लेखक उपन्यास की भूमिका 361वें पृष्ठ पर लिखता है, ''और इस वक्त इस आधे गाँव की कहानी बड़े नाजुक मोड़ पर है। मैं जानता था कि इस कहानी में यह मोड़ आयेगा, इसीलिए मैंने पूरे गाँव को नहीं चुना, बल्कि केवल गाँव के उस टुकड़े को चुना, जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ।.... बात यह है कि अब हमारी कहानी एक ऐसी जगह है जहाँ एक युग समाप्त हो रहा है और दूसरा आरम्भ। तो क्या हर युग एक भूमिका की माँग नहीं करता।''[3] यही मोड़ संकेत है कि आजादी मिलने के साथ ही कितना कुछ यहाँ एक साथ घटित हो रहा था—देश का विभाजन जमींदारी उन्मूलन, सामन्तवाद की समाप्ति। इस प्रकार 'आधा गाँव' की कथा वस्तु की बुनावट मुख्यत: तीन समस्या तत्त्वों से हुई है—पाकिस्तान के निर्माण से उत्पन्न गंगौली के मियां

1. आधा गाँव, पृष्ठ 226
2. आधा गाँव—राही मासूम रजा, पृष्ठ 352
3. आधा गाँव—राही मासूम रजा

लोग का बाहरी और भीतरी बिखराव, जमींदारी प्रथा की समाप्ति से उत्पन्न उनका टूटता हुआ आर्थिक आधार और मुस्लिम जिन्दगी की परम्परागत यौन सम्बन्धी अनैतिकता। इन सबके बीच मुहर्रम मर्सिया मातम एक जिन्दा वजूद की तरह उपस्थित है, एक मद्धिक शोक संगीत की तरह गंगौली के लिए मोहर्रम एक पर्व नहीं है, बल्कि उसकी जीवन दायिनी शक्ति भी है। 'पस्ती के बावजूद अपने आपको ढाड़स बंधाने के लिए और सच बोलने के लिए सिर से कफन बाँधने के प्रतीक के रूप में उसकी एक विशिष्ट भूमिका है।'[1] ''आज शब्बीर पै क्या आलमें तनहाई है।'' हुसैन आमिया के पहला मिसरा पढ़ते ही ''मजलिस उलट गयी'--------''तमाम लोग रो रहे थे क्योंकि इन तमाम लोगों के गले में पाकिस्तान की कटी हुई नाल फाँसी की तरह पड़ी हुई थी और तमाम लोगों के दिल घुटे जा रहे थे।''' तात्पर्य यह है कि '''हर कैफियत अकेली थी। हर जज्बा तनहा था----दिलों में गहरा खौफ और गहरा शक परवरिश पा रहा था।'' पहले तो यह बात मजाक लगी कि जमींदारी खत्म होने जा रही है पर जब सचमुच खत्म हुई तो इनकी 'शख्सियतों की बुनियादें हिल गयीं। ताजिये के गिलाफ पुराने होकर बिसकने लगे। मन्नती ताजियों का कद कम होने लगा। दरवाजे वीरान दिखाई देने लगे। हर घर में शादी के लायक लड़कियाँ थी पर लड़कों का अकाल था। लड़कियों के पास सपने देखने का सिलसिला नहीं रहा और लुतरी बीवियाँ खामोश हो गयीं—क्योंकि 'जब लड़के ही न हों तो कोई लड़कियों को किसके साथ बदनाम करे।' सैयदों का टूटा हुआ दर्प स्वीकार कर रहा था कि 'हड्डी-उड्डी जमींदारी का चोंचला रहा।' दो सैय्यद जादे हरामी कम्मों की नौकरी बजा रहे थे और फुस्सू मियां ने इमामबाड़े के कमरे में जूते की दुकान खोल ली थी। घर खाली होते जा रहे थे और हर जनाना कमरबन्द में सिर्फ कुँजियों का भारी गुच्छा बँधा था। वास्तविकता का यह चरम बिन्दु है पर ऐसे किसी भी बिन्दु पर जिंदगी खत्म नहीं हो जाती—हर ट्रैजिक मोड़ से वह नये अर्थ में शुरू होती है। आधा गाँव का अन्तिम चित्र यह है—''बाहर सुबह बहुत खूबसूरत थी। सहन में एक मुर्गा एक मुर्गी का पीछा कर रहा था और एक कौवा खपरैल की कलस पर बैठा न मालूम किसे आवाज दे रहा था। गौरियों का एक गोल फुस्सु मियां के कन्धे के ऊपर से उड़ता हुआ गुजर गया। गढ़ई के किनारे दो-तीन नंग-धड़ंग बच्चे एक दूसरे पर पानी उछाल रहे थे। और एक तरफ एक

---

1. हिन्दी उपन्यास का विकास—मधुरेश, पृष्ठ 147

जवान लड़की साड़ी को घुटनों तक उठाये बैठी बरतन माँज रही थी। टेढ़ी-मेढ़ी कंकर की सफेद सड़क पर एक जीप धूल उड़ाती चली आ रही थी। सामने तालाब के पास ईंटों के भट्टे की चिमनी से गाढ़ा धुआँ निकल रहा था। एक छोटा सा बच्चा बगल में बस्ता लटकाये हुए तेजी से भागता हुआ गुजर गया।''[1] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में कहें तो 'एक नये सम्भावित जीवन के इस आरम्भ बिन्दु को, जिसके पीछे कितने ही बेडौल चित्र या सवाल हैं, तीखी करुण यादें हैं, धुँधली परछाइयाँ हैं, 'सिनेमाई प्रतीकवाद' या 'निष्कर्षवाद' कहना अन्यायपूर्ण होगा।' यह चित्र न भी होता तो भी 'आधा गाँव' की कहानी पूरी हो गयी थी और शायद अधिक गहरे सार्थक प्रभाव के साथ।

'मैला आँचल' की तरह यहाँ भी परम्परागत नैतिकता का शिविर उखड़ता प्रतीत होता है। 'मर्द ताक झांक करते हैं और रखनियां रखते हैं।' यह तो आम बात है परन्तु जिस स्तर पर सैय्यद जादे नाइनों-चमाइनों की ओर लपकते हैं वह कुछ सोचने को विवश करता है। पूरे गाँव में नीच कौम की औरतें ऊँचे कौम वालों और धनी मानी लोगों की खाज बनी हुई है। मियाँ लोगों की यौन नैतिकता का हालत यह है कि 'ऐरी-गैरी औरत घर में डाल देना बुरा नहीं समझा जाता था। शायद ही मियां का ऐसा कोई खानदान हो जिसमें कलमी लड़के-लड़कियां न हों। जिनके घर खाने को भी नहीं होता, वे भी किसी-न-किसी तरह कलमी आमों और कलमी परिवारों को शौक पूरा कर ही लेते।'[2] 'मैला आँचल' की कई-कई रामप्यारियां यहां हैं। 'सईदा कई लोगों से लगाई गयी और दो एक पेट गिरे' सर्वत्र शरीर सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध के सवाल आर्थिक है। टूटती जिन्दगी और वीभत्स मांसल भूख से जुड़े आर्थिक प्रश्नों पर राही की दृष्टि सनसनी खेज मुद्रा में है, जो जमींदारी व्यवस्था की विकृति के रूप में उपस्थित है। ऐसा लगता है कि राजनीति से जुड़े प्रश्नों से टकराता कथाकार अनेक ऐसे प्रश्नों को नजर अन्दाज कर गया है, जो 'आधा गाँव' की संवेदना में बिना-फैसले के अधूरे दीखते हैं। मेहरूनिया नाइन और सुलेमान, सितारा और अब्बास, गुलाबी-जान और हर नारायण, बदरून और समीउद्दीन, बछनिया और बेदार नैतिकता की घोर गिरावट वाले एक से एक गंभीर केस हैं। अपना सारा का सारा चारित्रिक खोखलापन लिए आदमी एकदम नंगा हो गया है। इस माहौल में भी उपन्यास में मानवीय एवं स्वस्थ प्रेम के कुछ चित्र दीख जाते

1. आधा गाँव, पृष्ठ 314
2. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ परमानन्द श्रीवास्तव

हैं—सुलेमान-झुंगटिया, सफिखा-बछनिया, मिगदाद-सैफुनिया, फुन्नन-कुलसुम—जो अपनी उष्मा से सामंती समाज की किसी-न-किसी विडम्बना अथवा पाखंड को उद्घाटित करते हैं।

अन्य उपन्यासों की कथा-वस्तु में जहाँ एकसूत्रता, ससंबद्धता, एकोन्मुखता और कसावट होती है, वहाँ अन्य आंचलिक उपन्यासों की भांति 'आधा गाँव' कथावस्तु में बिखराव और फैलाव है। 'आधा गाँव' में कोई भी ऐसी कथा नहीं है, जिसे उपेक्षा या अधिक प्रामुख्य मिला हो। वस्तुतः इस उपन्यास में कथा-जैसी कोई चीज है ही नहीं। गंगौली गाँव के आधे हिस्से में बसे भूतपूर्व जमींदार शिया मुसलमानों के चंद परिवार हैं और उपन्यास का पूरा कथावृत्त इन्हीं चन्द परिवारों के आंगन से शुरु होकर इमामबाड़े तक पहुँचकर पूरा हो जाता है। कई-कई चेहरे उभरते हैं, साथ-साथ उनके वैभव-विलासपूर्ण अतीत पूरा हो जाता है। कई-कई चेहरे उभरते हैं, साथ-साथ उनके वैभव-विलासपूर्ण अतीत और निराशा-घुटन-भरे वर्तमान की व्यथा-कथा भी—लट्ठबाज फुन्नन मियां, रईस अब्बू मियां, जमींदार हम्माद मियां, परसराम चमार एम० एल० ए०, सैय्यद अली कबीर तथा ठाकुर जयपाल सिंह आदि की जीवन-गाथाएं गंगौली गाँव के गुजरने वाले समय-प्रवाह में बुलबुले की तरह उभरकर फूट जाने वाली हैं। वस्तुतः इस उपन्यास की कहानी ' गंगौली गांव में गुजरने वाले समय की कहानी है और समय एक अनन्त प्रवाह होते हुए भी क्षणों, घंटो, दिनों और महीनों में बंटा होता है। अतः इन समय खण्डों की अलग-अलग कहानियाँ भी इस अनंत-प्रवाह में ही खो गयी हैं। पाठक पात्रों के विशाल मेले में भटककर न केवल उनके अलग-अलग चेहरे पहचानने में गलती कर बैठता है, बल्कि उन चेहरों के पीछे छिपी उनकी अलग-अलग व्यथा-कथाओं में में कोई पारस्परिक संबंध सूत्र जोड़ने में भी अपने को असमर्थ पाता है। आधे गाँव की आबादी भीड़ लगाये खड़ी है और लेखक की नजर जिस चेहरे पर पड़ती है, उसी की कहानी वह सुनाने लगता है। संपूर्ण गाँव की समन्वित कथा के रूप में इन अलग-अलग चेहरों की कहानियों का मूल्य है, परन्तु आपस में कहानियाँ पूर्णतः संबद्ध नहीं है।

देश-काल वातावरण शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास अन्य आंचलिक उपन्यासों से विशिष्टता लिये हुए है। राही का उद्देश्य ' गगौली में गुजरने वाले समय' की कहानी कहना है, इसीलिए वह गंगौली के भौगोलिक और प्राकृतिक वातावरण की ओर ध्यान न देकर समय के प्रभाव में बनते-बिगड़ते सामाजिक

सन्दर्भों की ओर अधिक ध्यान देते हैं, फलतः सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण यहाँ अधिक गहरा है। संपूर्ण हिन्दी उपन्यास जगत में सम्भवतः यह प्रथम उपन्यास है जिसमें मुस्लिम समाज तथा संस्कृति की तमाम भीतरी-बाहरी परतें, सारी अच्छाइयां और बुराइयां, खूबियां और खामियां तथा कृतियां और विकृतियां अपने यथार्थ रूप में विविध रंग-रेखाओं में चित्रित हुई हैं। गंगौली के जिन शिया मुसलमानों के सामाजिक जीवन को उपन्यास का प्रतिपाद्य बनाया गया है, वह भूतपूर्व जमींदारों का समाज है; सम्पन्न, खाते-पीते सामंती संस्कार वाले मुस्लिमों का समाज है। आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रहने के कारण पूरे साल भर ये लोग या तो मुहर्रम की तैयारियां करने में बिताते थे या फिर बैठकबाजी करने, मजलिसें लगाने और इश्क-मुहब्बत करने में। औरते पान-सुपारी-जर्दा लेकर गप्पे हांकती, बच्चे पालती और घर से बाहर निकलने के लिए डोलियां मगवातीं। पुरुष अपने दालानों और बैठकों में बैठकर टोले-मुहल्ले की जुलाहिनो, हजामिनों तथा घर की नौकरानियों से ऑखें लड़ाते तथा अपनी वासना की तृप्ति करते। लेकिन जमींदारी खत्म होते ही उनकी यह दुनिया उजड़ गयी। लेखक ने बड़ी साफगोई, निस्संगता से वहाँ की सामाजिक विकृतियों का सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है।

अनुभव की प्रामाणिकता के साथ एक प्रकार का भाषा-विवेक भी इसके लिए जरूरी होता है। 'यों ही नहीं है कि गंगौली जैसे आंचलिक परिवेश के आत्मीय स्वजनों की कहानी लिखने के लिए राही मासूम रजा ने एक जीवित स्थानीय रग वाली भाषा का सहारा लिया है और इसमें शक नहीं कि उन्होंने चीजों को सही नामों से पुकारने की कोशिश की है।'[1] राही के पास जीवित प्रवाहमान भाषा है, जो यान्त्रिक न होकर मानवीय भाषा है, बोली के जीवन्त मुहावरों और विशेषणों से अर्थसम्पन्न। बोली का यह रंग भी खड़ी बोली के सख्त और बेचलक शब्दों को पिघलाकर बनाया गया अधिक आत्मीय रंग है। कहीं-कहीं यह भाषा उपन्यासकार से अधिक नैरेटर की भाषा लगती है, क्योंकि इसमें खुलापन भी है और चमत्कार भी। उनकी भाषा स्थानीय रंगों से रंगी होने के कारण अत्यन्त सजीव है। कहीं तो राही की भाषा शुद्ध बिम्बधर्मी या चित्रमय है—'वह तो अपनी साँसों की झाड़ियों में उलझ-उलझकर गिरी-गिरी पड़ रही थी।' 'सितारा का सारा बदन सितार की तरह झनझना गया'—तो कहीं बेहद अनगढ़ और फूहड़। यह भी

1 उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 115।

गंगौली के आंचलिक परिवेश का विरोधाभास ही है, जो आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक दबाव से ग्रस्त जीवन पर हावी है। गालियों के प्रयोग में असंयमितता की बात उठाई गई, किन्तु इसमें असंयमितता नहीं, सहजता दृष्टिगोचर हो रही है। यह प्रयोग एक नियम से हुआ है, क्योंकि समस्त गालियाँ उपन्यास के उत्तरार्ध में हैं। इनके वक्ता भी कुछ खास तरह के खास लोग—मिगदाद, हाजी जी, फुन्नन मियाँ, हकीम जी, हरिजन एम० एल० ए० परशुराम—हैं, जो जिन्दगी से ऊबे, पीड़ित, निराश और शहर जाने से बचे हुए लोग हैं। जमींदारी के रहते इन लोगों ने जो शानदार जिन्दगी बिताई उसके टूटते ही वह टूट गये। 'इन शरीर और मन से निचुड़े लोगों के सामने अब जिन्दगी का कोई सपना नहीं रह गया है। ये मानो व्याधिग्रस्त लोग जिनकी जिन्दगी के अन्तर-वाह्य संघर्ष बौखलाहट में प्रतीकात्मक रूप से गालियों में प्रकाशित होने लगते हैं। हारे-टूटे लोगों का ऐसा बीहड़ जुलूस जब गालियों को बकता सामने आता है तो वह टेननीक की उच्छृंखलता से अधिक गाँव की टूटन के मनोवैज्ञानिक विस्फोट के रूप में अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।'[1] इस भाषा और इसके परिवेश में इस प्रकार का आत्मीय संगीत है, जो कहानी के पूरे विन्यास में घुलता चला जा रहा है और वही उपन्यास को एक आंचलिक व्यक्तित्त्व की एकता भी देता है।

---

1 हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 97-98

झूठा सच

'झूठा सच' न केवल स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा वरन् उपन्यास विधा को एक नई पहचान देता है। 'इसलिए नहीं कि उपन्यास विभाजन की त्रासदी की महागाथा प्रस्तुत करता है वरन् इसलिए कि यह रचना 20वीं शताब्दी के चौथे-पांचवें दशक के हिन्दुस्तानी जीवन की लय, उसकी मार्मिक और प्रामाणिक छवि प्रस्तुत करता है जो अपने खांटीपन में अन्यत्र बहुत कम उपलब्ध होती है।'[1] नेमिचन्द्र जैन का कथन है कि यह उपन्यास कुल मिलाकर इसलिए 'अखबार की कतरनों का बड़ा विशाल संग्रह' बनकर रह गया है कि इसमें घटनाओं के वाह्य रूपों का चित्रण है, दृष्टि परिवेश पर अधिक टिकती है और परिवेश में जीने वाले व्यक्ति की अन्तरात्मा पर कम, राजनीतिक विचारधाराओं और मान्यताओं के गहरे चटकीले रंग कभी-कभी समूचे फलक की रंग-संगति के विपरीत बैठते हैं। संत्रस्त मानवों की आत्मा के आंतरिक द्वन्द्व उनके आत्म-मंथन तथा उनकी मौलिक आध्यात्मिक पीड़ा का अभाव है। श्री जैन इन कतरनों को चुनने और सजाने में लेखक की सावधानी तथा कुशलता को स्वीकार भी करते हैं। अपने मत का खण्डन करते हुए वे यह भी कह देते हैं कि उपन्यासकार में राजनीतिक आन्दोलनों को सामाजिक यथार्थ के अन्य पक्षों के साथ समेटने की क्षमता इसकी उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त, वे झूठा सच में केवल विस्तार को आांकते और गहनता के लिए तरसते हैं। और यह विस्तार भी विश्रृंखल है। इस प्रकार आलोचक के यहाँ दो कसौटियाँ दिखाई देती हैं। डॉ० प्रकाश चन्द गुप्त भी इसमें पट की विशलता देखते हैं, तो दूसरी ओर उनकी धारणा है कि इसमें कथाकार जीवन की अतल गहराइयों में उत्तर सका है। सुधी आलोचक इसमें भारतीय जीवन के व्यापक प्रसार ओर संश्लिष्ट सूक्ष्मता दोनों की झांकी पा लेते हैं। डॉ० महेश्वर की दृष्टि में 'बुद्धिजीवी वर्ग पर केन्द्रित होने के कारण झूठा सच में भी प्रेम और सेक्स के वर्णनों को केन्द्रीय महत्त्व दिया गया है। 'झूठा सच' के प्रमुख पात्रों की केन्द्रीय समस्या उनका यौन जीवन है,

---

1. 'वर्तमान साहित्य' का कथा साहित्य विशेषांक, अप्रैल 2000 में हरि मोहन शर्मा का लेख

जिसे विभाजन की विभीषिका और जटिल बना देती है।------भारतीय बद्धिजीवी वर्ग की भूमिका को ही यह उपन्यास एक विशिष्ट राजनीतिक दुर्घटना के परिप्रेक्ष्य में देखता—परखता है और देश के भविष्य के बारे में लेखक के अपने विचार व्यक्त हुए हैं, जो गलत नहीं, परन्तु बेहद उलझे हुए और स्थूल हैं।'[1] डॉ० रमेश कुन्तल मेघ 'झूठा सच' को एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार तो करते हैं, परन्तु इनकी यशपाल से शिकायत यह है कि 'उन्होंने इसमें किसी साफ इतिहास दर्शन को निरुपित नहीं किया है और उनका मार्क्सवाद धूमिल पड़ गया है; उसका खुमार उतर गया है।'[2] यहाँ कहना होगा कि 'यशपाल ने मार्क्सवादी चिन्तन के प्रभाव को तो स्वीकार किया है; परन्तु इसे चरम सत्य के रूप में स्वीकार करने से इन्कार किया है।'[3] कुँवर नारायण के शब्द हैं, "यशपाल के मार्क्सवादी पूर्वाग्रहों के कारण उनकी कृतियों के प्रति शायद मन में ऐसी धारणा बन गई थी जैसी अधिकांश मार्क्सवादी कृतियों के प्रति बनी हुई थी—कि वे भी सतही और प्रचारात्मक अधिक होगी, गंभीर कम।-------झूठा सच की पहली विशेषता ऐसे पूर्वाग्रहों का स्पष्ट खंडन ही मानी जा सकती है। न तो यह उपन्यास सतही है, न मार्क्सवादी दृष्टिकोण का औपन्यासिक प्रचार मात्र। उपन्यास निस्संदेह मानव जीवन के उन गण्य दस्तावेजों में है जिनका मूल्यांकन प्रमुखत: एक कलाकृति के रूप में होना चाहिए।'[4] 'काल के जितने वृहत्तर सन्दर्भों—आयामों के भीतर मानव इतिहास को देखने की चेष्टा इस उपन्यास में की गयी है, वह अपने ढंग का एक अकेला उदाहरण है।'[5] 'इस उपन्यास का राजनैतिक महत्त्व यह है कि वह जनता को देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का वास्तविक घृणित रूप दिखलाता है, उनसे जनता को सावधान रहना सिखलाता है।'[6] नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में, "विभाजन—सर्वग्राही घटनाओं को उन्होंने उसकी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैयक्तिक समग्रता में, साथ ही उसकी गतिमानता में, देखने का प्रयास किया है। इस राजनीतिक घटना की जड़ों को देखने-समझने के लिए लेखक ने पहले खण्ड में साम्प्रदायिकता के विष के बढ़ने की विभिन्न

---

1. क्रांतिकारी यशपाल—स० मधुरेश, पृष्ठ 132
2. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख—सं० इन्द्र नाथ मदान, पृष्ठ 213
3. वहीं, पृष्ठ 213
4. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख—स० इन्द्र नाथ मदान, में कुँवर नारायण का लेख
5. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 59
6. कथा विवेचना और गद्यशिल्प—डॉ० राम विलास शर्मा, पृष्ठ 75

अवस्थाओं का, उसके विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक और वैयक्तिक स्तरों का, उसके बारे में विभिन्न प्रतिक्रियाओं तथा उसके विभिन्न स्थूल-सूक्ष्म रूपों और स्थितियों का प्रस्तुतीकरण किया है। उसने न तो साम्प्रदायिकता के आर्थिक-राजनीतिक पक्ष से बचने की कोशिश की है, न धार्मिक पक्ष से। इस भाँति विभाजन की पृष्ठभूमि को, विशेषकर उसके सामाजिक पक्ष को, वह बड़ी विशदता से उपन्यास में प्रस्तुत कर सका है।[1] परन्तु इस उपन्यास की एक सीमा है, मुस्लिम समाज और उसके अन्तर्विरोधों के चित्रण की कमी। हिन्दू और मुस्लिम सांस्कृतिक इकाइयों के बीच के जिन साम्प्रदायिक अन्तर्विरोधों का इस्तेमाल करके साम्राज्यवाद अपना उल्लू सीधा करने और उन्हें लड़ाने में सफल हुआ, इसका चित्रण किये बिना भारत विभाजन की कोई सही कहानी नहीं लिखी जा सकती।[2] डॉ० महेश्वर के शब्द हैं, ''विभाजन के बाद देश के जो टुकड़े किये गए और कई सदियों से एक साथ घुल-मिलकर रहते हिन्दू और मुस्लिम जनसमुदायों को अवांछित दायरों में कैद किया गया उसकी तड़पन इस उपन्यास में नहीं दीखती, जैसा कि मंटों की कहानियों और भीष्म साहनी तथा मोहन राकेश की कुछ रचनाओं में मिलती है। सारे पात्र जैसे लगता है कि इस दुर्भाग्य को आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। इस स्वीकार के बावजूद जबर्दस्ती लादे गये विभाजन के उत्पीड़न की यंत्रणा मूक ही रहती है, केवल एक बहुत बड़े विध्वंस और अत्याचार का 'ग्राफिक' ही आँखों के सामने उभरता है और विलुप्त हो जाता है, किसी दुर्घटना की तरह। विभाजन और टूटन को बाद में भी झेलते हुए पात्र जैसे स्थानान्तरण और पलायन को एक सुरक्षा की तरह स्वीकार कर लेते है।''[3] पुरी और तारा के रूप में, जो भाई-बहन हैं, यशपाल राजनीतिक अवसरवाद और आचरण की निष्ठा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। राजनीतिक अवसरवाद के शिकार के रूप में पुरी का नैतिक और वैचारिक स्खलन अपने समय के यथार्थ को बेहतर ढंग से अभिव्यक्त करता है। सामाजिक परिवर्तन के लिए वैचारिक निष्ठा को यशपाल किसी एक पात्र में केन्द्रित न करके समान विचारों की दिशा में सोचने और काम करने वाले युवाओं, स्त्री और पुरुष दोनों को समवेत रूप में प्रस्तुत करते हैं।

---

1. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख—सं० इन्द्र नाथ मदान, पृष्ठ 213
2. वहीं, पृष्ठ 213
3. वही, पृष्ठ 213

'झूठा सच' उपन्यास दो भागों में लिखा गया विस्तृत कथा फलक का उपन्यास है। भौगोलिक दृष्टि से उसका प्रसार लाहौर की भोला पांधे की गली से दिल्ली और लखनऊ तक है। कालक्रम की दृष्टि से कथा का आरम्भ स्वाधीनता प्राप्ति के पहले से होता है और उसका अन्त स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उत्पन्न स्थितियों के साक्षात्कार से होता है। पात्रों की दृष्टि से इसमें विभिन्न जातियों वर्गों, राजनीतिक पार्टियों और अवस्था के नर-नारियों का चित्रण है। इस उपन्यास की कथा मुख्य रूप से जयदेव पुरी, तारा और कनक के बीच या फिर इन्हीं पात्रों के पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के बीच सक्रिय है। जयदेव पुरी इसका केन्द्रीय चरित्र है। उसे बनाने बिगाड़ने वाली घटनाओं को कहीं भी कोई आग्रह युक्त परिणति देने की चेष्टा नहीं की गयी है। वह जैसा भी है आरम्भ में थोड़ी बहुत क्षमताओं सहित और बाद में अपनी असंख्य दुर्बलताओं सहित इस उपन्यास में उपस्थित है।''[1] मधुरेश के शब्द हैं, '' 'झूठा सच' में यशपाल अपने उपन्यासों की परम्परागत संरचना में परिवर्तन करते हैं। यहाँ कम्युनिस्ट नायक उसी रूप में उपस्थित नहीं हैं जैसा कि वह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों में था।

कथा का एकसूत्र है पुरी का कनक से प्रेम, किन्तु उनके विवाह में सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं के कारण बाधाएँ, पंजाब विभाजन की घटनाएँ, कनक की दृढ़ता और पुरी से विवाह-बच्चे, राजनीति-विशारद सूद जी की अनुकम्पा से आर्थिक प्रगति और चारित्रिक पतन तथा अन्त में कनक से संबंध विच्छेद। 'आदर्शवादी पुरी का कथानक के सूक्ष्म ताने-बाने द्वारा धीरे-धीरे नायक पद से गिरना उपन्यास की उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक सफलताओं में से है। नायक के प्रति लेखक कहीं भी परम्परागत औपन्यासिक पक्षपात नहीं दिखाता। तटस्थ भाव से उसे जीवन की कठिन परीक्षाओं से गुजरकर हमारे सामने अंतिम परिणाम रख देता है—बिना कोई राय दिये हुए, बिना कहीं उनकी ओर से शरीक हुए।'[2] कथानक का दूसरा सूत्र जयदेव पुरी की बहन तारा है, उसका मुसलमान राजनैतिक कार्यकर्ता असद के प्रति आकर्षण और निराशा, उसका जबरदस्ती एक अयोग्य वर से विवाह, पंजाब विभाजन एवं उसकी पृष्ठभूमि में शारीरिक-मानसिक यंत्रणा, दिल्ली आगमन एवं कई नौकरियों से होते हुए अन्ततः सरकारी नौकरी और उदार डॉ० प्राणनाथ से पुनर्विवाह। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार, ''तारा के चरित्र की

1. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 59
2. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख—सं० इन्द्र नाथ मदान, में कुँवर नारायण का लेख

परिणति (नेमिचन्द्र जैन से शब्द लेकर कहें तो) एक 'सफलता कथा' में सीमित होकर रह जाये, यह विडम्बनापूर्ण है। तारा के जीवन के प्रसंग सही और प्रामाणिक हैं पर उनकी परिणति युक्तिपरक है। सोद्देश्य कला और मानव नियति की सहज और वास्तविक या मौलिक विडम्बनाओं की रहस्यमयता में प्राय: तालमेल बिठाना कठिन होता है। यह जीवन की समझ या अनुभव से अधिक कलाकार की सर्जनात्मक दृष्टि और कलात्मक संयम की समस्या है।''[1] नेमिचन्द्र जैन की भी धारणा कुछ इसी तरह है, ''जितने दुष्ट लोग हैं उन सबकों अपने किये का फल मिलता है, और भले लोगों पर आई हुई विपता आखिरकार अन्त होता है। केवल इस एक वाक्य की ही कसर है कि 'जेसे इनके दिन फिरे सबके फिरे' अन्त की यह अति नाटकीय सुखदता गहन जीवन दृष्टि के अभाव अथवा उसके अत्यन्त सरलीकरण की जिस प्रवृत्ति की सूचक है, वह लेखक यशपाल के गौरव को बढ़ाती नहीं।''[2]

इन दोनों कथा सूत्रों से अलग कनक की पृष्ठभूमि है, जिसका व्यक्तित्व इस अर्थ में अधिक जटिल माना जा सकता है कि वह एक ऐसे वातावरण में पली है जिसमें पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों का आभिजात्य गोलमाल है। 'लेखक शायद इस चरित्र को उतनी खूबी से नहीं उभार पाया है जितना मध्यमवर्गीय और निम्नमध्यमवर्गीय चरित्रों को। ऐसा लगता है कि व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक जटिलताओं को व्यक्त करने लायक अंतदृष्टि और भाषा यशपाल के पास नहीं।[3] कुछ इन्हीं दृष्टियों से, जहाँ एक ओर उनमें 'कवि दृष्टि का अभाव' देखते हैं, वहीं कुँव्रर नारायण की दृष्टि में 'उपन्यास का सबसे सशक्त अंश है चरित्रों का चित्रण—उनका विषम परिस्थितियों के बीच अदम्य संघर्ष। ऐसा नहीं कि वे परिस्थितियों पर सदा विजयी ही होते हैं, लेकिन वे आसानी से टूटते नहीं। उनमें जीवन के प्रति एक गहरी आसक्ति है जो निराशा के घोरतम क्षणों में भी जीने का बल देती है।'[4] डॉ० माहेश्वर के अनुसार, ''इतने अधिक तथा इतने विवादास्पद चरित्रों की सृष्टि भारी सर्जनात्मक प्रतिभा का काम है और यशपाल की सर्जनात्मक क्षमता राहुल सांकृत्यायन तथा रांगेय राघव से होड़ लेती है।''[5] झूठा सच' के सभी पात्र चाहे वे पुरी, तारा,

1. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 64
2. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 73
3. हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख—सं० इन्द्र नाथ मदान, मे कुँवर नारायण का लेख पृष्ठ 224
4. वही, पृष्ठ 220
5. क्रातिकारी यशपाल—सं० मधुरेश, मे डॉ० माहेश्वर का लेख

कनक, सूद, प्राणनाथ जैसे प्रमुख चरित्र हों, चाहे उर्मिला शीलो, बंती, कंचन, बधवामल की पत्नी बे जी, मास्टर राम भुलाया और रतन जैसे सामान्य पात्र हों सभी अपनी पहचान अलग बनाये हुए हैं। जहाँ तक जयदेव पुरी की स्थिति है, 'यशपाल इस मामले में शुरू से ही सतर्क हैं और पुरी का जैसा चरित्र निर्माण उन्हें अभीष्ट है, उसका संकेत शुरू से ही देते गए हैं और इस मामले में उनसे शिकायत करना उचित नहीं है। पुरी की आदर्श चरित्र के रूप में पेश करना उन्हें अभीप्ट न था। यही मानवीय दुर्बलता उस चरित्र की विशिष्टता है।'[1] दुर्बलताओं और तुच्छताओं से जूझते ये निम्नमध्यवर्गीय पात्र हमारे आस-पास हर कहीं देखे जा सकते हैं। 'परित्यक्ता बंती का चरित्र सहज मानवीय विश्वास की गरिमा और निर्मम स्वार्थपरता की चरम क्षुद्रता के दो दूरस्थ छोरों को एक साथ स्पर्श करता है और अपनी प्रखरता से एक नया भाव लोक उद्घाटित कर जाता है।'[2] इसके चरित्र में एक खरापन है, जेनुइननेस है, जो दिल पर चोट करता है। 'अपनी मूढ़ता में भी वह हमें नंगा कर जाती है। भारतीय बौद्धिकों की जयदेव पुरी इासीलिए खलता है कि वह उन्हें नंगा करता है।'[3]

यशपाल का 'झूठा सच' इतने विशद आकार की सर्वप्रथम कृति है, जो अपने विशाल पृष्ठ संख्या को पूरी सार्थकता प्रदान करती है। कथा शिल्प में वे एक विशिष्ट किस्म की सीधी बुनावट का प्रयोग करते हैं, परन्तु कथा के अनगिनत सूत्र छोड़ते जाने और फिर उपयुक्त अवसर पर उसे समेटते-सहेजते रहने का उनके अन्दर परिष्कृत कौशल है। 'इस प्रकार एकदम कल्पना मिश्रित कथा को भी वे यथार्थ की एक ठोस प्रतीति देने में सफल हो जाते हैं। हिन्दी में 'चन्द्रकान्ता संतति' के अलावा ऐसा चरित्र बहुल फिर भी इतना 'कील-कांटा-दुरुस्त' कथानक और किसी उपन्यास का नहीं है।'[4] 'झूठा सच' के संवादों में नाटकीयता और व्यंग्य है, 'जो पाठक को बहस में हिस्सा लेने को मजबूर करता है और एक बार पाठक जिस बहस का हिस्सा बना जाता है, उसमें उसे ऊब नहीं होती चाहे बहस जितनी लम्बी खिच जाए। ये सार्थक चुटीले और व्यंग्य प्रधान संवाद ही कथा प्रवाह के अपेक्षाकृत शिथिल हो जाने पर भी रचना को

---

1 क्रांतिकारी यशपाल—सं० मधुरेश, में डॉ० माहेश्वर का लेख
2 अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन
3. क्रातिकारी यशपाल—सं० मधुरेश, पृष्ठ 140
4 क्रांतिकारी यशपाल—सं० मधुरेश, में डॉ० माहेश्वर का लेख, पृष्ठ 138

बोझिल और लचर नहीं होने देते।'[1] कथा प्रसंग में रुचि रखने के लिए यशपाल यौन प्रसंगों और प्रणय व्यापार में पात्रों को लिप्त दिखाते हैं। भाषा के सम्बन्ध में नेमिचन्द्र जैन ने इसे 'वर्णनात्मक, रंगहीन, सपाट भाषा'[2] कहा है, जिसमें 'व्यंजनात्मकता बहुत कम है और बिम्बमयता तो नहीं के बराबर है। जो चित्र या बिम्ब हैं भी वे निहायत फूहड, स्थूल और चालू प्रकार के हैं।'[3]

> 'कनक की अवस्था किसी मेले में मालिक से बिछुड़ गये कुत्ते जैसी हो रही थी जो मालिक को ढूँढ़ने के लिए सब ओर सूँघता और भटकता फिरता है।'' (पृष्ठ 167)
>
> ''कद-कण्ठ भी क्या है, जैसे लड़ाई के जमाने में मसाला न मिलने पर बचे-खुचे से ही बना दिसा गया हो (पृष्ठ 291)

यशपाल की भाषा उनका सबसे कमजोर पक्ष है। प्रेमचन्द की तरह इनके पास न तो भाषा की मुहावरे दानी है और न ही अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और न हीं शब्दों, वाक्य खण्डों और अभिव्यक्ति कौशल का कोई अनूठा और नया प्रयोग ही मिलता है। 'मगर, अपने को सीधे, घातक और प्रभावी ढंग में व्यक्त करने वाली एक सहज और प्रायः उजड्ड सी भाषा है, जो सीधा मर्म तक पहुँचती हे। भाषा का यह ओज बनावटी या साधा हुआ नही है, स्वाभाविक और भावना का सहजता है। लेखक के भीतर कुरीतियों, सामाजिक विगर्हणाओं ओर छद्म के खिलाफ व्यक्त करने को इतना तीखा आक्रोश है कि एक शिथिल अनगढ़ भाषा को स्वतः स्फूर्त त्वरा प्रदान कर देता है। भीतर का यह आक्रोश ही कभी व्यंग्य बनता है, कभी विद्रूप, कभी स्वगत कथन, तो कभी संवाद, मगर हर स्थिति में इसका प्रभाव गहरा और स्थायी होता है।'[4]

इन सभी विशिष्टताओं के बावजूद 'लेखक की सीमित जीवन दृष्टि और मध्यवर्गीय रुझान के कारण 'झूठा सच' न तो विभाजन के सच को पूरी तरह उजागार कर पाता है और न ही स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के वस्तु सत्य को उजागार कर पाता है।'[5] डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव प्रश्न करते हैं कि क्या कारण है कि

1. क्रान्तिकारी यशपाल— सं० मधुरेश
2. अधूरे साक्षात्कार, 79
3. वही, 79
4. क्रांतिकारी यशपाल—सं० मधुरेश, मे डॉ० माहेश्वर का लेख, पृष्ठ 139
5. वही, पृष्ठ 141

यशपाल को 'झूठा सच' संज्ञा को प्रमाणित करने के लिए एकाधिक तर्क देने पड़े हैं जिनमें से एक नैय्यर की दी हुई व्याख्या यह है, ''घटना तो झूठ-सच नहीं होती, झूठ-सच तो घटना को प्रकट करने के प्रयोजन में होता है। मूल सत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना या उसे जमाना भी आवश्यक होता है। सच को बल देने के लिए साक्षी आवश्यक होता है।'' इस व्याख्या में ही आरोपित दृष्टि का उद्देश्यप्रेरित सरलीकरण निहित है। उपन्यास के समर्पण पृष्ठ पर ही यशपाल की इस धारणा, ''सच को कल्पना से रँगकर उसी जन समुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं करता।'' में सन्देह की गुंजाइश नहीं है, पर 'हम जो चाहते हैं उसे एक आदर्श परिणाम तक खींचकर घटित के मुहावरे में ले जाना उन अन्तर्विरोधों को जन्म देता है जो रचना की निपट अनिवार्यता के विरुद्ध होते हैं। यही कारण है कि राजनीतिक विवेचन के आग्रह और मानवीय संवेदना की तटस्थ पहचान के बीच जो सन्तुलन 'झूठा सच' को अधिक निखार दे सकता था उसमें यहाँ साफ दरार दिखाई देती है।'[1]

---

1. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 65

लाल पीली जमीन

बकौल परमानन्द श्रीवास्तव, ''आंचलिक जीवन को क्षेत्रीय व्यक्तियों के दम्भ, स्वार्थ, वर्ग-जाति-सम्बन्ध, चरित्र किस तरह प्रभावित करते हैं और पूरे जीवन को किस प्रकार से खलनायकत्व की गिरफ्त में ले आते हैं, यह देखने के लिए 'लाल पीली जमीन से सामना जरूरी है।'' इस उपन्यास की कथा में विस्तार और तनाव दोनों हैं, फिर भी स्थितियों का झुकाव आक्रामक तनाव की ओर प्रत्यक्षत: दिखाई देता है। इस अंचल की संस्कार भूमि, जो काफी हद तम स्वातंत्र्योत्तर भारत की संस्कार भूमि है, भद्रता के विरुद्ध भदेस, विद्रूप, क्षुद्र अमानवीय है। इसमें माटी की उर्वरा एवं कुँवारी गंध बह रही है। 'इस उपन्यास में एक खास अंचल के तौर-तरीकों, रिव्युअलों, त्योहारों में व्यक्त सांस्कृतिक विरासतों तथा सामाजिक वर्तावों को चित्रित किया गया है। इनके अंतर्विरोधों के मध्य एक संगति को तलाशा गया है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के सभ्यतर होते निकास पैटर्नों को देखा गया है, और देखा गया है कि बुनियादी तौर पर भारतीय आदमी इतरों से कहाँ विशिष्ट हैं।[1] यह कृति समसामयिक युवा वर्ग में व्याप्त हिंसा और काम कुण्ठा के गहरे कारणों की पड़ताल करता है। इसके लिए लेखक ने एक छोटे शहर की छोटी बस्ती चुनी है और इसमें रहने वाले तमाम चरित्रों को उभारा है। 'यह बस्ती न पूरी तरह से ग्रामीण है, न पूरी तरह से शहरी और एक अजीब कस्बाई मनोवृत्ति का प्रतीक है जो सारे देश में व्याप्त है। लेखक ने बड़ी सफाई से उन ताकतों की पहचान करायी है जो युवा वर्ग में बढ़ती हुई हिसा के कारण हैं। ये ताकतें जातिवाद पर आधारित हैं और जो शहरों में अपनी प्रतिष्ठा बनाने के लिए हिंसात्मक शक्तियों को पालती हैं, जिनकी जरूरत अपनी राजनीति चलाने के लिए राजनेताओं को पड़ती है और जिसकी सुरक्षा पुलिस करती है।'[2] इसीलिए 'इस उपन्यास के परिवेश में भयानक हिंस्र शक्ति है और व्यक्ति उसके सामने अपनी समस्त जिजीविषा और जीवन के साथ असहाय है। सिवा टूटते हुए बिखर जाने और अंदर-ही-अंदर गलते-घुलते और सड़ते जाने

1. गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम—सं० डॉ० चन्द्रकात बादिबडेकर, मे डॉ० भगवानदास शर्मा का लेख, पृष्ठ 19
2. वही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का लेख, पृष्ठ 87

के अन्य कोई विकल्प नहीं है।------लेकिन गोविन्द मिश्र ने व्यक्ति को—केशव को—विलक्षण तीव्र संवेदन क्षमता देकर और परिवेश की मार के बदले में इस संवेदना की राख में परिणत होने वाली चिन्गारियों का अजीब-सा विद्युत-आलोक पैदा किया है।'[1]

गोबिन्द मिश्र के उपन्यास की लाल-पीली जमीन न शहर की है, न गाँव की। दोनों से कुछ तत्त्व लिया गया है तो भयावहता। 'लेखक इस छोटे से शहर का भूगोल तो बता देता है लेकिन यह भौगोलिक पृष्ठभूमि यथावतता या पहचान के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी पृष्ठभूमि पर चलने वाली हिस्र, क्रूर, आतंकपूर्ण, मानवीय यथार्थ के कलात्मक (फिर भी वास्तविक) नेपथ्य के रूप में।'[2] निम्न मध्यम वर्गीय इन किशोरों के सामने कुछ भी नहीं है जिससे वे अपनी आशाएँ-आकांक्षाएँ जोड़ सके। अपनी नितांत अर्थहीन जीवन व्यवस्था में अपनी पहचान और स्वीकृति के लिए हिंसा को छोड़ कोई दूसरा मार्ग उनके सामने नहीं है। 'हिंसा ही उनका मनोरंजन है, हिसा ही उन्हें आर्थिक सुरक्षा देती है। हिंसा से ही उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है। गरीब अशिक्षित बच्चे के लिए उसका शरीर और उसका दुस्साहस ही सब कुछ है—उसके कारण ही वह इस आपाधापी से भरे संसार में किसी तरह खड़े रहने की जगह बना पाता है।[3] इस परिवेश में विद्यमान पर्वत, किला, बुर्ज, पेड़हीन जमीन, काली बड़ी चट्टानें और उन्हें घेरने वाला कालापन, पीपल की सरसराहट, कालपन की छाया लिए मंदिर और कुइयाँ, जंगली तेंदुए जिनको शिकारी भी नहीं मार पाये और जिनके भय से रात को मवेशियों को उनकी किश्मत पर छोड़कर लोग सो जाते हैं, घर के किवाड़ पर सर्प-मैथुन और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर देखने वाले लोग, साड़ों की लड़ाई, तीतर की लड़ाई—यह सब शहर की स्थानीयता को विशेपीकृत करता हुआ भी उसी हिस्रता एवं भयावहता की ओर उन्मुख करता है, जो उस परिवेश के लोगों की नसों में दौड़ रहा है। यहाँ होली जैसा त्यौहार भी भाभी-देवर के मीठे परिहास के लिए या दुश्मनी भूलकर एक-दूसरे के गले लगाने के लिए नहीं था, बल्कि बेबसों को अधिक यातना देकर अपनी नपुंसकता और क्रूरता की अभिव्यक्ति के लिए था। यहाँ ''लड़कों का दूध जहाँ छूटा कि वे बाहर नंग-मड़ंग घूमने के लिए छोड़ दिये जाते थे---यह फालतू उम्र थी क्योंकि

---

1 वही, डॉ० चन्द्रकांत बादिबडेकर का लेख
2. वही, पृष्ठ 94
3. वही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का लेख

मॉ–बाप के लिए या किसी के लिए भी वे फालतू थे।''[1] ये बच्चे वही खेल खेल सकते थे जो अभावग्रस्त जीवन में बिना किसी सामग्री के खेले जा सकते हैं—चिया, गुल्ली डंडा, लुका–छिपी दंड बैठक, कुश्ती इत्यादि। पशुओं की नार के पीछे गिरते गोबर के पकड़ने के खेल में भी रस लेते हैं। छोटे और सुन्दर लड़कों को बड़े लड़के फँसाते रहते हैं और इसमें अपनी शान समझते हैं। 'न बड़ों के पास शिक्षा और संस्कार देने की क्षमता है, न इच्छा ही; शिक्षा घसीटती चली जाती है। बच्चे भैंसा–भैंसी, बकरा–बकरी का व्यवहार देखकर बहुत सीखते हैं और समलिगी व्यवहार भी उनको सिखाता रहता है।'[2] इस 'लाल पीली जमीन' में 'इस कमल के फूल को तोड़कर ही रहना है'—प्रेम की भाषा है और 'कब फँसोगी'—प्रेम निवेदन। गोविन्द मिश्र ने इस वर्णित तथ्य की क्रूर वास्तविकता को सशक्त चरित्रों द्वारा रुपायित किया है। लंगोटधारी पंडित साड़ की तरह शहर में लड़कियों को फँसाने के लिए घूमते हैं। सुरेश, शिवमंगल, कल्लू, कैलाश की पूरी जमात इसी प्रकार के कार्य में अपना संस्कार बना रहे हैं। तभी तो इस जमीन पर लड़कियों को जवानी प्राप्त होने के पहले ही घर की चहारदीवारी में कैद किया जाता है, क्योंकि वहाँ इतने साड़ फिरते रहते थे कि आम आदमी अपनी लड़की तेरह–चौदह में ही व्याह कर निबटा देने की सोचता था।' शांती जैसी स्त्रियों के इन साँड़ों से बचने का उपाय था, 'तेजी से सुखा जाये। बुढ़ापे की लकीर छू ली तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।' 'यहाँ की औरत बड़ी सख्त होती है। उसकी छाती मर्द की छाती से भी मजबूत होती है,' कहने वाली शांति पंडित के बलात्कार के बाद मानसिक यातना से मर जाती है।

पूरे उपन्यास में ही विवशता, लाचारी, भय का दर्दनाक स्वर गूँजता रहता है, जिसे केशव तटस्थ द्रष्टा की तरह भोग रहा है। उपन्यास का प्रारम्भ भी इस अत्याचारी, अमानवीय स्थिति से किया गया है, ''मैं यहाँ हूँ। मकान के किसी कोने में अपनी जगह ढूँढ़ता हुआ। कुछ दिमाग में ऐसा धँस गया है कि पहचान ऐसे ही किसी कोने में मुझे मिलेगी------इसलिए भागता रहा हूँ अब तक। एक कोने से दूसरे कोने तक----मैं बारी–बारी से हर कोने में अपने को फिट करते देखता हुआ भटक रहा हूँ-----अब तक।'' इसमें सन्देह नहीं कि इस खुरदरे, बेडौल, भयावह वातावरण के तनाव में कोमलता का अहसास भी कहीं-कहीं उभरता दिखाई देता है—

---

1 'लाल पीली जमीन'
2 गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम—स० चन्द्रकात बादिवडकर, मे चन्द्रकान्त बादिवडेकर का लेख, पृष्ठ 96

1. ''उसने बैठकर बिट्टी का हाथ अपने हाथो में लिया, जहाँ उसके पैर से कुचल गया था, वहाँ सहलाने लगा। हाथ बहुत मुलायम लगा, जैसे पत्ते को छूने में लगता है।''1

2. ''उसने शुरू भी कर दिया था--------मन से बूढ़ा-बूढ़ा महसूस करना।-------लेकिन आज उसकी ओढ़ी हुई सख्ती के नीचे फिर वही कोमलता असहायता जाग पड़ी थी।''

3. ''उसे लगता था कि शैलजा अपनी साफ मुलायम उँगलियों से उसके शरीर के खुरदुरेपन को एक चिकनाहट में ढाल रही है।''

पर ये स्थल इतने अलग, अकेले और नगण्य है कि हिसा, यातना, भय की केन्द्रीय काल कथा से क्षणिक विषयांतर जान पड़ते हैं। कैलाश ने जिस शैलजा के लिए एक कोमल सनसनी अनुभव की थी और शिवमंगल से टकराया था और शिवमंगल ने जिसकी कुंठा से फक्कड़पन की राजनीति अपना ली थी, वह कल्लू के साथ भाग गयी। मालती के विवाहोत्तर जीवन को उसके आत्मीय केशव ने ही 'बदबू का भंडार' पाया।

कहना न होगा कि संबंधों के व्यापक निष्करुण तनाव की इस कथा में चरित्रों की संख्या कम नहीं है पर संख्या से ऊपर इस जमीन पर आदमी की यह पहचान है—आदमी वह धब्बा है जिसे जब तक जलाकर हाथ न झाड़ लिया जाये, वह मिटता नहीं। दूसरी ओर साँड़ों और तीतर की भिड़ंत के कौतूहलपूर्ण चित्र में मानव-पशुता का व्यंग्य बड़ी तीक्ष्णता से उभरता है, जिसमें चरित्र इकाइयों की पहचान धुँधली पड़ती जाती है। शिवमंगल, कल्लू, कैलाश, शिवराम, बोस, मास्टर कंठी, शैलजा, बिट्टी, छबि, शन्नो मौसी, शांती जैसों की पूरी जमात की आकृतियाँ ही अंत तक पहुंचते-पहुँचते गड्ड-मड्ड हो जाती है और 'सबके ऊपर टंगा रहता है एक युग या वर्ग का हिंसक स्वभाव जो गुणों को गुणों के लिए, सौन्दर्य को सौन्दर्य के लिए, अभाव को अभाव के लिए, व्यथा को व्यथा के लए लांछित करता है। कोमलता सिर उठाती है और कुचल दी जाती है, संबंध मानवीयता का स्पर्श पाने के पहले ही नष्ट कर दिये जाते हैं।'2 इस परिवेश कथा में जो युग एवं पीढ़ी की कथा भी है, सब 'तगड़े की ही तरफदारी' करते

---

1. वही, पृष्ठ 31।
2. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 150।

हैं, ''वह और जो इस वक्त लस्त-पस्त पड़ी थी, उसकी तरफ से बोलने वाला कोई न था।''[1] यह वाक्य पूरी सामाजिक संरचना पर टिप्पणी है।

कहना होगा कि 'लाल पीली जमीन' में गोविन्द मिश्र के अनुभवों की दुनियाँ भी वृहत्तर आयाम लिए हुए तो है, काल और स्थान का अधिक ठोस जटिल और वस्तुपरक प्रत्यक्षीकरण अपने में एक उपलब्धि है। बुन्देलखण्ड जैसे सीमित अंचल के सपाट, खुरदुरे चरित्र-संबंधों एवं संरचना के बहाने यहाँ स्वतंत्र भारत की समाज-संरचना ही अपनी भदेस, विद्रूप, तनावग्रस्त संकीर्णताओं सहित उजागर हुई है 'इस परिवेश-कथा में प्रत्यक्ष है कि इस अमानवीकृत तंत्र में भय और हिंसा, असहाय यातना और अविनीत क्षुद्रता आदमी की दिनचर्या का हिस्सा बन चुकी है। मानवीय अनुभवों का स्पर्श जिन स्थलों में दिखाई देता है, वे अमानवीयकृत ढाँचे के अधीन अपनी निरीहता ही प्रकट करते हैं।'[2] बकौल प्रभाकर श्रोत्रिय ''यह कस्बाई जीवन-वर्णन में ही नहीं संवादों में, संवादों की बेबाकी और स्वाभाविकता में भी'' उल्लेखनीय है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास यात्रा में भाषा की बुनावट के स्तर पर भी यह रेखांकित करने योग्य है क्योंकि यहाँ उन्होंने कथा भाषा के सर्जनात्मक गुण का विकास किया है। 'ऐन्द्रिय वस्तुगत मूर्तता को वे अधिक महत्त्व देते हैं, सामान्य अलंकृति प्रवाह को कम।'[3] चित्रण की ओर गोविन्द मिश्र का झुकाव दिखाई देता है, जो उनकी भाषा की सर्जनात्मक क्षमता को समृद्ध करती है—''वह पहाड़ी ढलान बस्ती की तरफ दौड़ती हुई किले की जीभ थी, एक तरह से, वरना उस बस्ती के इर्द-गिर्द पहाड़-ही-पहाड़ थे।''[4] सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की धारणा है, ''भाषा बोलचाल की साफ-सुथरी ही नहीं, उसमें बोलियों के तमाम ग्रामीण शब्द जो अब खोते जा रहे हैं लेकिन जिनकी अर्थवत्ता का कोई जवाब नहीं है, बड़े सार्थक ढंग से पिरोये गये हैं।'[5] आंचलिक शब्दों से स्थानीयता की गंध रचने की दिशा में भी वे सचेष्ट दिखाई देते हैं। 'आंचलिक शब्द, मुहावरे, परम्परा स्थिति, जीवनक्रम सब है, मगर उसे उसी सीमा तक लेखक रखता

---

1. लाल पीली जमीन, पृष्ठ 53।
2. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 151।
3. गोविन्द मिश्र : सृजन के आया में प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख, पृष्ठ 112।
4. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 152।
5. गोविन्द मिश्र : सृजन के आया में प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख, पृष्ठ 88

है जिसके बाद जाने पर कृति के आँचलिक हो जाने का खतरा उसे महसूस कराता है।'[1] इस औपन्यासिक गद्य का एक उल्लेख्य गुण है—स्थितियों, व्यक्तियों—वस्तुओं के बीच की तनावग्रथित लयवत्ता। अनुगढ़ता और रचाव के बीच, सपाटता और सूक्ष्मता के बीच गोविन्द मिश्र का गद्य ठेठ क्रियात्मक भाषिक संरचना का उदाहरण बन सका है जिसका एक अनिवार्य गुण प्रवाह नहीं, प्रवाह को बाधिक करने वाला आक्रामक अंतराल भी है। गोविन्द मिश्र का वाक्य विन्यास व्याकरण की समान्यता को विचलित भी करता है।'[2]

1. हिन्दी उपन्यास : उत्तर शती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 205
2. उपन्यास का पुनर्जन्म—डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, पृष्ठ 152

तमस

'हिन्दी का सम्भवत: पहला उपन्यास है जिसमें लेखक कम-से-कम प्राय: नहीं के बराबर स्वयं, कुछ कहता है। हिन्दी उपन्यासकारों में विचार-बौछार का जो रोग है उसमें भीष्म साहनी ने बहुत धैर्यपूर्वक अपने को पृथक रखा है। आतंक, भय, सनसनी, तनातनी, खिंचाव, दहशत, विरोध, क्रोध, हलचल, हड़कम्प, हिसा-प्रतिहिसा, बर्बरता, उपद्रव और लज्जास्पद अमानवीयता के बीच से लेखक उनका चित्र उपस्थिति कर चुपचाप खिसक जाता है और पाठकों को आगे सरका देता है ताकि मनोरंजक रूप से लेकर कथाओं के बीच से गुजर जाने की अपेक्षा वे गंभीर उत्तरदायित्त्वों और प्रश्नों के बीच से गुजरे।'[1] देश के विभाजन के दौरान पंजाब की सरहद पर हुए भयानक साम्प्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि पर भीष्म साहनी का 'तमस' विभाजन की नियामक शक्तियों को बेपर्दा करता है। कुल पाँच दिनों के घटनाक्रम पर केन्द्रित यह उपन्यास अंग्रेजों द्वारा साम्प्रदायिकता को हथियार बनाकर 'फुट डालो और राज करो' की नीति के पर्दाफाश से लेकर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिन्दू महासभा एवं मुस्लिम लीग की भूमिका को भी उजागर करता है। इस दौर में कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को भी पूरी निर्ममता के साथ उद्‌घाटित करता है। 'विभाजन की घटना से अपेक्षाकृत अधिक अंतराल के साथ लिखे जाने के कारण इस उपन्यास में एक ठंडापन और तटस्थता का भाव बना रहता है, जो इसे कुछ अधिक ही प्रामाणिकता प्रदान करता है।'[2] भारत भूषण अग्रवाल के अनुसार, 'उन्होंने इस आवेशपूर्ण और उत्तेजक अध्याय को कालकारोचित तटस्थता से प्रस्तुत किया है, और यथार्थ का चित्रण करते समय यथासंभव निष्पक्षता से काम लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय की दूरी ने उन्हें इसकी सुविधा प्रदान की है।'[3]

---

1. हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 170
2. हिन्दुस्तान, 14 अगस्त 1997 में वीरेन्द्र यादव का लेख
3. आलोचना, अप्रैल-जून 1973, पृष्ठ 101

'तमस' के परिचय पत्र में ही कहा गया है कि वह केवल पाँच दिनों की कहानी' है। ये पाँच दिन 1946 में अंतरिम सरकार की स्थापना से लेकर अगस्त 1947 में देश में विभाजन के बीच के वर्ष के पाँच दिन हैं। लेकिन 'इन पाँच ही दिनों की कथा में जो प्रसंग, जो सन्दर्भ और जो निष्कर्ष उभरते हैं; उनके कारण, यह पाँच दिनों की कथा 20वीं सदी के भारत की अब तक के लगभग 80 वर्षों की कथा हो जाती है। 'अनुत्तेजित गम्भीरता, सन्तुलित भावमयता, प्रखर बौद्धिकता, निर्लिप्त जागरूकता, सहजता, सरलता और रोचकता जैसे गुणों से युक्त, भीष्म साहनी की कथा कहने की शैली, इस उपन्यास में अपने चरमोत्कर्ष का परिचय देती हुई, आरोपण, बड़बोलापन और उपदेशकथन आदि दूषणों से बचती हुई भारतीय जनता को कुछ निष्कर्ष पूर्ण मन: स्थितियों की ओर उत्प्रेरित करती है और अपने व्यंजनात्मक आशयों के साथ आत्मालोचन के लिए तैयार करती है। यह औपन्यासिक शैली अपने पाठकों को और अधिक जागरूक बनाती हुई 'जाति-प्रेम', 'धर्म', 'संस्कृति', 'परंपरा', 'इतिहास' और राजनीति जैसी संकल्पनाओं की आड़ में शिकार खेलने वाली प्रतिगामी शक्तियों के दु:साहस भरे जोखिमों को खुलासा पेश करती है।'[1] उपन्यास के प्रारम्भ में ही डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड कहता है : 'आपको तो पण्डित नेहरु या डिफेंस मिनिस्टर सरदार बलदेव सिह के पास जाना चाहिए था। सरकार की बागडोर तो उनके हाथ में है।'[2] और उपन्यास के अंत में लेखक ने स्पष्ट लिखा है, 'मुस्लिम लीग के प्रधान के साथ बैठे हुए बख्शी जी सामने की ओर देखे जा रहे थे पर गहरी उदासी में डूबे थे। 'चीलें उड़ेंगी, अभी और उड़ेगी,' उन्होंने मन ही मन कहा।'[3] इस प्रकार भीष्म साहनी ने 'अपनी कथावस्तु को विभीषिका की भूमिका तक ही सीमित रखा है जिसमें साम्प्रदायिक तनाव के वातावरण में एक छोटी-सी घटना से दंगों, अग्निकाण्ड और रक्तपात का ताँता लग जाता है, और फिर प्रशासनिक शक्ति के प्रदर्शन के फलस्वरूप तात्कालिक शान्ति हो जाती है, भविष्य में और भी भयंकर रूप से फूटने के लिए।'[4]

'काल' के समान ही 'देश के स्तर पर भी कथावस्तु सीमित है। 'झूठा सच' से बिल्कुल भिन्न 'तमस' में केवल एक नामहीन शहर और उसके अंचल में बसे तीन-चार गाँवों की कहानी है। यह शहर

1. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना—सं० प्रताप छाकुर, राजेश्वर सक्सेना, में डॉ० राजकुमार सैनी का लेख
2. तमस, पृष्ठ 83
3. तमस, पृष्ठ 283
4. आलोचना, अप्रैल-जून 1973 में भारत भूषण अग्रवाल का लेख

निश्चित ही पश्चिमी पंजाब का शहर है क्योंकि रिचर्ड अपनी पत्नी से कहता है, 'उस पहाड़ के पीछे करीब सत्रह मील की दूरी पर टेक्सिला के खण्डहर हैं।'[1] और आगे चलकर यह भी इंगित करता है कि 'मुसलमानों का शहर है'[2] और 'यह शहर ही इस बेढब्बे से बना है कि हर मुहल्ले में हिन्दू भी रहते हैं और मुसलमान भी रहते हैं।'[3] शहर के ही अंचल में बसे सैदपुर में सिखों की बहुत बड़ी संगत है। यही नहीं, शहर में आर्य समाज भी है, हिन्दू महासभा भी है, गुरुद्वारा प्रबन्ध कमेटी भी है, कांग्रेस, मुस्लिम लीग एवं कम्युनिस्ट संगठन भी है। इनके साथ कालू ईसाई और अमरीकी पादरी, अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर और उसकी टूरिस्ट पत्नी-प्रेमिका को जोड लेने पर देश की विविधता का पूरा प्रतिनिधित्व हो जाता है। इस प्रकार 'एक भूमि-खण्ड को एक काल-खण्ड की सीमा में बाँधकर उपन्यासकार एक साम्प्रदायिक संघर्ष की स्थिति का अध्ययन करता है जो राजनीतिज्ञों के दांव-पेंच और अंध स्वार्थ का कारण बन जाता है और निर्दोष लोगों की तबाही का जो 'न हिन्दू हैं, न मुसलमान बल्कि सिर्फ इन्सान हैं और हैं भारतीय नागरिक।'[4] जो मारे जाते हैं, वे सभी धर्म-जाति के लोग हैं, उनमें नत्थू चमार भी है जिसके सूअर को मारने से उपन्यास और दंगे की शुरुआत होती है, वह इत्रफरोश भी है जो आना-दो आना कमाने के लिए दंगे के दिन भी अपनी फेरी पर निकलता है, सरदार हरनाम सिंह भी हैं जो गाँव के बाहर बस के अड्डे पर चाय की दुकान चलाता था और कश्मीरी भी है जो फतहचन्द के टाल पर काम करता था, कोयला और लकड़ियाँ घर-घर पहुँचाने वाला'[5] 'दरअसल सवाल केवल धर्म और संप्रदाय का सीधा-सादा नहीं है। और भी उलझा हुआ है। कहीं स्वार्थों का है, कहीं इतिहास का है, कहीं मनोविज्ञान का है।'[6] लाला लक्ष्मी नारायण अपने बेटे और अपनी जवान बेटी की सुरक्षा के लिए तो चिंतित हैं लेकिन अपने हिन्दू नौकर ननकू की उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। वह उसे शहर की जलती सांप्रदायिक आग में अकेले भेज देते हैं। शहनवाज की ब्यूक मोटर उसी आग में सारे शहर में चलती रहती है। उपन्यास का एक मजदूर पात्र कहता है, ''आये आजादी, पर हमें क्या? हम पहले भी बोझा ढोते हैं, आजादी के बाद भी बोझा ढोयेंगे।

---

1. तमस, पृष्ठ 38
2. तमस, पृष्ठ 130
3. तमस, पृष्ठ 69
4 आलोचना, अप्रैल-जून 1973, पृष्ठ 101 में भारत भूषण अग्रवाल का लेख
5. तमस, पृष्ठ 152
6 हिन्दी उनप्यास : 1950 के बाद—स० डॉ० नित्यानन्द तिवारी, डॉ० निर्मला जैन मे डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का लेख, पृष्ठ 80

''[1] सैदपुर गाँव में सिक्खें एवं मुसलमानों के बीच की लड़ाई दो जातियों की ऐतिहासिक संघर्ष की श्रृंखला की एक कड़ी है। 'तुर्कों के जेहन में भी यही था कि वे अपने पुराने दुश्मन सिखों पर हमला बोल रहे हैं और सिखों के जेहन में भी वे दो सौ साल पहले के तुर्क थे जिनके साथ खालसा लोहा लिया करते थे। लड़ने वालों के पांव 20वीं सदी में थे, सिर मध्य युग में।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक ने साम्प्रदायिक दंगों के राजनीतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। 'परिस्थितियों के दबाव में सूखते जाने वाले स्नेह सूत्रों ओर टूटते जाने वाले मूल्यों एवं आदर्शों के कारण उत्पन्न होने वाला दर्द भीष्म साहनी ने उत्कट रूप में व्यक्त किया है।'[3] केवल वर्णन करना उसका लक्ष्य नहीं है। वह उन कारणों में जाना चाहता है जो सांप की तरह कुंडली मारे भीतर की गहराइयों में छिपे हैं और मौका लगते ही फुंफकारने लगते हैं। साम्प्रदायिकता के इस तमस का कोई तर्क नहीं है। यह एक भीतरी अंधेरा है, एक उन्माद है जो जितना ही भयानक है उतना ही अर्थहीन। बंतों और हरनाम तथा सरदार इकबाल सिह, मिल्खी के प्रसंग ऐसे मार्मिक और दिल दहला देने वाले हैं जो किसी भी संवेदनशील पाठक को भीतर से झकझोर देंगे। सरदार इकबाल सिह को मुसलमानों का गिरोह इस शर्त पर छोड़ता है कि उनका दीन कबूल कर ले। उपन्यासकार लिखता है : ''शाम ढलते-ढलते इकबाल सिंह के शरीर पर से सिखों की सब अलामतें दूर कर दी गयी थी और मुसलमानों की सभी अलामतें उतर आयी थीं। पुरानी अलामतें हटाकर नयी अलामतें लाने की देर थी कि इनसान बदल गया था, अव वह दुश्मन नहीं था। दोस्त था, काफिर नहीं था मुसलमान था। मुसलमानों के सभी दरवाजे उसके लिए खुल गये थे।''[4]

उपन्यास का सबसे सबल पक्ष है संप्रदायों की मनोवृत्ति और संघर्ष के लिए उनके उन्माद और उनकी तैयारी का सूक्ष्म और बहुरंगी चित्रण। यहाँ भीष्म साहनी का विवरण कौशल शिल्प के लिए अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है। लेखक सभी वर्गो और स्तर के लोगों की झलकियाँ प्रस्तुत करके एक व्यापक स्थिति की गम्भीरता को सम्प्रेषित करने में सफल हो जाता है। 'इनमें से कोई भी वर्णन या कोई भी झलक असाधारण या अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, पर कुल मिलाकर वे हमें उस दहशत से परिचित

1. तमस, पृष्ठ 108
2. हन्दी उनप्यास : 1950 के बाद—स० डॉ० नित्यानन्द तिवारी, डॉ० निर्मला जैन मे डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का लेख, पृष्ठ 80
3. हिन्दी उपन्यास : स्थिति और गति—चन्द्रकान्त बांदिबडेकर, पृष्ठ 398
4. तमस, पृष्ठ 230

करा देते हैं जो साम्प्रदायिक संघर्ष के कारण नगर-जीवन में मँडराने लग जाती है।'[1] मंदिर में साप्ताहिक सत्संग की समाप्ति पर वान प्रस्थीजी का भाषण जिसका अंत इस आर्य समाजी लटके से होता है : ''फैलाये घोर पाप यहाँ मुसलमीन ने। नेअमत फलक ने छीन ली, दौलत जमीन ने।'[2] और फिर अन्तरंग सभा की बैठक जहाँ सूचना दी जाती है कि ''जामा मस्जिद में लाठियाँ, भाले और तरह-तरह का असला बहुत दिनों से इकट्ठा किया जा है।''[3] और एक बुजुर्ग का बार-बार आग्रह : ''ओ भरावो, डिप्टी कमिश्नर से मिलो। पानी भी न पियो, डिप्टी कमिश्नर से मिलो।'' ऐसा ही अवस्मरणीय प्रसंग रणवीर का दीक्षा प्रसंग एवं गुरुद्वारे में जुटी सिक्ख संगत का है, जो साम्प्रदायिकता के गहराते तमस को बेनकाब करता है। इसका चरम बिन्दु तब आता है, जब संकट से बचने को कोई उपाय न देखकर गुरुद्वारे का पूरा नारी समाज 'कुरबानी' के लिए चल देता है : ''उसी वक्त गुरुद्वारे में से उजले कपड़ों में मलबूस स्त्रियों की एक डार-सी निकली। आगे-आगे जसबीर कौर थी, अधमुँदी आँखें, तमतमाता चेहरा। लगभग सभी औरतों ने अपने दुपट्टे सिर से उतारकर गले में डाल लिये थे : सभी के पैर नंगे थे।-------स्त्रियों का झुण्ड उस पक्के कुएँ की ओर बढ़ता जा रहा था, जो ढलान के नीचे दाएँ हाथ बना था-----मंत्रमुग्ध-सी सभी उस ओर बढ़ती चली जा रही थी----सबसे पहले जसबीर कौर कुएँ में कूद गयी।''[4] यहाँ एक कमी यह दिखाई देती है कि लेखक ने मुस्लिम संप्रदाय की प्रतिक्रिया और तैयारी का ऐसा प्रभावकारी कोई वर्णन नहीं किया है, फिर भी यथा प्रसंग उसका छिटपुट चित्रण अवश्य हुआ है, जिसे जोड़कर इन प्रसंगों के समकक्ष बनाया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि परदे के पीछे काम करने वाली शक्तियों को परदे के पीछे ही रखकर पेश करने की उपन्यास कला लेखक के पास है। 'स्थितियों के जटिल और नाजुक होने के कारण भी लेखकीय तटस्थ चित्रांकन वृत्ति की उपयोगिता है। चरित्र से अधिक परिवेश और स्थितियों के उभार पर बल है। घटनाओं के माध्यम से कथाकार उसे संकेतित और संवेदित करता चलता है। उपन्यास के चरित्र प्रधान न होकर परिवेश प्रधान होने का एक परिणाम यह होता है कि पाठक स्वयं घटनाओं के बीच 'होने' से अधिक उन्हें सम्यक रूप से 'जानने' की आस्वाद मुद्रा में अधिक होता है।'[5]

---

1 आलोचना, अप्रैल-जून 1973, पृष्ठ 101 में भारत भूषण अग्रवाल का लेख पृष्ठ 105
2 तमस, पृष्ठ 65
3 तमस, पृष्ठ 66
4. तमस, पृष्ठ 238-239
5 हिन्दी उपन्यास : उत्तरशती की उपलब्धियाँ—डॉ० विवेकी राय, पृष्ठ 171

शिल्प विधि की दृष्टि से देखें तो भीष्म साहनी का समूचा ध्यान यथार्थ पर है, यथा तथ्यता और प्रमाणिकता पर है। इसीलिए कोई एक कथा श्रृंखलाबद्ध जारी नहीं रहती। 'वह अलग-अलग कोणों से उठती है और व्यापक निष्कर्षों को उससे संकेतित करना उद्दिष्ट होता है।'[1] इसी अर्थ में वह किसी चरित्र की नहीं, गतिशील स्थितियों की कहानी होती है और उनके ही ऊपर नायकत्व जाता है। कांग्रेसी, आर्य समाजी, राष्ट्रीय स्वयं सेवकों और मुस्लिम लीग यहाँ समूहगत चरित्र के रूप में उपस्थित हैं। नत्थू, रणवीर, मुबारक अली, रिचर्ड और लाला लक्ष्मी नारायण लाल चरित्र के रूप में एक-एक स्थितियों के द्योतक हैं। डॉ० विवेकी राय के अनुसार, "व्यक्ति को स्थितियों के रूप में व्यंग्य करने की विशेषता लेखक में अद्भुत है। उपन्यास का सबसे बड़ा व्यंग्य रिचर्ड है। पूरी स्थितियों के व्यापक अर्थ में पूरा उपन्यास ही व्यंग्य उपन्यास बन जाता है। 'रागदरबारी' का व्यंग्य मुख्यत: शब्द व्यंग्य है, अधिकांशत: पग-पग पर ऊपर से झंकृत और अनुरंजित करने वाला। 'तमस' का व्यंग्य अर्थ व्यंग्य है, स्थितियों को आत्मसात करने के बाद भीतर से झकझोरने वाला।"[2] उपन्यास के प्रभाव को सघन बनाने के लिए कथाकार ने कुछ प्रयोग किया है। महत्वपूर्ण घटना प्रसंगों को वह थोक में उपस्थित करता चला गया है। धर्म परिवर्तन, युद्ध, भगदड़, प्रभातफेरी, दीक्षा, छुरेबाजी, सूअर हत्या और संगत आदि की घटनाएँ ऐसी ही हैं।

तमस के वस्तुसंगठन में कुछ घटनात्मक बिखराव होते हुए भी बहुत विशिष्ट कसाव है। इस कसाव के दो सूत्र उभरकर सामने आते हैं—मुराद अली और रिचर्ड। मुराद अली जितनी ही विरलता के साथ उपन्यास की यात्रा में उपस्थित हैं, उतनी ही सघनता के साथ प्रभावी होता है। वह मुख्यत: तीन बार सामने आता है—प्रारम्भ में, बीच में और अन्त में रिलीफ कमेटी के साथ, परन्तु तीनों ही बार वह नये-नये चेहरे के साथ उपस्थित है। रिचर्ड सघन राजनीतिक स्वार्थ में लिप्त एक प्रशासक का चेहरा है, जिसके ऊपर तमस का समस्त उत्तरदायित्व जाता है 'पर अन्त तक जिस परदे के बाहर भी काम करता होता है उससे या मोटे परदे के पीछे रखकर लेखक उसे उपस्थित करता है। वह लीजा से स्वीकार करता है, "सिविल सर्विस हमें तटस्थ बना देती है। हम यदि हर घटना के प्रति भावुक होने लगें तो प्रशासन एक दिन भी न चल पायेगा।" लीजा उससे कहती है, "बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड! मैं सब जानती हूँ। देश के नाम

1. वही, पृष्ठ 171
2. वही, पृष्ठ 172

पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर इन्हें तुम आपस में लड़ाते हो।''[1] कहना होगा कि 'इस उपन्यास की ताकत देशव्यापी गृहदाह में ईंधन जुटाने वाली प्रतिगामी शक्तियों के आलम को बेनकाब कर देने वाली, उस व्यंग्यात्मक शैली में निहित है, जो भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति का भरपूर इस्तेमाल करती हुई फिरका परस्ती, कट्टर धर्मिता, धर्मान्धता आदि की मनः स्थितियों के सामाजिक सन्दर्भों को पर्त-दर-पर्त उघाड़ती चलती है।'[2] इस उपन्यास के शिल्प को लेकर भारत भूषण अग्रवाल की धारणा है, ''नत्थू और हरनाम सिंह के वर्णन में लेखक नाटकीय उपन्यासों के-से शिल्प का सहारा लेकर, सम्प्रदायों के चित्रण में आंचलिक उपन्यासों का-सा शिल्प अपनाता है और रिचर्ड एवं लीजा के चित्रण में चरित्र प्रधान उपन्यासों का-सा। फलस्वरूप विविधता तो सिद्ध हो जाती हे, पर एक सूत्रता नप्ट हो जाती है।'' पर यही विविधतापूर्ण शिल्प कौशल इस उपन्यास की विशिप्टता है, जो हिन्दी उपन्यास यात्रा में इसे रेखांकित करती है।

1. तमस, पृष्ठ 48
2. भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना—सं० प्रताप ठाकुर एवं राजेश्वर सक्सेना में राजकुमार सैनी का लेख, पृष्ठ 126

दीवार में एक खिड़की रहती थी

विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसने न केवल हिन्दी उपन्यास साहित्य में दाम्पत्य प्रेम की नींव डाली है, बल्कि दूसरी ओर कथा लेखन में कविता और उपन्यास (गद्य) के बीच शताब्दियों से खड़ी भेद की नकली दीवार को ढहा दिया है। 'विनोद पहले ऐसे कथाकार हैं, जो अपने उपन्यास में 'पत्नी' को प्रेयसी का दर्जा देते हैं। पत्नी सोनसी का जितना रसमय और विस्मयकारी वृत्तान्त इस उपन्यास में दर्ज है वह इतना परिचित किन्तु अपरिचित प्रेम का इलाका है जो इस शताब्दी के कथा-लेखन में एक आदर्श लोक की तरह है। प्रकृति और स्त्री के सौन्दर्य को मिलाकर इस उपन्यास में एक अनजान खिड़की खोली गयी है, जो हमारे कथा-क्षेत्र में शताब्दियों से बन्द थी।'[1] मधु बी. जोशी के शब्द हैं, ''यूं भी हिन्दी कथा साहित्य में प्रेम वही है जो परकीया के साथ किया जाता है। 70 के दशक में धर्मयुग में लम्बी चली परिचर्चा 'पत्नी घर में प्रेयसी मन में' अभी भी बहुतों को याद होगी। रीतिकालीन कवि कहते थे, 'जोग हुते कठिन संजोग पर नारी कौ। इस पृष्ठभूमि में 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' एक छोटे-मोटे चमत्कार से कम नहीं है।''[2] प्रभात रंजन इसे 'हाशिये' का रूपक कहते हैं, विकास कथा में छूटे हुओं का रूपक। उनके शब्द हैं, ''उपन्यास के पाठ में उपस्थित कथा के आधार पर हम चाहें तो यह कहने के लिए भी स्वतंत्र हैं कि उपन्यास 'सामान्यीकरण' के इस दौर में 'विशेष' के रोजमर्रेपन की एक साधारण कथा है जिसे एक असाधारण भाषा में गढ़ा गया है। यह उपन्यास की एक बड़ी विशेषता मानी जायेगी कि इसमें अभिव्यंजकों की एक ऐसी श्रृंखला रची गयी है जो पाठकों को परस्पर विरोधी अर्थों के सञ्जाल का हिस्सा बना देती है।

उपन्यास की कथा के केन्द्र में हैं नायक रघुवर प्रसाद जो एक निजी महाविद्यालय में व्याख्याता हैं। कुल आठ सौ रुपये वेतन पाते हैं। उनकी कथा के वृत्त को पूरा करती है उनकी पत्नी सोनसी की कथा।

---

1. वर्तमान साहित्य, शताब्दी कथा विशेषांक 2000, पृष्ठ 224
2. हंस, मार्च 99

हाथी और साधु, विभागाध्यक्ष आदि की कथाएं भी आती हैं, लेकिन उपन्यास की दुनिया उनके अनुसार ही चलती है। 'इस उपन्यास में कोई महान घटना, कोई विराट् संघर्ष, कोई युग सत्य, कोई उद्देश्य या सन्देश नहीं है।''[1] कथानक कस्बाई महाविद्यालय के गणित के व्याख्याता रघुवर प्रसाद और उनकी नव-विवाहिता सोनसी के आसपास बुना गया है। परिवेश निम्नमध्यवर्गीय है जहाँ पास-पड़ोस, परिवार, महाविद्यालय, उसके छात्र, कर्मचारी और रोजमर्रा के जीवन के व्यौरे है' अपने पूरे विस्तार में मौजूद हैं। यहां न नायक है और न खलनायक, बस जीवन और उसकी जीवनन्तता है। लोग और उनका जीवन, सादा और निरीह है, लेकिन चमत्कार की गुंजाइश और प्रतीक्षा बनी रहती है। 'विनोद कुमार शुक्ल इस जीवन में बहुत गहरे पैठकर दाम्पत्य, परिवार, आस-पड़ोस, काम करने कर जगह, स्नेहिल गैर सम्बन्धियों के साथ रिश्तों के जरिए एक इतनी अदम्य आस्था स्थापित करते हैं कि उसके आगे सारी अनुपस्थिति मानव-विरोधी ताकतें कुरुप ही नहीं, खोखली लगने लगती हैं।'[2] 'पत्नी के आने से छाए उत्सवी वातावरण में ही माँ, पिता, छोटे भाई की अस्वस्थता और उनके लिए खास कुछ न कर पाने की लाचारी का विवादी स्वर उभरता है, महँगाई का सदाबहार निम्न वित्तीय राग है, फिर भी जीवन में आस्था है।'[3] लेकिन इस साधारण सी दिखने वाली दुनियाँ में एक खिड़की भी है, प्राय: कथा उसके पार भी चली जाती है। 'उस पार की दुनियाँ में स्वच्छ तालाब हैं, हरे पेड़ हैं। फुल-चुक्की चिड़िया है, लम्बी पूँछ वाली शाह बुलबुल है। उस दुनिया में 'अल्पना की मछली जल में' तैरती दिखाई देती है। एक बूढ़ी अम्मा है, जो कभी चाय पिलाती है, तो कभी बताशे खिलाती है और कभी हँसते-हँसते सोनसी को सोने के कड़े भी दे देती है।[4] लेकिन इस निष्कलुष दुनियाँ, में बिना रघुवर प्रसाद-सोनसी की इच्छा के किसी का प्रवेश सम्भव नहीं है। इस प्रकार यहाँ दो दुनियाँ सामानान्तर रूप में उपस्थित है। खिड़की के उस पार की दुनियाँ में स्वतन्त्रता की सत्ता है जहाँ प्रत्येक वस्तु की नामहीन उपस्थिति है, जिस पर सांसारिक पहचानों का आवरण नहीं है। इस पार की दुनियाँ, जिसमें रघुवर प्रसाद-सोनसी के अतिरिक्त पूरा समाज है, में रघुवर प्रसाद सोचता है 'उसका वेतन अच्छा होता तो वह बताता कि एक पुत्र अपने पिता की किस प्रकार परवाह करता है।'

---

1. 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में विष्णु खरे का अनुकथन
2. 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में विष्णु खरे का अनुकथन
3. हंस, मार्च 99 में मधु बी. जोशी का लेख
4. बहुवचन, एक में प्रभात रजन का लेख

यहाँ पिता की बन्द आँखों में 'बेटे की गृहस्थी की खटर-पटर' का सुख है, सोनसी है, माँ है, स्कूटर वाले विभागाध्यक्ष हैं, टम्पों की भीड़-भाड़ है, नीलकण्ठ देखने की अतृप्त इच्छा है और हाथी पर सवार साधु है। अर्थात् यह एक ऐसी दुनिया है जिसमें 'सामाजिक व्यवस्था की सत्ता' है। 'ये कथाएं साधारण-सी दिखने वाली कथा में असाधारणता पैदा कर देते हैं। उपन्यास में 'जो है' की कथा बार-बार 'जो नहीं है' कथा की तरफ ले जाती है और उसे गहरे अर्थ संकेतों से भर देती है।'[1]

दरअसल खिड़की के आर और पार की दुनियाँ एक-दूसरे की सहज पूरक हैं, दोनों ही कलुष और कल्मष से पूरी तरह मुक्त हैं। इन दुनियाओं से रघुवर और सोनसी है और उनसे ही यह दुनियांए। प्रभात रंजन के शब्द हैं, ''कथा में इन दो दुनियाओं के परस्पर विरोध की अन्तर्पाठीयता चलती रहती है। परस्पर विरोध इस अर्थ में जिस अर्थ में उपन्यासों को 'पैराडॉक्सिकल' कहा जाता है। वह पैराडॉक्स ही इस उपन्यास की एक रेखीय-सी दिखने वाली कथा को बहुअर्थीय बनाता है। यह पैराडॉक्स' बाहर की दुनिया और खिड़की के उस पार की दुनिया जिसकी 'सारी जगह रघुवर प्रसाद के मन की जगह थी। गोबर की लिपी पगडंडी मन की पगडंडी थी। साफ सुथरा आकाश उड़ने के लिए मन का आकाश था,' के द्वन्द्व में स्पष्ट होता है। अमरीकी उपन्यास ई. एल. डॉक्ट्रो ने उपन्यास को 'प्राइवेट आई' (I) कहा है, कुछ वैसा जो लिखा नहीं जाता। इस उपन्यास में दो दुनियाओं का द्वन्द्व कुछ वैसा ही 'प्राइवेट आई'(I) और 'पब्लिक आई' के बीच द्वन्द्व है, बल्कि ऐसा लगता है जैसे प्राइवेट आई एक लम्बी कथा-यात्रा पर निकल गया हो जिसमें 'कितने दिन हो गए को कितने हो गए में ही रहने देना चाहिए। दिन को गिनती में नहीं समझना चाहिये। किसी को भी नहीं। गिनती चारदिवारी की तरह है, जिसमें सब मिट जाता है। अन्तहीन जैसा का भी गिनती में अन्त हो जाता था।''[2]

उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु दाम्पत्य है तो उसकी अनुसंगी एन्द्रिकता भी श्रृंगार रस वाली ऐन्द्रिकता नहीं, 'दया, माया, ममता और अगाध विश्वास' पर टिकी ऐन्द्रिकता है; यहाँ पत्नी की आँख के पानी में गोता लगाकर सूर्य चन्द्रमा हो जाता है। 'केवल एक दिशा रघुवर प्रसाद के लिए आगे जाते हुए स्वयं सोनसी थी-----सोनसी के आगे निकलते ही उधर की धरती, पेड़-पत्ता सोनसी के पीछे आ जाते।'

1. बहुवचन, एक प्रभात रंजन का लेख, पृष्ठ 229
2. वही।

'दाम्पत्य-जीवन का ऐसा प्रेम और ऐसा विरह लेखक की जीवन में आस्था का पाठ ही बनाता दिखायी देता है जो इस 'सिनिकल' बनाने वाले समय में जीवन को जी ने लायक जगह बनाने का संतोष देता है। यह एक ऐसी दुनिया है जिसकी सम्भावना अभी नष्ट नहीं हुई है।'[1] असल में 'रघुवर प्रसाद एक वयस्क हो गया बच्चा ही है जिसके विस्मय और जिज्ञासायें अभी टटके हरे हैं।'[2] प्रभात रंजन के अनुसार, ''यह उपन्यास स्वप्न और यथार्थ के बीच की असंगति का पाठ नहीं दिखाई देता, बल्कि उनके बीच की संगति ढूँढ़ने की एक कोशिश की तरह लिखा गया है।------यहाँ बने-बनाये साहित्य सिद्धान्त इस उपन्यास के 'पाठ' को किसी भी रूप में नहीं पकड़ पाते, बल्कि हर प्रकार की शास्त्रीयता इस उपन्यास की कथा के सामने लाचार दिखाई देती है। इसी कारण खिड़की के बाहर की दुनिया अम्बर्टो इको के 'सिटी ऑफ रोबोट्स' के 'फैंटेसीलैंड' की 'डिजाइनर' दुनिया जैसी नहीं दिखती है, बल्कि वह मनुष्य की सम्पूर्णता की इच्छा का विस्तार ही दिखाई देती है।''[3]

उपन्यास में कथा ही नहीं भाषा भी कई स्तरों पर उपस्थित है, भाषिक संसारों की अलग-अलग संरचनाएं हैं। रघुवर प्रसाद, सोनसी, विभागाध्यक्ष, बच्चे, साधू, हाथी, पिताजी सबकी अपनी-अपनी दुनियाँ है, जो किसी की दुनिया में हस्तक्षेप नहीं करती—

1. ''समझ गया। पर सर। गाय एक समय पालतू नहीं रही होगी। वह भी जंगली जानवर होगी। मनुष्य जंगली था। भालू भी धीरे-धीरे पालतू हो जाता है।''

2. ''रघुवर प्रसाद रबड़ की चप्पल पहने छत्ता लेकर दरवाजे का पल्ला सावधानी से खोलकर बाहर निकले। दूसरा पल्ला खोलते तो अम्मा के सिर से टकराता। सोनसी ने दरवाजा उड़का दिया था। पानी के छींटे अन्दर आ रहे थे। बाहर बिजली के उजाले में गिरती हुई पानी की बूँदे जीवित बूँदे की तरह लग रही थीं। पतंगों की तरह बूँदे थीं।''

3. ''मैं कहा हूँ?'' रघुवर प्रसाद ने कमरा झाँकते हुए सोनसी से पूछा, जैसे कमरे से पूछा।

   ''तुम मेरे पास हो' कमरा झाँकते हुए सोनसी ने कहा, जैसे कमरे ने कहा।

---

1. बहुवचन, एक, प्रभात रजन का लेख, पृष्ठ 231
2. हंस, मार्च 99, मधु. बी. जोशी का लेख, पृष्ठ 87
3. बहुवचन, एक, प्रभात रंजन का लेख

'ओ मैं!' खाली कमरा देखते हुए सोनसी ने आश्चर्य से कहा 'तुम यहाँ मेरे पास हो।' रघुवर प्रसाद ने कहा, इसके बाद दोनों कमरे में कूद गये।' ''

4 ''थक गए तो एक टिपरिया चाय की दुकान में चाय पी।''

'थक गए तो एक खण्डहर जैसे पुरानी सराय में केसरिया दूध पिया—पत्नी ने सुना।'

'अच्छी गरम चाय थी'

'गाढ़ा गरम दूध था पत्नी ने सुना'

कहना होगा कि इन छोटे-छोटे भाषिक अनुभवों से उपन्यास की विविध कथाओं में निजत्व ला दिया है। 'विनोद कुमार शुक्ल ने सचमुच में एक ऐसी भाषा रची है, जो न सिर्फ नए ढंग की है, बल्कि जिसने भाषिक प्रयोगों में इतनी नवीनता पैदा की है, अनुभव और अर्थ के नये क्षितिज अचानक ही इस तरह से उद्घाटित होते हैं कि लगता है अरे, इस बिल्कुल चिरिंचित दुनिया को हम कितने नीरस ढंग से जानते और जीते रहते हैं।'[1] यह एक विरल भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करती है, जो विनोद कुमार शुक्ल के प्रयोगों में जीवन्त हो उठी है। कहीं-कहीं तो वह कविता का आस्वाद देती है। वैसे तो पहले भी कई उपन्यासों को कवित्वपूर्ण या काव्यात्मक कहा गया है लेकिन 'दीवार में एक खिड़की रहती थीं' की काव्यात्मकता सिर्फ भाषा के स्तर पर नहीं है, बल्कि पूरे विजन के स्तर पर है। 'दीवार में खिड़की रहती थी' की काव्यात्मकता चीजों, घटनाओं और सम्बन्धों को इस तरह अनुभव करने में है जिसे आम तौर पर हमारा कथा साहित्य नहीं करा पाया। दरअसल भाषा सिर्फ अनुभव की अभिव्यक्ति भर नही, वह अनुभूति की प्रक्रिया को भी निर्धारित करती है।'[2] कहना होगा कि यह उपन्यास हमारे अनुभव करने के ढंग को बदल देती है। हम अपने आस-पास के वातावरण को नये तरीके से, नयी संवेदना से देखने लगते हैं। उसमें वह देखने की, ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं जो अब तक 'अनदेखा' था पर वहाँ मौजूद था। अमूर्तन के स्तर पर कविता यही रोल अदा करती है, इसी अर्थ में यह उपन्यास काव्यात्मक है। पर काव्यात्मक होने के बावजूद यह गद्य का एक प्रतिमान प्रस्तुत करती है। 'इसका गद्य इतना ठोस, चुस्त और सुबोध है कि प्रेम जैसा अमूर्त विषय भी नितान्त मांसल और आत्मीय लगता है।'

---

1. हंस, मार्च 99 में रवीन्द्र त्रिपाठी का लेख, पृष्ठ 89
2 हस, मार्च 99 मे रवीन्द्र त्रिपाठी का लेख, पृष्ठ 89

कुल मिलाकर 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' एक घरेलू प्रेमाख्यान है जो अपने मिजाज में खांटी देसी यानी भारतीय है। नामवर जी के अनुसार यह उपन्यास, चले आ रहे एक रेखीय ढाँचे को तोड़ता है। टालस्टाय के उपन्यासों की भाँति छोटी-छोछी बातें, रोजमर्रा के ब्यौरे यहाँ भी हैं। उनके शब्द हैं, "'दीवार में एक खिड़की रहती है', एक उपभोक्ता समाज में एक प्रति संसाार की रचना करता है। इस यांत्रिक जीवन के विरुद्ध एक मिठास, गरमाई का आभास खिड़की के बाहर कराता है।"[1] अन्त में प्रभात रंजन के शब्दों में कहें, तो 'इस उपन्यास का संसार एक अभाव के जीवन की दुख की कथा नहीं है, बल्कि उसमें अभावों से भरे जीवन के छोटे-छुटे सुखों के बेजोड़ संस्मरण हैं जिसमें प्रेम और अपनेपन का सम्मिश्रण दिखाई देता है। उपन्यास 'आज की सुबह' के वर्णन से शुरू होता है और एक सबेरे समाप्त हो जाता है। इस बीच उपन्यास में अनेक दिन-रातों के सपने हैं। भूले-भटके प्रसंग हैं। दाम्पत्य जीवन है और उसके तमाम प्रसंग हैं—प्रेम और विरह के प्रसंग।'[2]

---

1. कथा क्रम, 98 में नामवर सिंह का व्याख्यान, हंस मार्च 99
2. बहुवचन, एक पृष्ठ 231

मुझे चाँद चाहिए

सुरेन्द्र वर्मा हिन्दी रंगमंच एवं नाट्य साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि ही नहीं है, वरन् इस औपन्यासिक उपलब्धि के बाद उन्हें सीधे प्रसाद, मोहन राकेश की उस परम्परा में रखा जा सकता है, जिन्होंने हिन्दी 'नाटक' एवं 'उपन्यास' साहित्य दोनों को समान रूप से समृद्ध किया है।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास की अन्तर्वस्तु एक कलाकार का संघर्ष है। यह संघर्ष भी दो स्तरों पर चलता है—एक स्तर पर कलाकार का 'व्यक्ति' के रूप में अपने परिवार, निजी सम्बन्धों, कला के बाजार और विपरीत सामाजिक परिस्थितियों से कठोर संघर्ष, दूसरे स्तर पर एक 'कलाकार' के रूप में अपने माध्यम, कला-मूल्यों, कला-परिवेश तथा अपनी कलात्मक लालसा और निजी क्षमता के बीच संतुलन का विकट आत्म संघर्ष। इस दृष्टि से यह संघर्ष जितना वाह्य है, सामाजिक, उतना ही निजी और आभ्यान्तरिक भी। यह संघर्ष एक खतरनाक आत्मसंघर्ष भी है। इस तरह यह उपन्यास सामाजिक संघर्ष से लहूलूहान कलाकार की सूली में बिंधी हुई आत्मा का विलक्षण एवं जीवन्त दस्तावेज है। इस मूल अन्तर्वस्तु की अभिव्यंजना के लिए लेखक ने रंगमंच और सिनेमा के कला माध्यमों को चुना है। इस कजात्मक पृष्ठभूमि में ही 'मुझे चाँद चाहिए' की विलक्षण किन्तु त्रासद प्रेम कहानी का धूप-छाँही ताना-बाना बुना गया है।

54, सुल्तानगंज से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से लेकर सिनेमा संसार तक फैली इस प्रेम कहानी में कलाकार के संघर्ष को यों तो अनेक चरित्रों के माध्यम से व्यंजित किया गया है, लेकिन इस अन्तर्वस्तु की सबसे तीखी और बहुमुखी व्यंजना जिन दो पात्रों के माध्यम से होती है वे हैं—उपन्यास की नायिका वर्षा वशिष्ठ उर्फ सिलबिल और नायक हर्षवर्धन। इनके अलावा घर-परिवार, सहयोगियों एवं मित्र-मण्डली से लेकर दोनों कला माध्यमों और उनके व्यवसाय बाजार से जुड़े अनेकानेक जीवन्त और दिलचस्प पात्र हैं, तो वहीं वर्षा के लिए दिव्या उसकी मार्गदर्शक और आत्मीय भावनात्मक सम्बल है, जिसने उसके अन्दर भरे ज्वार को मुक्त करने का सही रास्ता सुझाया था क्योंकि ''अगर मिस

दिव्या कत्याल उसके जीवन में न आतीं, तो वह या तो आत्म हत्या कर चुकी होती या रूँ-रूँ करते चार-पाँच बच्चों को संभालती, किसी क्लर्क की कर्कश, बोसीदी जीवन-संगिनी होती।''[1] यहाँ तक कि इन मानव प्राणियों के साथ ही तोता 'अनुष्टुप' भी अपने छन्दों से बड़ी रोचक और सटीक टिप्पणी करता है—

[''झिल्ली, सीताराम बोला''

''किशोर गायत्री-मन्त्र पढ़ लिया''

''सिलबिल धीरे बोलो''

''सिलबिल, तुलसी में पानी नहीं दिया''?]

पर इस सन्दर्भ में स्पष्ट है कि ''सिलबिल के साथ अनुष्टुप का सम्बन्ध वैसा ही था, जैसे बाघिन का हिरनी से होता है।''

उपन्यास का शीर्षक 'मुझे चाँद चाहिए' अल्बेयर कामू के नाटक 'कैलिगुला' से लिया गया है, जिसका नायक कालिगुला और उसके चरित्र को निभाने वाला हर्षवर्धन भी कहता है कि—

''हेलिकान, मैं सिर्फ चाँद चाहता हूँ।''

चाँद की यह कामना अप्राप्य आकांक्षा का प्रतीक है। यह अनायास ही नहीं है कि सुरेन्द्र वर्मा ने उपन्यास के समर्पण पृष्ठ पर आरम्भ में ही कालिगुला का यह संवाद उद्धृत किया है जो उनकी लेखकीय लालसा और उनके नायक हर्ष की त्रासद नियति को व्यंजित करता है—

> ''अचानक मुझमें असम्भव के लिए आकांक्षा जागी। अपना यह संसार काफी असहनीय है, इसलिए मुझे चन्द्रमा, या खुशी चाहिए—कुछ ऐसा जो वस्तुतः पागलपन-सा जान पड़े। मैं असम्भव का संधान कर रहा हूँ...... देखो, तर्क कहाँ ले जाता है—शक्ति अपनी सर्वोच्च सीमा तक, इच्छा शक्ति अपने अनन्त छोर तक। शक्ति तब तक सम्पूर्ण नहीं होती, जब तक अपनी काली नियति के सामने आत्म समर्पण न कर दिया जाये। नहीं, अब वापसी नहीं हो सकती। मुझे। आगे बढ़ते ही जाना है...''[2]

---

1 मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-13

2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-5

कहना न होगा कि वर्षा वशिष्ठ के ये शब्द जहाँ उसकी महत्वकांक्षा, उसके स्वप्न, उसकी जीवन दृष्टि को उभारता है, वहीं समकालीन सामाजिक विडम्बना की क्रूर तस्वीर को पूरी क्रूरता एवं तीखेपन के साथ व्यक्त करता है। इसलिए पंकज विष्ट के ये वाक्य पूर्वाग्रह से लदे हुए हैं—

> ''जहाँ तक वैभव-प्रेम का सवाल है वर्षा को जो है सो तो है ही, पर लेखक को यह वैभव-प्रेम इस हद तक पूरे उपन्यास में छलछलाता है कि वितृष्णा से भर देता है।''[1]

वस्तुत: वर्षा वशिष्ठ के रूढ़िवादी निम्न मध्यवर्गीय परिवेश से उस आकांक्षा एवं विडम्बना के तनाव में ही 'मुझे चाँद चाहिए' खुलता है और विकसित होता है। उसके परिवार की सात पीढ़ियों में किसी ने वैसा नहीं किया जैसे वह करती हे। उसकी बड़ी बहन गायत्री की प्रशंसा करते हुए परिवार और आस-पास के लोग उसे 'सुग्गा' या 'रामजी की गाय' कहते-समझते हैं तबकि उससे लोग सशंकित और आतंकित रहते हैं क्योंकि अपने बारे में निर्णय की छूट वह प्राय: अपने लिए ही सुरक्षित रखती है। प्रभा खेतान अपने लेख में वर्षा वशिष्ठ के चरित्र को लेकर लिखती है—''मुझे चाँद चाहिए, की नायिका—वर्षा वशिष्ठ का सर्जक पुरुष है। उपन्यास में गजब की कला चेतना है, एक सचेष्ट और सजग रूप से बुना गया ताना-बाना। रचना धर्मिता का ऐसा संतुलन जो मंच के सफल निर्देशक की ओर इंगित करता है। क्लाइमेक्स, ऐंटिक्लाइमेक्स....इतनी संयत, सुदृढ़ भाषा पुरुष की हो सकती है क्योंकि विरासत में उसे कालिदास मिले हैं, किन्तु जहाँ तक उपन्यास की नायिका वर्षा वशिष्ठ का सवाल है, तो ऐसा लगता है मानो लेखक एक प्रतिभा का निर्माण कर रहा हो.....मगर सारे प्रयासों के बावजूद वह वर्षा वशिष्ठ में प्राण नहीं फूँक पाता। वर्षा वशिष्ठ होकर नहीं सोच पाता। वर्षा वशिष्ठ स्वयं नहीं चल रही है, लेखक उसको महत्वाकांक्षाओं की पारम्परिक सीढ़ियों पर चढ़ा रहा है। यहाँ तक कि हॉलीवुड ले जाता है और उसके बाद वह बच्चे की माँ बनती है। क्या लेखक के मानस में वही एक घिसा-पिटा मुहावरा काम नहीं कर रहा है कि तुम कुछ भी करो, कहीं भी जाओ कितनी भी ऊँचाई पर......लेकिन पुरुष के बिना अधूरी हो, मातृत्व ही तुम्हारी वास्तविक सफलता है।[2] इतना ही नहीं वह लिखती है—''उस लिजलिजी पुरुष—परम्परा का प्रतीक वह

---

1. हंस, जुलाई, 94 अक—पकज विष्ट—''तो मुझे चाँद चाहिए''
2. हंस, जून, 1994 अंक-दो नये उपन्यासो के बहाने नारी चेतना की पड़ताल-प्रभा खेतान

बच्चा है.....।''[1] पर कहना न होगा कि प्रभा जी ने इन शब्दों में उनके अंध नारीवादी मानदण्डों की प्रतिध्वनि है, जिसकी पृष्ठभूमि मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' की नायिका 'मंदा' है जो ''माँ नहीं बनी, उसके प्रारब्ध में विवाह नहीं है।'' जिसकी पृष्ठभूमि गाँव देहात है। जबकि इन दोनों के कथा संसार एवं परिस्थिति में अन्तर है। मैत्रेयी की नायिका का प्रेमी कभी लौटकर उसके पास नहीं आता, जबकि वर्षा का प्रेमी 'हर्ष' उसके सारे संघर्ष में, उसें पूरे चरित्र निर्माण में, उसकी पूरी सोच में उसके साथ है। हर्ष की 'अंतरंगता' और एक तरह से उसके पूरे परिवार की सहमति और प्यार पाकर उसे लगता है कि सारे संघर्ष और भटकाव के बावजूद एक राह मिल गयी है, जिस पर किसी का अवरोध उसे स्वीकार नहीं—

> ''मेरे शरीर में ऐसी उन्मत्त बयार बन्दी थी, हर्ष ने अपने स्पर्श से ये झरोख खाले हैं, उसने सोचा।''

इस प्रकार मैत्रेयी की नायिका 'मंदा' का प्रेमी जहाँ उसके जीवन में एक रिक्तता भरता है वहाँ वर्षा की सशरीर उपस्थिति ने वर्षा को कलात्मक एवं भावात्मक दोनों दृष्टियों से समृद्ध किया—

> ''.....यह पुरुष मेरा अपना है, संसार में मेरा निकटतम् यही है। मेरे स्त्रीत्व की सारी गहन अनुभूतियाँ इसी के साथ जुड़ी हैं। यह मेरे अंधेरे क्षणों का साथी और सहारा रहा है........''[2]

पुरुष द्वारा सृजित होने के कारण वर्षा वशिष्ठ जैसी स्त्री को जो नारी—प्रभा खेतान—सही नहीं मानती, वह एक नारी—मन्नू भण्डारी—द्वारा रचित 'दो कलाकार' एवं 'जीती बाजी की हार' जैसी कहानियों की नारियों को क्या सही मानेगी, जो शिक्षित, मार्डन होने के बावजूद मातृत्व के लिए तरस रही हैं। फिर क्या ये उषा प्रियंवदा की 'रूकोगी नहीं राधिका' की राधिका को उतनी ही पिछड़ी हुई नहीं मानेंगी, जो हरचन्द पुरुष की आकांक्षिणी बनी रहती है। वैसे 'मुझे चाँद चाहिए' की पुरुष निर्मित नारी—वर्षा वशिष्ठ की बावत एक पुरुप आलोचक पंकज विष्ट की टिप्पणी भी यहाँ मौजू हैं—

> ''स्त्री के अंतरंग का उद्‌घाटन इतने ग्राफिक ढंग से किया गया है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों यह उपन्यास किसी स्त्री ने लिखा हो।[3]

---

1. वही
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-119
3. समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-49 (विजय मोहन सिंह का लेख ''एक तलाशहीन मोहक यात्रा'')

सच तो यह है कि मातृत्व एवं पत्नीत्व छोड़कर स्त्री को प्रगतिशील बनाने की दृष्टि ही बेसिकली गलत है। यह ईहा तो स्वाभाविक है। बस जरूरत है पुरुष की भी स्वाभाविक ईहा-पितृत्व व पतित्व को केन्द्र में लाया जाये, जो नजरअंदाज होता रहा है, जिससे मातृत्व, पत्नीत्व आदि विचार नारी को बोझिल बनाते रहे हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मातृत्व-पत्नीत्व का ग्लोरिफिकेशन करके नारी के भावात्मक शोषण को बन्द किया जाय। सुखद सत्य है कि वर्षा वशिष्ठ के साथ इन सन्दर्भों में सुरेन्द्र वर्मा की संकल्पना इसी राह पर है।

स्त्री पर पड़ी पुरुष वर्जना मूलकता को खत्म करना भी जरूरी मुद्दा है, जो पूरी हिम्मत व साफ सोच-समझ के साथ वर्षा वशिष्ठ करती है। बचपन से लेकर अन्त तक स्त्री होने के कारण करणीय-अकरणीय के सभी पारस्परिक विधिनिषेधों को तोड़ने के सफल प्रयत्न इसके प्रमाण हैं। वर्षा का चरित्र एक नयी तरह की औरत का मॉडल है जिसे आधुनिक कहकर परिभाषित नहीं किया जा सकता। वह मध्यवर्गीय पारम्परिक औरत से अलग है और साथ ही पारम्परिक भी। इस तरह उसमें 'विरुद्धों का सामंजस्य' है। मध्यवर्गीय औरत की पारम्परिक भूमिका को अस्वीकार कर वह आदमी जिन्दगी को अपनी तरह से जीने का निर्णय करती है—

''मेरा व्यक्तिगत जीवन मेरा सरोकार है।''[1]

महानगरीय आधुनिक स्त्री के रूप में उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। दिल्ली में हर्ष के साथ गणतन्त्र दिवस के दिन उसका पहला मौन सम्पर्क घटित होता है और यह समागम उसके भीतर न तो 'पापबोध' जगाता है न यौन-उच्छृंखता की ओर प्रेरित करता है। यहाँ वर्षा उस पारम्परिक स्त्री से अलग हो जाती है जो यौन-शुचिता को ही अपना आदर्श मानती है और वह उस माड स्त्री से भी अलग है जो यौन-शुचिता के विरोध में उन्मुक्त यौनाचार के सिद्धान्त में जीने को विकल्प मानती है। पारम्परिक भारतीय स्त्री की अस्मिता पर सबसे गहरा आघात तब होता है जब हर्ष की मृत्यु के बाद वर्षा उसके बच्चे की अनब्याही माँ बनती है। इस समय वह हिन्दी फिल्मों की नायिका के रूप में अपने शिखर पर हैं और

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-124

कैरियर की दृष्टि से उसका यह निर्णय उसके लिए घातक भी हो एकता है। लेकिन हर्ष के साथ अपने भावात्मक लगाव के कारण वह ऐसा निर्णय करती है—

> ''वह सिर्फ हर्ष की ही स्मृति नहीं, उसका अपना भी अंश है। वह इन दोनों की साझी प्रतिबद्धता है। अपनी कला निष्ठा के बाद वह वर्षा का सबसे महत् मानवीय गठबन्धन है।''1

यहाँ एक ओर तो वह परम्परा को तोडती है तो दूसरी ओर हर्ष के प्रति अपने अति लगाव के कारण उसकी मृत्यु के बाद भी भावात्मक स्तर पर उसी के साथ बँधी रहती है। दूसरा चेहरा पारम्परिक भारतीय औरत के चेहरे का ही एक अंश है। यही नहीं, प्रारम्भिक जीवन में जिस पिता एवं भाई से उसे प्रताड़ना मिलती है, उसके प्रति भी वह बेहद उदार हो जाती है और छोटे भाई और बहन के प्रति 'अपना दायित्व' निभाती है। यहाँ भी वह ठेठ पारम्परिक भारतीय औरत का प्रतिनिधि चरित्र है जो अपने कैरियर एवं भविष्य को लेकर व्यावहारिक है और जिसकी भावात्मक जड़े परिवार और परम्परा में विद्यमान हैं। वर्षा के चरित्र की दो सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं—उसकी दृढ़ता और संतुलित नमनीयता। उसका जन्म उत्तर प्रदेश के एक पिछड़े हुए कस्बे शाहजहाँपुर के ऐसे परिवार में हुआ था जो ''पैसे की कलेजा निचोड़ सनातन कमी'' के बावजूद कट्टर रूढ़िवादी मूल्यों में जकड़ा हुआ था। उपन्यास के प्रथम पैराग्राफ में ही उसकी सम्भावित नियति और उससे उबरने का संकेत व्यंजित हैं—

> ''अगर मिस दिव्या कत्याल उसके जीवन में न आती, तो वह या तो आत्महत्या कर चुकी होती या रूँ-रूँ करते चार-पाँच बच्चों को संभालती किसी क्लर्क की कर्कश, वोसीदी जीवन-संगिनी होती।''

ऐसा नहीं है कि दिव्या के उसके जीवन में आने से ही वह इस आशंकित नियति से मुक्ति पा लेती है। उसे एक लम्बे समय तक, यहाँ तक कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और राजधानी के रंगमंच पर असाधारण उपलब्धियों के बाद भी, लगातार प्रताड़ना, प्रतिबन्धों और मारपीट को झेलते हुए जीवन और कला मार्ग पर अपना चुना हुआ रास्ता बनाना पड़ता है। इन तमाम असहनीय यातनाओं के बीच वह एक बार

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-553

आत्महत्या का असफल प्रयास भी करती है। निस्संदेह दिव्या उसकी मार्गदर्शक और आत्मीय भावनात्मक सम्बल है, जिसने उसके अन्दर भरे ज्वार को मुक्त करने का एक सही रास्ता सुझाया था—

> "तुम्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक माध्यम चाहिए। वह क्या होगा, यह मैं अभी पक्के तौर पर नहीं कह सकती। पर एक बार रंगमंच की कोशिश कर लेने में कोई हर्ज नहीं है।"[1]

आत्माभिव्यक्ति का यह ज्वार, लक्ष्य भेद की एकाग्रता और चरित्र की दृढ़ता के साथ अतिशय नमनीयता के नाजुक संतुलन साधने की असाधारण क्षमता यदि उसमें न होती वह शाहजहाँपुर से शाहजहाँनाबाद ओर चित्रनगरी बम्बई तक की विलक्षण उपलब्धियाँ हासिल न कर पाती। प्रायः चुप रहने वाली वर्षा उर्फ सिलबिल में बचपन से ही मौन आक्रोश और विद्रोह के जबर्दस्त तेवर थे। इसकी पहली अभिव्यक्ति तब हुई जब सिलबिल अपना नाम यशोदा शर्मा से बदलकर वर्षा वशिष्ठ रखती है। इसके बाद दिव्या के सानिध्य में मिश्री लाल डिग्री कालेज, शाहजहाँपुर और लखनऊ के रंगमंच पर अभिनय से लेकर राजधानी के एन. एस. डी. में प्रवेश लेने तक उसने हर विपरीत पारिवारिक ओर सामाजिक परिस्थितियों का उत्कट दृढ़ता के साथ मुकाबला किया। कला मार्ग पर अपने एकाग्र लक्ष्यभेद में संलग्न सिलबिल के लिए 'मिट्ठू' के प्रति आकर्षण भी अवरोध नहीं बन पाता। यहाँ तक कि आगे चलकर हर्ष और सिद्धार्थ के साथ उसके प्रेम सम्बन्ध और उनके उतार-चढ़ाव भी उसकी कला-साधना और अपने माध्यम को साधने के आत्मसंघर्ष में बाधा नहीं बन पाते। वह अपने निजी, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के साथ-साथ कलात्मक मूल्यों के प्रति भी पूरी तरह ईमानदार और निष्ठावान बनी रहती है। अपनी साधारण नमनीयता और तार्किक सन्तुलन के फलस्वरूप वह प्रत्येक विपरीत परिस्थिति की अन्धी खाई में से उबरकर व्यक्तिगत सफलता और कलात्मक बुलंदियों के चाँद छू लेती है।

इस उपन्यास की चरित्र संघटना में दूसरा प्रमुख पात्र हर्ष है, जो अत्याधुनिक और सम्पन्न आई. ए. एस परिवार का लाडला इकलौता बेटा है, जिसका 'ईगो' भी उसकी बहन सुजाता के शब्दों में 'किंगसाइज' है। एम. ए. की शिक्षा अधूरी छोड़कर तथा कई-कई भौतिक सम्भावनाओं को ठुकराकर सिर्फ अभिनय की खुशी पाना चाहता है—उसे सिर्फ अभिनय की कला का चाँद चाहिए। अथक प्रयत्नों के

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-28

बाद अपनी मनचाही फिल्म 'मुक्ति' के शुभारम्भ के दिन सेट पर जाते हुए वर्षा से हाथ मिलाकर हर्ष 'कालिगुला' का संवाद बोलता है।

''होलिकान, मैं सिर्फ चाँद चाहता हूँ''

और वह उसे नहीं मिला। मुक्ति बन नहीं पायी, जबकि अभिनय कला का तो वह स्वयं चाँद था। फिल्म ''कम्पन'' की भूमिका के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार पा चुका था। उसके अभिनय को लेकर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक एवं नाट्य-कलाओं के मास्टर डॉ. अटल की टिप्पणी है—

> ''हर्ष का रोल निभाने का थ्रस्ट मुझे ऑलिवियर की याद दिलाता है, उसके समृद्ध स्वर और डिस्कशन में बर्टन की नफासत एवं चमक है। ब्रेडो की तरह हर्ष का ग्राफ टेढ़ा-मेढ़ा नहीं जाता। उसकी शैली क्लिफ्ट की तरह प्रखर, जटिल तथा सूक्ष्म है। वह डिनीरो के समान अपने चरित्र में बारीक नक्काशी करता है और डीन की तरह उसमें अपनी भूमिका से परे जाने की सामर्थ्य है। वह निस्संदेह आज के भारत का सर्वश्रेष्ठ अभिनेता है।''[1]

अब और क्या चाहिए—

> ''किसी भी दृष्टि से हर्ष को आकाश पर होना चाहिए था।''[2]

पर उसे आत्महत्या करनी पड़ी—

> ''वह चौपाल के धूलपरे फर्श पर सूखी विष्ठा के बीच पड़ा था।'' उसकी कलात्मक क्षमता और सफलता के बीच ''खलनायक की भूमिका निभाने वाले थे, उत्कृष्ट कलाशून्य और समझौता विरोधी कार्य शैली।''[3]

यह युगबोध भी कितना भयावह है कि आज कोई एक दो व्यक्ति खलनायक नहीं रहे। पूरा जमाना ही खलनायकत्व में इस तरह शामिल है कि मूल्यवत्ता ही खलनायक बनने के लिए अभिशप्त है। इससे ज्यादा

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-541
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-546
3. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-524

त्रासद और क्या हो सकता है। सुरेन्द्र वर्मा ने हर्ष के चरित्र विन्यास के माध्यम से इस रूप में आज के युग का सबसे ज्वलन्त एवं संवेदनशील प्रश्न उठाया है और इसे यथार्थ की अधिकतम सम्भावनाओं के मध्य पूरी सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया है। दिव्या ने यदि उसमें रंगमंच के प्रति संस्कार का निर्माण किया तो डॉ. अटल का चरित्र जो कला एवं रंगमंच के प्रति समर्पित एक ईमानदार, सचेष्ट, जागरूक अध्यापक की विशिष्टताओं से आप्लावित है, वर्षा के रंगमंचीय अनुभों को गम्भीरता एवं सहजता में गुम्फित करके अभिनव तराश दिया। वर्षा ने उनके सिद्धान्तों एवं मूल्यों को अपनी जीवन साधना एवं कला साधना में पूरी तरह आत्मसात कर लिया था।

फिल्म दुनिया से जुड़े हुए अनेकानेक चरित्र भी मीरा, नारंग, श्रीमती कुलकर्णी, हुसैन भाई, नीरजा, कंचन प्रभा आदि वर्षा के चरित्र को नया पार्श्व एवं जीवन्त बनाने में सहायक हैं, तो 'झुमकी' उसके लिए एक मानसिक-शारीरिक एवं भावात्मक साथी है।

अन्त में चरित्र विन्यास पर पड़ताल समाप्त करने के पूर्व 'दिव्या कत्याल' के चरित्र को भी समझ लेना प्रासंगिक है, क्योंकि उसके चरित्र की उपस्थिति भी इस पूरे उपन्यास के कलेवर को बहुत गहरे अर्थों में एवं दूर तक प्रभावित तो करती ही है, नायिका वर्षा के चारित्रिक निर्माण की प्राथमिक पाठशाला रही है। वह उसके लिए 'इमोशनल एंकर', 'फ्रेण्ड', 'फिलॉसफर और गाइड' सभी रही है जिसने उसके अन्दर भरे ज्वार को मुक्त करने का सही रास्ता सुझाया था। दिव्या कत्याल से उसका सम्पर्क धीरे-धीरे उसके जीवन की दिशा ही नहीं बदलता एक असम्भव की आशंका भी उसमें रोप देता है।

इस प्रकार वर्षा का चरित्र-विकास लगातार एक आरोही क्रम में एक से एक बड़ी सफलता की ओर बढ़ता है जो कभी लेखकीय पक्षधरता भी लगती है जबकि हर्ष के चरित्र में उतार-चढ़ाव अधिक है। वर्ग-चरित्र हर्ष और वर्षा दोनों में समानान्तर रेखाओं की तरह बढ़ता है।

वर्षों के साथ-साथ लगभग समान पृष्ठभूमि के चतुर्भुज में भी ये खूबियाँ हैं। चतुर्भुज एक नौटंकी में शुरुआत करने वाले चरित्र की जिजीविषा है। चतुर्भुज की ठेठ कर्मठता पहले उसे एन. एस. डी. में स्थापित करती है और फिर रिपर्टरी में और आगे चलकर वर्षा की जरा सी मदद से बम्बई में एक स्तर पर वर्षा का पुरुष प्रतिरूप है और इसी कोण से भारतीय समाज में पुरुष और स्त्री की सामाजिक स्थिति की तुलना की जा सकती है। चतुर्भुज ने सुशीला से शादी की जब नौटंकी में था। महानगर के जीवन में कला

के बीच और बहुत कुछ उसी के माध्यम से अपना भावात्मक आधार खोजने की कोशिश करता है। पहले अनुपमा फिर रम्भा जैसे अनुभवों से गुजरकर वह अश्क के 'शहर में घूमता आईना' के 'चेतन' की तरह फिर अपनी पत्नी सुशीला की ओर लौटता है। चतुर्भुज के अतिरिक्त राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय एवं रिर्पटरी से जुड़े अन्य चरित्र विन्यास में रीटा, अनुपमा, कल्याणी, वर्तिका देसाई, ममता लहरिया आदि कहीं न कहीं से वर्षा के चरित्र निर्माण में ही योगदान कर रहे हैं।

कहना न होगा कि 'मुझे चाँद चाहिए' हिन्दी के परम्परागत उपन्यासों से एकदम अलग है। अन्तर्वस्तु के स्तर पर यह विशिष्ट एवं मौलिक उद्भावन क्षमता वाला उपन्यास तो है ही, शिल्प एवं रूप के स्तर पर भी यह एक विशिष्ट कलाकृति है। चित्रांकन में लेखक की अद्भुत क्षमता के साथ ही इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशिष्टता है उसके शिल्प का नयापन, भाषा की विलक्षण चमक और शैली की मौलिकता। इस उपन्यास के रूप व शिल्प के सन्दर्भ में सर्वप्रथम बिन्दु इसका शीर्षक है—'मुझे चाँद चाहिए'। इस उपन्यास के कलेवर में सुरेन्द्र वर्मा ने 'चाँद' के इतने बहुआयामी एवं व्यंजनापूर्ण प्रयोग ऐसी खूबसूरती से किये हैं कि कृति के सभी अंग-उपादन एवं दृष्टि व कोण इसकी चाँदनी की छटा से आलोकित हो उठे है। यह प्रयोग अपनी प्रतीकात्मकता में कलात्मक तो है ही, गहन वैचारिकता से संवलित भी है। उपन्यास खुलते ही प्रथम पृष्ठ पर कालिगुला के उद्धरण पर नजर पड़ती है—

> ''अचानक मुझमें असम्भव की आकांक्षा जगी। अपना यह संसार काफी असहनीय है, इसलिए मुझे चन्द्रमा या खुशी चाहिए— कुछ ऐसा, जो वस्तुतः पागलपन-सा जान पड़े....।''

और नायिका वर्षा वशिष्ठ का बचपन से ही प्रायः सब कुछ करना उसके पूरे परिवार को पागलपन ही लगता रहा—चाहे दसवीं में पढ़ते हुए यशोदा शर्मा से वर्षा वशिष्ठ का नाम परिवर्तन हो, चाहे घर के कार्य के साथ ट्यूशन-नौकरी करने वाली शर्मा परिवार की सात पीढ़ियों में वह पहली लड़की हो अथवा शादी-व्याह करके घर बसाने के बदले नाटक करने का दीवानापन हो। इसी तरह आगे फिल्मों की सफल तारिका बन जाने के बाद बंगले के बदले फ्लैट में रहना, छोटे बजट की सार्थक फिल्मों तथा नाटकों में समय गँवाना भी सबके बीच पागलपन ही समझा गया और सबसे बड़ा पागलपन तो माना गया—प्रेमी हर्ष के मर जाने के बाद अपने गर्भ में पलते उसके बच्चे की बिन ब्याही माँ बनने का निर्णय।

अब सवाल उठता है कि जिस चाँद की बात लेखक अपनी नायिका के सन्दर्भ में करता है वह चाँद वस्तुतः है क्या? बम्बई में व्यावसायिक सिनेमा की गोरी और गरिमामय नायिका वर्षा को कुछ इस भाव से देखती है जैसे कह रही हो—

''यह शक्ल लेकर स्टार बनना चाहती है।''

और तब उसकी कल्पित उपेक्षा का मन ही मन उत्तर देते हुए वर्षा कहती है—

''आप तो जानती हैं आकांक्षाओं के पीछे अक्सर कोई लॉजिक नहीं होती.....।''[1]

और दूसरों की तरह वर्षा की आकांक्षाएँ ही उसका अपना चाँद है, जिसके दो पार्श्व हैं—अभिनय-प्रेम और हर्ष-प्रेम। ये दोनों वे खुशियाँ या चाँद हैं, जिसके बिना कालिगुला की तरह उसके लिए 'दुनिया काफी असहनीय' होती वह पूरे उपन्यास में इन्हीं दोनों पार्श्वों के लिए जीती हुई नजर है। हर्ष की मृत्यु पर ''मेरे वास्ते चन्द्रमा हमेशा के लिए बुझ गया.....''[2] के रूप में प्रतीक संकेत काफी बेवाक व स्पष्ट है, पर अभिनय-प्रेम के लिए चाँद का प्रयोग भी पूरी मनोहरता के साथ स्पष्ट हुए बिना नहीं रहते—पहली फिल्म 'जलती जमीन' के शुरू होने पर ''चाँद निकल आया था। दूर-दूर तक दिखाई देते बालू के ढूहों पर चाँदनी फैली थी।''[3] तथा शूटिंग पूरी हो जाने के बाद ''बगल में खेजरे के पेड़ थे। ऊपर गोलाकार चाँद।''[4] ये दोनों ही यूँ देखा जाय तो असम्भव आकांक्षाएँ नहीं हैं, पर हर्ष को पाकर भी न पा सकने की परिणति अपनी औपन्यासिकता में असम्भव का एहसास दिला जाती है, जो एक त्रासदी का निर्माण कर कसक बनकर चुभाती रहती है। इसी के साथ उसकी अपनी कला-निष्ठा, अभिनय-प्रेम जुड़ी हैं। कला-फिल्मों के लिए अतिरेकपूर्ण और जुनून की हद तक पहुँचे हुए हर्ष के समर्पण का हस्र वह देखती रही है। वास्तव में, यही उपन्यास का केन्द्रीय विषय है और बहुत स्पष्ट है कि अभिनय के इस चाँद को कलाकारों के कोण से देखा गया है—प्रमुखतः प्रशिक्षित कलाकारों के कोण से। इसके लिए 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' पर पूरे दो सौ पृष्ठ रखकर कलाकारों की प्रशिक्षण में उनकी अथक मेहनत, समर्पण, लगन व

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-346
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-547
3. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-301
4. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-304

मुस्तैदी से मिली-जुली सशक्त और उससे आती कला क्षमता का ऐसा सजीव चित्र उपस्थित किया गया है कि वह ''राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' का एक प्रवृत्तिगत दस्तावेज तो बना ही है, पूरी रचना में विश्लेषित अभिनय कला की व्याख्या से यह उपन्यास, बकौल श्री रवीन्द्र त्रिपाठी,

''रंगमंच के प्रशिक्षण के लिए एक जरूरी पाठ्य पुस्तक की तरह पढ़ा जा सका है''[1]

रचना के इस चुनाव व तदुपयुक्त निर्वाह को समझ लेने के बाद ''कला के सामाजिक पहलू के न छूने'', ''रंगमंच का समाज से रिश्ता'' न बताने तथा ''रंगमंच को दर्शक न मिलने के कारणों में न जाने'' जैसे पंकज विष्ट के प्रश्न-कृति में उठाये गये प्रश्नों को नजरअंदाज करके उस पर अपनी माँगों के थोपने के कारण अवान्तर बन जाते हैं। वैसे कलाकार के जीवन से जुड़ी लगभग सभी सम्भ्व स्थितियों—समस्याओं का यथार्थ अंकन इसमें हुआ है, जो कलाकार के सामाजिक पहलू के रूप में ''कला का सामाजिक पहलू'' है। इसे उन सभी पात्रों के माध्यम से समझा जा सकता है, जिन्हें लेखक ने ''अनुभव के संधानी'' कहा है। इन सभी की कलात्मक अनुरक्ति शंकाओं-विवादों से परे हैं। फिर भी ''कलात्मक रंगमंच के अग्रदूत अपने बूते पर दिल्ली में सिर्फ सर छिपाने का ठिया ही पा जायें, तो बहुत हैं।'' 'अंधेर नगरी' के सेट पर लटका 'जुत्थी' का शव इन कलाकारों की ऐसी नियति के जिन जलते सवालों की ओर उँगली उठाता है वे नितान्त सामाजिक ही हैं। इसी के बरक्स अपने अन्दर के कलाकार की निर्मम हत्या करके व्यावहारिकता के नाम पर व्यावसायिक होने की सांसारिक परिणतियों को झेलते रंगजगत, स्नेह, मंच, कला के दीवाने चतुर्भुज तथा इन्हीं जैसे नीलकान्त-चिन्तामणि आदि अनेक कलाकार भी आज के दौर में कला के सामाजिक अभिशाप की दर्दनाक दास्तान ही कहते नजर आते हैं। ऐसे में हर्ष के टूट जाने के हद तक की अक्खड़ता तथा इन कलाकारों की स्वयं को मारकर पैदा की गयी नमनीयता के बीच वर्षो वशिष्ठ आज के दौर की एक आदर्श स्थिति की हामी भरती खड़ी है। वह धैर्य व सहनशीलता के साथ व्यावसायिक समझौते करके स्टार बनने की सफलता पा लेती है। इसके लिए वर्षा ने सतत् संघर्ष किया है जिसकी सही नोटिस परमानन्द श्रीवास्तव जैसे समीक्षकों ने ली है लेकिन श्री विजय मोहन सिंह का मानना है कि—

''जहाँ तक संघर्ष का प्रश्न है, वर्षा के सन्दर्भ में वह है ही नहीं। कुल मिलाकर पूरे उपन्यास में वह ''लालकालीन-कन्या'' बनी रहती है। जैसे ही कोई समस्या आती है,

1. हंस, जुलाई, 1994

कोई उद्धारकर्ता तुरन्त अवतरित हो जाता है।...........खुल जा सिमसिम घटित हो जाता है।''[1]

यह सही है कि उसे हर समस्या का हल मिल जाता है, पर उपन्यास के पूरे कलेवर में घुसने के बाद उसे 'खुल जा सिमसिम'' नहीं कहा जा सकता। इसीलिए बड़े भटकाव नहीं आये हैं, लेकिन रूकावटें और निराशाएँ बहुत दूर तक हर मोड़ पर उसकी रहबर बनी रहीं। किन्तु एक बार अभिनय की समझ और लय पा जाने के बाद निरन्तर कठिन परिश्रम, दृढ़ निश्चय एवं भरपूर लगन-समर्पण के भरोसे से वह कला-साधना के एक-एक किले पर अपनी सफलता का झण्डा लहराती चली गयी। फिल्मों में ब्रेक उसे इसी बल पर मिला और पर्याप्त व्यवहार कुशलता से वह हर मंजिल पार करती हुई हॉलीवुड तक पहुँच गयी। वहाँ के सरनाम उस्तादों आदि को लेकर अपनी समझ व कला का लोहा बनवा सकी। फिल्मों में अपेक्षाकृत आसानी से मिली कामयाबी के लिए न ही वर्षा पत्र-पत्रिकाओं की प्रचारात्मकता के दन्द-फन्द का सहारा लेती है और न ही किसी की हम विस्तर होती है तथा न ही फूहड़ अंग प्रदर्शन करती, जबकि यह सब आज की फिल्म दुनियाँ का समाजशास्त्र हो गया है। लेकिन पूर्ण सत्य यही है)ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह कहती भी है,

''आइ हैब नथिंग टू रिवील एक्सेप्ट माई टैलेंट.....''[2]

वह मानती है कि ''दि मिस फिट्स'', ''आई रिमेम्बर'' और ''पर्सोना'' जेसी फिल्मों में प्रेम-दृश्य करते समय वह मितभाषी और मितभूषी दोनों हो सकती है, लेकिन बम्बइया सिनेमा की भड़ैती के लिए नहीं।

पर वह जानती है कि उसके अभिनय का चाँद यह नहीं है। इसके लिए वह स्टार का ग्लैमर पाने के बाद भी थियेटर करती है। नसीरूद्दीन शाह, श्रीराम लागू जैसे कलाकार इसी नक्शेकदम पर चल रहे हैं या इन्हीं के नक्शेकदम को देखते हुए सुरेन्द्र वर्मा वर्षा वशिष्ठ की राह बना सके। इसे इस रूप में न देख पाने के कारण ही श्री विजय मोहन सिंह कह देते हैं—

''उपन्यास में यात्रा तो है, तलाश नहीं है। उसकी परिणति या तो स्थूल सफलता के शिखर पर होती है या कुत्ते की मौत के रूप में।''

---

1. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च, 1995 ''एक लतायाहीन मोहक यात्रा'' विजय मोहन सिंह
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-317

यहाँ संकेत वर्षा और हर्ष की तरफ है, पर यह निष्कर्ष बहुत सरलीकृत हैं। असल में, यहाँ यथार्थ की तीन परिपाटियाँ हैं, जो उपन्यास-यात्रा में जीवन की तलाश के तीन आयाम हैं और तीनों को मिलाकर ही समकालीन जीवन वास्तव का विवेच्य वृत्त पूरा होता है। वर्षा की सफलता स्थूल नहीं है। यह निर्मम यथार्थ के करूण स्वीकृति से सत्य का सरवाइवल है। हर्ष का कुत्ते की मौत मरना सत्य के लिए घिनौना यथार्थ के अस्वीकार की जानदेवा स्थिति के व्यंग्यात्मक निदर्शन की दारूण अभिव्यक्ति है—अस्तित्ववादी मुहावरों के साथ। शेष कलाकारों में प्राय: सत्य से छुपाकर यथार्थ के आगे घुटने टेक देने की नियति उजागर हुई है। इसी त्वरा में व्यावसायिक हमलों के बीच कला मूल्यों की अवहेलना से डॉ. अटल का ''राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय'' छोड़ना भी यथार्थ की मूल्यहीनता को ठुकराकर सीमित दायरे में अपने कलागत सत्यों को निभाते हुए सन्तुष्ट रहने का रास्ता अख्तियार करने के रूप में गौरतलब है।

लेकिन काबिलियत के बावजूद सम्भव आकांक्षाओं का असम्भव बनते जाना ही आज की त्रासद नियति है और जमाने के पतनोन्मुख मूल्यों की इस कहानी को पूरी शिद्दत और ईमानदारी के साथ एहसास कराता है प्रस्तुत उपन्यास, और इस तरफ बहुतेरी समीक्षाओं के बावजूद अब तक किसी का ध्यान नहीं गया। इसका कारण यह है कि वर्षा वशिष्ठ के अलावा इस उपन्यास पर सोचा ही नहीं गया, जबकि मूल्य चेतना की इस दृष्टि के केन्द्र में है हर्ष। अत: इसे समझने के लिए वर्षा के अलावा और उसके समानान्तर हर्ष के चाँद को भी समझ लेना होगा। वह कई-कई भौतिक सम्भावनाओं को ठुकराकर सिर्फ अभिनय की खुशी पाना चाहता है—अथक परिश्रमों प्रयत्नों के बाद अपनी मनचाही फिल्म 'मुक्ति' के शुभारम्भ के दिन सेट पर जाते हुए वर्षा से हाथ मिलाकर हर्ष ''कालिगुला'' का संवाद बोलता है—

''होलिकॉन, मैं सिर्फ चाँद चाहता हूँ''

और वह उसे नहीं मिला। ''मुक्ति'' बन नहीं पायी। क्यों? अभिनय कला का तो वह स्वयं चाँद था। डॉ. अटल के शब्दों में—

> ''हर्ष का रोल निभाने का थ्रस्ट मुझे ऑलिवियर की याद दिलाता है, उसके समृद्ध स्वर और डिस्कशन में बर्टन की नफासत एवं चमक है। ब्रेडो की तरह हर्ष का ग्राफ टेढ़ा-मेढ़ा नहीं जाता। उसकी शैली क्लिफ्ट की तरह प्रखर, जटिल तथा सूक्ष्म है। वह डिनौरी के समान अपने चरित्र में बारीक नक्काशी करता है और डोन की तरह उसमें

> अपनी भूमिका से परे जाने का सामर्थ्य है। वह निस्संदेह आज के भारत का सर्वश्रेष्ठ अभिनेता है।''[1]

पर उसे आत्महत्या करनी पड़ी—

> ''वह चौपाल के धूलभरे फर्श पर सूखी विष्ठा के बीच पड़ा था।''[2]

उसकी कलात्मक क्षमता और सफलता के बीच ''खलनायक की भूमिका निभाने वाले थे, उत्कृष्ट कला मूल्य और समझौता विरोधी कार्यशैली।'' ध्यातव्य है कि उत्कृष्ट कला मूल्यों बनाम लोकप्रिय या व्यावसायिक कला मूल्यों के बीच समझौता करने की कीमत पर ही वर्षा स्टार बन गयी—

> ''मैं लोकप्रिय सिनेमा में बेवकूफ बनी रहूँगी, पर साथ ही तो बजट फिल्में भी करूँगी।''

परन्तु हर्ष तो कला को लेकर टोटल परफेक्शनिस्ट था। अभिनय उसका 'फैशन' था और इसके लिए वह 'ओगाज्मि' की हद तक 'पजेसिव' था, इसीलिए अपनी प्रतिबद्धता निभाने में जान तक गँवानी पड़ी। वीभत्स यथार्थ यही है कि इन मूल्यों के साथ आत्महत्या ही आज की नियति है और ऐसा नहीं है कि यह स्थिति आज हो गयी है। आजादी मिलने के तुरन्त बाद हिन्दी उपन्यास ''मैला आँचल'' में राजनैतिक मूल्यों की पतनोन्मुखता के समक्ष 'बामनदास' की हत्या, जो वस्तुतः आत्महत्या ही है, तथा सामाजिक-साम्प्रदायिक मूल्यों के खिलाफ राही मासूम रजा के 'टोपी शुक्ला' की आत्महत्या की निर्मम—करूण परिणति देख चुके हैं। कलात्मक मूल्यों के लिए व्यावसायिकता के बीच हर्ष की आत्महत्या इसी श्रृंखला की अगली, पर पुरजोर कड़ी है—सर्वाधिक हृदय विदारक रूप में प्रस्तुत।

'मुझे चॉद चाहिए' में मूल्यहीनता का यह अंश इसलिए ज्यादा गहरा व प्रभवी है, क्योंकि लेखक ने इसे व्यापक स्तर पर उठाकर यथार्थ की वृहत्तर स्थितियों को उघाड़ दिया है। इस क्षेत्र में हर्ष के समानान्तर समझौतापरस्तों की एक लम्बी कतार उन्होंने खड़ी कर दी हैं—आदित्य, चतुर्भुज, चिन्तामणि, स्नेह, नीलकान्त और वर्षा वशिष्ठ भी। इनमें सबसे सुदृढ़ आर्थिक-सामाजिक स्थिति के चलते समझौतावाद के

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-541
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-546

विरोध की भूमिका के लिए हर्ष ही सबसे उपयुक्त था। जैसे समझौतावाद का आज टोटल वर्चस्व है। कोई हर्ष खोजे से भी शायद ही मिले, वरना सभी समझौते के लिए तैयार हैं या मजबूर हैं। इस मजबूरी का संकेत भी हर्ष के उस प्रसंग में है, जहाँ वह कहता है—

> ''मुक्ति के बाद मैं हर तरह की फिल्म करने को तैयार हूँ। न इंटेलेक्चुअल सवाल करूँगा न पैसे का मोलभाव।''[1]

क्योंकि सब कुछ के बावजूद अपमान और विस्थापित जिन्दगी की हीनता ने उसे तोड़ डाला था किन्तु वैसा हो जाता तो उपन्यास भी समझौता परस्त होकर शायद युगोबोधीय यथार्थ के ज्यादा निकट होता। शायद उपन्यास सपाट भी हो जाता और सारी टीस व कचोट जाती रहती। लेकिन लेखकीय दृष्टि ऐसा नहीं चाहती कि जमाने के नितान्त भौतिक मूल्य उच्चतर कला मूल्यों पर हावी हो जाय, उन्हें निरस्त कर दें और ऐसे में योग्य के संघर्ष की असफलता के आवेश में वरण की गयी (हर्ष की) मृत्यु ने सभी भौतिकता परस्त समझौतावादियों की सफलता को ही निरस्त कर दिया है। बस, इस अहम् फैसले पर पहुँचने का क्लाइमेक्स अपनी बेहद आकस्मिकता में कला मूल्यों के प्रति कट्टर समर्पण एवं कलाकार के स्वाभिमान को दोषी बनाकर छोड़ देता है—और वह भी हर्ष के कलापथ के सहयात्रियों द्वारा। इससे क्रूर मंजर और क्या हो सकता है? तब इस रूप में सुरेन्द्र वर्मा का हर्ष फैज की उस राह का रहबर बनते-बनते रह गया है, जहाँ यदि अपनी पसन्द की जिन्दगी जीने की हालत न हों, तो उसके लिए जान देकर यह तो सिद्ध किया ही जा सकता है कि अपनी प्रतिबद्धताओं के लिए जान देने के हालात तो अभी शेष हैं—

> ''मुश्किल हैं अगर हालात वहाँ,
> दिल बेच आये, जॉ दे आयें
> दिलवालों कूच-ए-जाना में,
> क्या ऐसे भी हालात नहीं।''

लेकिन मूल्यवत्ता की व्यंजना से हटकर वर्षा हर्ष की इस आत्महत्या की सैद्धान्तिक व्याख्या करती हैं—

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-530

"जगत—विसर्जन कोई समाधान नहीं।"[1]

"यह दुर्बलों और कायरों की अपनी बौनी क्षमता को पहचानने की स्वीकृति है। सच्चे और महान वे हैं, जो अपनी असफलता की कचोट के साथ जिन्दा रहते हैं। अपने निकृष्टतम् रूप में भी जिन्दगी मौत के सर्वश्रेष्ठ ढंग से बेहतर है।"[2]

मृत्यु के ऊपर जीवन की सकारात्मक दृष्टि के तहत लेखकीय पक्षधरता भी यहाँ सेद्धान्तिक स्तर पर सही हैं, पर वर्षा का यह निष्कर्ष ग्राह्य इसलिए नहीं होता क्योंकि हर्ष की मृत्यु से वह बुरी तरह प्रभावित है—

"मेरे वास्ते चन्द्रमा हमेशा के लिए बुझ गया है...."[3]

इस पीड़ा और आक्रोश को वह छिपा भी नहीं पाती—

"आत्महंता को पता नहीं होता कि अपने निकटतम् लोगों को वह कैसे सर्वग्रासी दुःख के शिकंजे में कसा छोड़ रहा है।"[4]

वर्षा हर्ष को दोषी भी ठहराती है—

"मन के स्तर पर एहसास था—अपराध किसी का है, तो सिर्फ हर्ष का। एक ओर ऊँचे कलात्मक मूल्य, जिद और स्वाभिमान है और दूसरी ओर छुईमुई अहं।"[5]

लेकिन यह एक फिफ्टी-फिफ्टी समझौता परस्त और व्यावहारिक बुद्धि का निष्कर्ष है। प्रतिभाएँ जिद्दी व स्वाभिमानी हुआ ही करती हैं और बहुत हद तक जनूनी भी। ये दोनों ही चाँदाकांक्षी—हर्ष और वर्षा—एक-एक स्तर पर असम्भव के संधानी बनते हैं—अभिनय के चाँद को न पाकर हर्ष एवं हर्ष-प्रेम के चाँद को न पाकर वर्षा।

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-549
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-549
3. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-547
4. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-549
5. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-546

सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' एक वृहत्काय उपन्यास होते हुए भी सामान्य अर्थ में वर्णनात्मक उपन्यास नहीं हैं। उसकी शैली एक खास खिलंदरेपन से भरी होने पर भी मनोहर श्यामा जोशी के 'कुरू-कुरू स्वाहा' और कृष्ण बलदेव वैद के परवर्ती उपन्यासों 'उसका बचपन' और 'गुजरा हुआ जमाना' को छोड़कर—की चमत्कार पूर्ण एब्सर्ड शैली नहीं है। 'मुझे चाँद चाहिए' अनेक स्तरों पर व्यंजना एवं व्यापक अर्थछवियों की बेहद सजग और संयत प्रभाव क्षमता वाला उपन्यास है। सुरेन्द्र वर्मा ने नाटककार के रूप में अपनी समूची क्षमता का उपयोग इस उपन्यास में किया है। उनकी जिस कथायुक्ति से उनकी नाटकीय प्रतिभा का एहसास होता है वह है—दो-दो चरित्रों का समक्षीकरण। इसे कथा के आरम्भ से अन्त तक देखा जा सकता है—वर्षा-दिव्या, हर्ष-वर्षा, वर्षा-शिवानी, हर्ष-सूर्यभान, दिव्या-रोहन, हर्ष-चारूश्री, रीटा-सुकुमार, वर्षा-रीटा, रंजना-हर्ष, वर्षा-चारूश्री, वर्षा-कंचन प्रभा, वर्षा-रंजना, वर्षा-सिद्धार्थ, चतुर्भुज-अनुपमा। इनके चरित्र-विधान में वर्णनात्मकता से अधिक उसकी संवादात्मकता है। इन संवादों की रचनात्मकता ऐसे घटित होती हैं, जैसे सेट पर घटित हो रहा हो, छाया-प्रकाश, रंग-रेखाएँ, मुद्राएँ-हावभाव आदि की जीवन्तता लिए हुए। इस दृष्टि से वर्षा-शिवानी प्रसंग चरम नाटकीय है। भयानक, त्रासद, मर्मभेदी, प्रेम-घृणा का अद्‌भुत संगठन—

> [''सहसा शिवानी घुटनों पर झुकती हुई उसके बिल्कुल निकट आ गयी। वर्षा की चिबुक ऊपर उठायी, ''तुम्हारी आँखें बहुत सुन्दर हैं।'' उससे बिना मुस्कान के कहा।
>
> वर्षा हल्के से मुस्करायी। अचानक अपनी पलक पर शिवानी के होठों का स्पर्श पाया। दृश्य जैसे फ्रीज हो गया।
>
> ''मैंने तुम्हारे गिलास में साइनाइड मिला दिया है।'' शिवानी अपनी जगह बैठी मुस्करा रही थी। वर्षा को लेकर जो चौकन्नापन अभी तक उसमें था, वह अब क्षीण लग रहा था।''
>
> शिवानी निकट आयी। अपनर गिलास बगल की मेज पर रखते हुए बिस्तर के किनारे बैठ गयी—
>
> ''तुम्हारी नाजुक-सी गर्दन पर—''उसने अपने दोनों हाथ वर्षा के गले पर रखे, थोड़ दिया और मुस्कराकर पूछा— ''दबा दूँ?''

''बड़ी संवेदनशील कातिल हो'' वषर्ञ हँसी--''मक्तूल से उसकी मर्जी पूछ रही हो।''

शिवानी ने दबाव थोड़ा बढ़ा दिया, फिर थोड़ा और..... दोनों मुस्करा रहीं थीं, पर वर्षा को अब साँस लेने में मुश्किल हो रही थी और चेहरे पर तनाव झलक आया था।

''अलविदा.........'' शिवानी बोली

''खुश रहो अहले-वतन.....'' वर्षा ने आँखें बन्द कर ली।

....

....

कुछ पलों का विराम रहा।

* फिर शिवानी सहसा सिसकने लगी। फिर दोनों हाथों में मुँह छिपा लिया। रूदन में विवशता और शर्मिंदगी की रंगत थी। जैसे ऊँचे कपोत को पंख की अक्षमता के कारण किसी टहनी पर बसेरा लेना पड़े।

''शिवानी.......'' वर्षा ने बाँह पकड़कर उसे खींचा। शिवानी मुड़ी और जैसे भीगी आँखें दिखाने की शर्म से बचने के लिए मुँह वर्षा के वक्ष में छिपा लिया।

....

....

....

इस दौरान कितने पल बीते, वर्षा को नहीं मालूम। फिर शिवानी के मुखड़े का क्लोज-अप जेसे धीरे-धीरे पीछे खिसकते हुए डिजॉल्व हो गया और पर्दे पर अंधेरे के चौकोर खाने उभरने लगे..........'']1

यह है उपन्यास में नाटक, अपनी पूरी लयात्मक टोन एवं रंगचेतना के साथ। कहना न होगा कि इस कथायुक्ति ने एक अर्थ में, 'मुझे चाँद चाहिए' के पूरे रचनातन्त्र को प्रभावित किया है। यहाँ कथा-भाषा में नाट्यभाषा का निरंतर लेकिन अनारोपित हस्तक्षेप है।

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-69

सुरेन्द्र वर्मा ने प्रस्तुति के सभी आयामों को नये तरह से साधा है, जिसके अन्तिम स्वरूप को नाट्यमय रूप में पाठक तक पहुँचाते पाते हैं। संवादमयता भावभंगिमा एवं क्रियान्विति आदि प्रचलित तत्व तो हैं ही, साथ ही अपेक्षित प्रसंगों के विस्तार को एक वाक्य में खत्म करके......दृश्यों को कट करके......घटनाओं से निकलते हुए निष्कर्षों को अव्यक्त रख करके....कहीं निष्कर्षों के पीछे की घटनाओं को अनकही छोड़ करके.....अद्‌भुत नाट्य सिद्ध किया है। कालिदास से लेकर आधुनिक नाटकों का सुसमृद्ध रचना-संसार उपन्यास के पात्रों के जीवन में इतनी सतर्कतापूर्वक लेकिन अनारोपित रूप में अन्तर्युक्त है कि वही कुल मिलाकर एक रचनात्मक आस्वाद पैदा करता है। ऐसा लगता है कि पूरे उपन्यास की पृष्ठभूमि में यह संगीत वाद्यवृंद रचना की तरह बजता रहता है। यशोदा शर्मा से वर्षा वशिष्ठ बनने में कालिदास के 'ऋतुसंहार' की भूमिका है। स्थितियों ओर अनुभव की समरूपता के प्रसंग में कालिदास प्रायः हमेशा और सर्वत्र उसके साथ हैं। जब वर्षा लखनऊ में पहली बार नाट्यकर्मी सहयोगियों के साथ बीयर का घूँट भरती हैं, तो उसे 'मालबिकाग्नि मित्रम्' का संवाद आता है—

> ''निपुणिका सुनती हूँ कि मदिरा पीने से स्त्रियाँ बहुत सुन्दर लगने लगती हैं। क्या यह सच है?..........''[1]

दिल्ली में हर्ष से अपने धीरे-धीरे बढ़ते आत्मीय सम्बन्ध के प्रसंग में भी वर्षा को ''रघुवंश'' याद आता है—

> ''पहले फूल खिले, फिर नई कोपलें फूटीं, फिर भौंरे गूँजने लगे और तब कोयल की कूँक सुनाई दी। इस क्रम से धीरे-धीरे वनस्थली में बसन्त ने अपने पाँव आगे बढ़ाये... .''[2]

'आठवाँ सर्ग' के सुरेन्द्र वर्मा यहाँ इस उपन्यास में भी एक सीमा तक कालिदास से सम्मोहित हैं कि वर्षा की ही नहीं, उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि के तर्क से दिव्या भी इस कालिदास-सम्मोहन से मुक्त नहीं है। दिल्ली में वर्षा को ब्लाउज भिजवाते हुए उसे 'अभिज्ञान शांकुतलम्' में प्रियवंदा का संवाद याद आता है

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-69
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-113

और वह परिहासपूर्वक लिखती है कि नाप बढ़ जाने से उसका परिश्रम कहीं व्यर्थ न चला जाय। हर्ष के समक्ष कौमार्य-विसर्जन के आह्लादपूर्ण क्षणों में तो वर्षा का समूचा अस्तित्व ही इस नाटकीय थरथराहट का उदाहरण बन जाता हे। पूर्वराग बेला में एक नाटकीय भंगिमा अपनाकर वह नाटकीय भाषा में नाटकीय संवाद बोलकर सहमति और आह्लाद प्रकट करती है—

[''तन्मय चुम्बन के दौरान सिलबिल ने महसूस किया कि उसकी कमीज के बटन खोले जा रहे हैं।''

''घर आये अतिथि का वस्त्रारोहण आपको शोभा नहीं देता श्रीमान!'' सिलबिल ने कृत्रिम प्रतिरोध किया।

''जो प्रेम चुम्बन-श्रृंखला तोड़ता है, वह गौबध पाप का भागी बनता है। ''हर्ष गम्भीरता से बोला।

''भूल हुई। ''कामसूत्र'' का मेरा अध्ययन आपके जैसा गहन नहीं है।'' मुस्कान दबाते हुए सिलबिल ने कहा।

हर्ष ने उसके कान की लौ अपने होंठों में ली, चुभलायी और हल्के से काट ली।

''तुम कैसे भारतवासी हो?'' सिलबिल कराही, ''गणतन्त्र दिवस पर नवनिर्माण के बजाय ऐसी ह्रासोन्मुख हरकत.....''

अब दृढ़ आलिंगन में वर्षा कर नग्न पीठ पर हर्ष के चपल हाथ का स्पर्श था। जहाँ-जहाँ हाथ फिसलता, त्वचा रोमांचित होती जाती।

सहसा हुक खुला और उसकी ब्रा निकाल ली गय। (अन्तर्वस्त्रों का यह जोड़ा हर्ष की भेंट था)।

''मेरी भोली-भाली कंचुकी ने तुम्हारा क्या गिगाड़ा है?'' हर्ष मोहविष्ट-सा उसके वक्ष को देख रहा था (सिलबिल को खुशी हुई कि कुछ वर्ष पहले दिव्या की सलाह पर......आभार व्यक्त किया था)।

''चैपलिन जी क्या सोचेंगे? वरिष्ठ अभिनेता का लिहाज करना हमारा......''

सिलबिल की बात पूरी नहीं हो पायी। हर्ष ने उसके बायें उरोज को चुम्बनों की लड़ी से बाँधते हुए चूचुक को होठों में भर लिया। सीत्कार के साथ सिलबिल की साँस रूक गयी। तलवों में झुनझुनी उठी और पूरे जिस्म को स्पंदित कर गयी.....

उसकी जीन्स का बटन काज से निकला और जिप खुली। ''कुमारी कन्या के नीति-बन्धन को न छोड़ो आर्य पुत्र!''

उन्मादी चुम्बनों की श्रृंखला से उसका मुँह बन्द करते हुए हर्ष ने एक आतुर हाथ से लेस की पेटी के पास उसके नितम्बों को सहलाया.....

यहाँ पर भाषा न केवल अपनी नाटकीय भंगिमा का बिम्ब खड़ा कर रही है वरन् अतिशय संवेदनशीलता के बावजूद भाषा में कहीं भी अश्लीलता का पुट नहीं है। किसी भी लेखक के लिए सबसे कठिन और नाजुक होता है 'सेक्स' का वर्णन, विशेप रूप से स्त्री-पुरुष समागम का चित्रण। इसमें सस्ती लोकप्रियता के फूहड़ आकर्षण के साथ ही खुद भी चटखारे लेकर वर्णन करने के भरपूर अवसर होते हैं। इस नाजुक किन्तु खतरनाक कसौटी पर भी किसी लेखक की जीवन-दृष्टि और कलात्मक क्षमता को परखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस सन्दर्भ में सुरेन्द्र वर्मा ने यशपाल, नागार्जुन ओर अमृतलाल नागर जैसे श्रेष्ठ प्रगतिशील लेखकों को भी छोड़ दिया है। इस वर्णन में लेखक ने भाषा से लेकर भंगिमा तक जिस संतुलन और कौशल का सहज प्रदर्शन किया है, वह किसी को भी चकित कर देने वाला है। उनकी इस विशिष्टता की भूमिका में दो कारक तत्त्व हैं—स्मृत्यावलोकन आर भाषा, जो उनके 'द्रौपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' एवं 'आठवाँ सर्ग' नाटकों की खास टेकनीक है।

सुरेन्द्र वर्मा के यहाँ स्मृत्यावलोकन का अभिप्राय फ्लैशबैक से न होकर पूर्वघटित की स्मृति के आधार पर पुनर्रचना तथा उसके विश्लेषण से है। हर्ष जब मोहविष्ट सा उसके वक्ष को देख रहा था तो स्मृत्यावलोकन के आधार पर संवेदनशीलता को तीक्ष्ण बना देती है—

"सिलबिल को खुशी हुई कि कुछ वर्ष पहले दिव्या की सलाह पर उसने रातों सोते समय ब्रा पहने रहना बन्द कर दिया था। आकार एवं पुष्टि की दृष्टि से परिणाम बहुत सुन्दर निकले। उसने अगले ही दिन दिव्या को पत्र लिखकर आभार व्यक्त किया था।"

कहना न होगा सुरेन्द्र वर्मा इस समागम चित्र को संकेतात्मक बनाकर इस नग्नता को एक हल्के से आवरण द्वारा आवृत्त कर देते हैं।

भाषा का संतुलन भी इस चित्रण को नई अर्थवत्ता देता है। इसमें एक ओर 'तन्मय', 'चुम्बन', 'अतिथि', 'वस्त्रारोहण'' 'श्रीमान', 'कृत्रिम', 'प्रतिरोध', 'चुम्बन-श्रृंखला', 'कामसूत्र', 'ह्रासोन्मुख', 'दृढ़ आलिगन', 'चपल हाथ', 'त्वचा', 'रोमांचित', 'कंचुकी', 'वक्ष', 'कुमारी कन्या', 'नीवी-बन्धन', 'नितम्ब', 'उरोज', 'दंत-चिन्ह' जैसे शब्दों का प्रयोग है जो आज के पाठक के लिए ओट पैदा करते हैं, वहीं दूसरी ओर 'कान की लौ', 'चुभलायी', 'काटना', 'हूक', 'जीन्स का बटन', 'लेस की पेटी', 'सहलाया', 'नग्न सीना', 'गला सूखने', 'दबाव', 'बयार', 'झरोखा', 'थरथराहट', 'साँस', 'रूक', 'टीला' जैसे आज की आम बोलचाल की भाषा के ऐसे शब्द हैं जो अपनी उष्णता तथा प्रखरता से प्रत्यक्षतः प्रभावित करते हैं। दोनों वर्गों के शब्दों से संतुलित-संयमित उपयोग से सुरेन्द्र वर्मा ने अपनी भाषा को अपेक्षित तापक्रम उपलब्ध कराया है। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है इन शब्दों, बिम्बों और इनकी ध्वनि का संयोजन, वाक्यांशों की त्वरित गति के साथ-साथ उन्माद और उत्तेजना का उत्तरोत्तर ऊपर चढ़ता ग्राफ।

इसके अतिरिक्त भी उपन्यास में बहुत कुछ है जो भाषा को नवीन तेवर तो देता ही है, वर्णन की दीर्घता और एकरसता को भंग करके उसे एक कलात्मक अन्विति का उदाहरण बनाता है। पत्रांश, स्मृतिखण्ड, साक्षात्कार, संवादों के बीच में कोष्ठकों में दिये गये सोचे और अनकहे विचार इस खिलंदरेपन को और बढ़ाते हैं। 'स्टार एण्ड स्टाइल' में हर्ष का व्यावसायिक फिल्मों की अभिनेत्री चारूश्री के सम्बन्ध में दिया गया साक्षात्मकार रीटा द्वारा वर्षा को दिखाये जाने पर हर्ष की चारूश्री से बढ़ती हुई अन्तरंगता पर वर्षा की प्रतिक्रिया की दृष्टि से एक ऐसा ही उदाहरण है। शिवानी भी इसी साक्षात्कार को दिखाकर हर्ष के विषय में वर्षा की प्रतिक्रिया जानना चाहती है, क्योंकि इस प्रसंग में वह वर्षा की प्रतिद्वन्द्विनी भी रही है।

यहाँ तक कि अखबारों में छपी टिप्पणियाँ भी बहुत कौशलपूर्ण ढंग से आन्तरिक भाव-प्रकाशन का माध्यम बनती है। हर्ष की चारूरी के साथ की गयी फिल्म 'कंपन' के विषय में अखबार ने टिप्पणी की है—

''प्रणय दृश्य'' कंपन की विशेष उपलब्धि होंगे . . ...''

इसे पढ़कर वर्षा अपने अतीत में खो जाती है—

''वर्षा की देह पर हर्ष के चुम्बनों की स्मृतियाँ सुगबुगाई। पलकें झपकने लगीं। उसे अपने होठों पर हर्ष के दबाव की उष्मा का अनुभव हुआ। फिर तत्क्षण मन में एक कातर पुकार गूँजी, जो देह की भीतरी नसों में प्रतिध्वनित हुई..... जैसे प्राचीन, नग्न खंडहर में कोई चीखे और अबाबीलों वाली ऊँची मेहराब के जाली-लगे खंडित गलियारों में प्रेमात्माओं सी बौराई अनगूँजें सुनाई दें. ..।''[1]

फिल्मी 'रिपोर्टरों' के सन्दर्भ में भी फिल्म दुनियां के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के साथ ही भाषा में भी एक ताजगी का संचार किया है—

''कामसूत्र के कौन से आसन आपको पसन्द हैं? किस उम्र में आपकी कौमार्य तिलांजति हुई थी?'' बनावट स्टैंड'' पर आपकी क्या राय है? आज की जटिल जिन्दगी में आप इसे अनिवार्य मानती हैं न? आप ऑर्जी अपने मित्रों के साथ पसन्द करेंगी या अजनबियों के साथ? दो पुरुषों के संग एक साथ सेक्स—थ्री—वेलव— पर आपका मत?''[2]

ये सवाल हैं, जिनके सहारे बम्बई फिल्म नगरी में आकाश-चढ़े सितारों का व्यक्तित्व सामने लाते हैं, फिल्मी रिपोर्टर। उन्हें सिर्फ सनसनी खेद मसाला चाहिए, जिससे कि पत्रिका बिक सके। 'डिबानेयर' संस्कृति में साँस लेती बैगीजधारी ताजा-ताजा कॉलिज से निकलकर जर्नलिज्म का तीनमासी पार्टटाइम कोर्स करके सम्पादिका या पत्रकार को देखकर वर्षा को लगता है कि—

''प्रकाशक ने आज ग्यारह इकतालिस पर चर्च गेट के बाएँ दरवाजे से जो भी नौजवान लड़की निकलेगी उसे सम्पादक बना देगा''

---

1. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-233
2. मुझे चाँद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-397

के आधार पर इन्हें चुना होगा। उपन्यास के ये प्रसंग फिल्मी दुनिया के अन्दर चलती हिंसक उठा-पटक, झूठ, फरेब, विज्ञापन की दुनिया के ऐसे अनुभव के साक्षात्कार कराते हैं कि दिमाग की नसें भनभना उठें। ऊपरी तौर पर बहुत क्रूड लगने वाले इन प्रसंगों में भी व्यंग्य भाषा का रचनात्मक तेवर द्रष्टव्य है। जीवन यथार्थ की गहरी सूझ-बूझ के साथ कलात्मक चित्रांकन में सूक्ष्म से सूक्ष्म डिटेल्स का सटीक वर्णन और भाषा को लेकर गद्य शैली तक हिन्दी को लगभग एक नया संस्कार देने की उनकी कोशिश उन्हें निर्विवाद रूप से एक बड़ा लेखक और एक सर्मथ, सक्षम कलाकार साबित करती है। कोई आश्चर्य नहीं कि उनकी इनमें से अनेक खूबियों के पीछे एक श्रेष्ठ नाटककार के रूप में उनकी मँजी हुई लेखनी का हाथ है। यही कारण है कि उपन्यास में कोरा वर्णन बहुत कम है। ज्यादातर सूक्ष्म और कलात्मक चित्रांकन के साथ सटीक और सहज संवादों में गतिशील और जीवन्त दृश्यांकन किया गया है। इस दृष्टि से यह उपन्यास दो सशक्त गद्य माध्यमों के सफल कलात्मक संयोजन का भी विलक्षण उदाहरण है। नागर जी के महान उपन्यासों के बाद ऐसा बतरस और कथारस शायद ही कहीं और मिले।

इस उपन्यास की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि एक त्रासदीय प्रेम-कहानी के गहरे कारूणिक रंगों के बीच-बीच में जिस तरह से हास्य-व्यंग्य और क्रीड़ाभाव के झिलमिलाते दृश्य पिरोये गये हैं, वह इस त्रासदी को और भी गहरा बना देते हैं। विशेष रूप से चतुर्भुज धनसोखिया और समांतर सिनेमा के नाम से विख्यात तथाकथित कला फिल्मकारों के प्रसंग। उपन्यास में रंगजगत और सिनेमा की शब्दावली का भी बड़ा सर्जनात्मक इस्तेमाल किया गया है।

गहरी अनुभूति-सम्पन्नता कर प्रमाण देने वाले इस उपन्यास में यदि भावुकता पर सचेत नियंत्रण है तो श्रेय सुरेन्द्र वर्मा की विनोदीवृत्ति को है। वर्षा की स्वीकारोक्ति है कि देह-प्रेम के गहरे क्षणों में उसका हास्यबोध निखर उठता है। दिव्या-रोहन हनीमून के लिए जाना चाहते हैं तो वर्षा ''माँ'' में ''कुमारसम्भव'' के मैना के मूल भाव को पकड़ती है—

> ''मैना को यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि शिव-पार्वती के यौवन का पूरा उपयोग कर रहे हैं, क्योंकि जब माँ यह देख लेती हे कि मेरी कन्या का पति उसे प्यार करता है, तो उसका जी हल्का हो जाता है।''

यह प्रसंग भी हास्यबोध के बाहर की चीज नहीं है। कालिदास का स्मरण कई बार हास्यबोध या विनोदवृत्ति के अधीन है।

यह असत्य नहीं कि जिस गहराई तक जाने के लिए बहुत से आधुनिक लेखक जादुई यथार्थ, मिथक, स्वप्न, प्रतीकात्मक जैसे सूत्रों पर निर्भर रहे हैं, उसे सुरेन्द्र वर्मा ने सीधे अनुभव ज्ञान और सहज अन्तर्दृष्टि के आधार पर उपलब्ध किया है। अतएव न केवल अन्तर्वस्तु वरन् शिल्प की दृष्टि से भी 'मुझे चॉद चाहिए' ने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में ''गोदान'', ''मैला आँचल'', ''राग दरबारी'', ''कुरू कुरू स्वाहा'' के बाद एक नया क्षितिज खोला है, एक नये दौर की शुरूआत की है।

मुंशी रायज़ादा

आलोचक डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र ने 'शेखर : एक जीवनी' की समीक्षा करते हुए लिखा कि, 'महत्वपूर्ण रचनाओं की विशेषता होती है कि वे जीवन और जगत् के बारे में ही नहीं स्वयं अपनी साहित्यिक परम्परा को नये सिरे से व्यवस्थित करती हैं और भविष्य के लिए संभावनाएँ पैदा करती हैं। 'शेखर : एक जीवनी' ऐसी ही रचना है जिसकी रोशनी उससे पहले के और बाद के उपन्यास साहित्य पर पड़ती है। शेखर को पढ़ते ही लगता है कि न केवल उपन्यास लिखने का तरीका बदल गया बल्कि उपनयास पर विचार करने का तरीका भी बदल गया।' कहना न होगा कि डॉ० मिश्र का यह कथन 20वीं सदी के अंतिम दो दशकों की उपन्यास यात्रा को भी पूरी तरह प्रकट करता है। इस समय अनेक ऐसे उपन्यास लिखे गये, जिन्होंने अन्तर्वस्तु एवं संरचना के ढाँचे को ही नहीं तोड़ा, उपन्यास पर प्रचलित समीक्षा पर भी आघात किया। अवध की पृष्ठभूमि पर इतिहास एवं सभ्यता की समीक्षा करता हुआ कमलाकान्त त्रिपाठी का 'पाहीघर' एवं 'बेदखल' आया तो सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिये', विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार में एक खिड़की रहती थी', कमतानाथ का 'कालकथा', गिरिराज किशोर का 'पहला गिरिमित्िया',। अलका सरावगी ने 'कलिकथा : वाया वाइपास' में मारवाड़ी परिवार की कथा कहते हुए इतिहास को खोजने का उपक्रम किया तो जीवन की अन्तिम दहलीज पर, मगर पूरी रचना धार्मिता के साथ उपस्थित लक्ष्मीकान्त जी ने मुँशी रायज़ादा' द्वारा। बकौल लक्ष्मीकान्त जी यह 'एक ऐसे गुमनाम खानदान की गाथा जो अवध की नवाबी में बुलंदी पर था— पर जिसे आज कोई नहीं जानता है।

अवध की कथा कमलाकान्त त्रिपाठी ने भी कही, प्रेमचन्दीय मुहावरे एवं शैली के साथ, पर लक्ष्मीकान्त जी ने इस कथा में नये मुहावरे की तलाश की है, जो इतिहास की निर्ममता एवं कथा की काव्यात्मकता के सामजंस्य पर टिकी है। उन्होंने स्वयं इस उपन्यास के प्रारम्भ में कुछ सूत्र देते हुए लिखा है— ''मुंशी रायज़ादा में यदि आप इतिहास तलाशेंगें तो कथा छूट जाएगी और यदि केवल कथा ढूँढ़ँगे तो वैज्ञानिकता के कुतर्क में किंवदन्तियों, मिथकों, लोकमानस की मिट्टी में रसा-बसा जीवन छूट जाएगा।

यदि जनमानस से जुड़कर देखेगें तो मुंशी रायज़ादा की कथा इतिहास की खमीर में रसी-बसी होने के कारण स्वयं अपने आप को सत्यापित करती चलेगी।'' इतिहास और वंशवृक्ष बहुत कुछ सत्य प्रतीत होने बावजूद काल्पनिक ही हैं। लेखक ने इतिहास को उतना ही अपनी कथा में लिया है, जितना कथा के लिए आवश्यक हैं। इसमें अनेक किवदन्तियाँ है जो लेखक के अनुसार 90% सत्य है कथासूत्र को उन्हीं के माध्यम से पिरोने की कोशिश की गई है। लक्ष्मीकान्त जी के शब्द हैं— ''आशा है जितना सत्य इसमें है उसे आभास के रूप में ही स्वीकार करेंगें। यदि प्रत्येक पात्र को आप वास्तव में ढूढ़ने की कोशिश करेगें तो मेरे साथ और पात्र के साथ ज्यादती होगी। यदि इस खण्ड के सत्तर साल के इतिहास को आप कथा समझने के लिए सहारे की तरह इस्तेमाल करेगें तो ज्यादा संगत होगा। इनमें से अधिकांश पात्र ऐसे हैं जिनकी मैंने केवल तस्वीरें देखी हैं, कुछ हस्तलिपियाँ देखी हैं, कुछ का जीते-जागते अपने बीच में देखा है, कुछ को किंवदन्तियों के माध्यम से देखते जाने की कोशिश की है। मेरा संकल्प कथानक के गठन और अनुभूतियों के विभिन्न स्तरों की महनता को प्रामाणिक रूप से चित्रित करना है, न कि कथा की प्रामाणिकता और इतिहास पुरुषों की 'ममीज' को जगाकर खड़ा करना।'

कहना न होगा लक्ष्मीकान्त जी की साफ़गोई उपन्यास में मूर्त रूप में दिखाई देती है, लेकिन यह केवल इतना ही नहीं है लक्ष्मीकान्त जी ने एक ऐसे कायस्थ परिवार की कथा को इतिहास के चौखटे में फिट करके उपन्यास संवेदना का अंग बनाया है, जिसे मृच्छकटिकम् में 'धूर्त और जाल-फरेब' करने वाले के रूप में पहचान मिली हैं, तो मुद्राराक्षस में यह जाति शकटार के रूप में उपस्थित है, जो निरन्तर विद्रोह और प्रतिशोध में अपना सब कुछ मिटा देने के लिए तत्पर है। 'मुंशी रायजादा' की कथा के केन्द्र में बकौल लक्ष्मीकान्त वर्मा 'यह एक ऐसे अभिशप्त खानदान की गाथा है जो छः पीढ़ियों के बाद धूल में मिल जाता है। गुमनाम हो जाता है। लेकिन फिर एक विशाल वटवृक्ष की भाँति खड़ा हो जाता है और अपने समय के जीते जागते मूल्यों का निर्माण करता है। उनके लिए संघर्ष करता है और अपने मिटने के लिए समस्त साधन जुटाकर पुनः मिट जाता है। लेकिन उन्हीं के बीच से फिर कोई दूसरा मुंशी रायज़ादा का वंशज मूल्यों को लेकर जीने की कोशिश करता है— और धूल में दबी हुई दूब की तरह फिर से उग आता है।' लेकिन यह एक परिवार की कथा-कायस्थ परिवार की कथा— होने के साथ ही मनुष्यता का इतिहास एवं उसके बनते बिगड़ते मूल्यों की कथा है। मुंशी रायज़ादा का टूटना वस्तुतः इतिहास की उस

पीढ़ी का टूटना है, जो अवध क्षेत्र में इस्तमरारी बन्दोबस्त के लागू हने के बाद टूट रही थी। यहाँ केवल राजनैतिक व्यवस्था में ही परिवर्तन नहीं हो रहा था, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक सभी मूल्य ढह रहे है या ढहने के कगार पर हैं। उपन्यासकार के शब्दों में 'भगवतीचरण, रामचरण की यह कथा उसी कानून के आधार पर बनी है, जो अवध के नबाबों के सम्भाले नहीं सम्भली और एक आलीशान ढाँचे के समान इतिहास के गर्त में लीन हो गयी।' मुंशी रायज़ादा भी इसी व्यवस्था से ममहित है, ''लखनऊ के नवाब को भी क्या हो गया— आखिर पूरे सूबे की हिफाजत में हम सबने अपना खून-पसीना एक किया था। बगैर हमसे पूछे दीवानी फिरंगियों को देकर नवाब ने तो अपने हाथ ही कटा लिये। आज यह नौबत है कि हमारी सवारी को रोकने के लिए दो फिरंगी सिपाही ही काफी हैं।''

वैसे तो यह उपन्यास मुंशी रायज़ादा अर्थात् भगवतीचरण की कथा है, फिर भी इसके अतिरिक्त अनेक कथाएँ है, जो इस कथा को गति एवं समृद्ध कर रही हैं। कथा के सूत्रधार हैं, इस उपन्यास के एक पात्र लक्ष्मीकान्त जो इसी रायज़ादा खानदान से जुड़े हैं। उपन्यास का प्रारम्भ सन् 1920 में नवम्बर महीने में मुंशी रायज़ादा की पीढ़ी के चिराग नौबतराय और उनके सोनारगढ़ के खण्डहर से शुरू होती है। तीन टीलों— सोनारगढ़, मनियारगढ़ और शेषमहल— पर बसे इस खण्डहर की 'कहानी अजंता एलोरा की गुफाओं के समान गौरवशाली तो नहीं हैं, फिर भी इसके खण्डहरों में एक बहुत बड़े इतिहास का हिस्सा खामोश सो रहा है। मनियारगढ़ के खण्डहरों पर बसाया गया सोनारगढ़ दो सदियों का इतिहास संजोये खड़ा है। आज मनियारगढ़ क्यों खण्डहर में बगला इसकी कहानी केवल किवदन्तियों में ही शेष है। सोनारगढ़ क्यो बसा इसका इतिहास तो है, पर अब वह भी धीर-धीरे किंवदन्तियों में ही शेष है।' (पृष्ठ 28) इसी परिसर के अन्तिम छोर पर एक लम्बी इमारत बची है, जिसे लोग सोनारगढ़ का घोड़साल कहते हैं। इसी खण्डहरनुमा घुड़साल जिसका तीन चौथाई ढह चुका था, एक चौथाई अपनी शान-शौकत के साथ धीरे-धीरे ढह रहा था, इसी चौथाई ढहते हिस्से में मुंशी नौबतराय का आवास था। 'मुंशी नौबतराय के अस्तबल वाले इस कमरे की हर चीज जैसे उनकी जिन्दगी के सफ़रनामे की घज्जियाँ उड़ा रही थी। उन सबके बीच बैठे मुंशी नौबतराय खुद ही कई पीढ़ियों की सील लगी दस्तावेज जैसे लग रहे थे।' (पृष्ठ 34) फिर भी रायज़ादा खानदान की परम्परा, संस्कृति उनके यहाँ सुरक्षित है, ''फिर यह खण्डहर मै जिन्दा रहते हुए क्यों फिरंगियों के हवाले करूँ। कम से कम इतिहास में यह तो कहा ही जाये कि भले ही

रायज़ादा मुंशी भगवतीचरण की शाखा मिट गई, लेकिन उससे कोई समझौता नहीं किया। रही अभयाचरण की बात सो वह भी जो कुछ कह रहा है, वह अपने नसल के हिसाब से ही कह रहा है। आख़िर है तो मुंशी रामचरण की सातवीं पीढ़ी का'' (पृष्ठ 93) पिछले छत्तीस वर्षों से इस ख़ानदानी खण्डहर में रहते-रहते मनोरमा देवी भी धीरे-धीरे एक खण्डहर हो रही है। मनोरमा देवी, का विश्वास था— ''किसी के भाग्य में सोनारगढ़ का किला था। उसने उसका सुख भोगा। मेरे भाग्य में सोनारगढ़ के खण्डहर थें मुझे उसी को भोगना चाहिये. . . . . अब तो मैं इन खण्डहरों से ही प्रेम करने लगी हूँ. . . . . धीरे-धीरे ये मेरे रोम-रोम में बस गये हैं. . . . .'' (पृष्ठ 56) इसी खण्डहर से हवेलियाँ बनने और हवेलियों से खण्डहर बनने की यात्रा कथा के सूत्रधार लक्ष्मीकान्त ने मुंशी रायज़ादा और रामचरण की कथा के माध्यम से प्रस्तुत की है। यह कथा सोनारगढ़ के गांधीवादी आन्दोलनकारी राम पाण्डेय द्वारा, कैथी लिपि में कमिश्नर अभयाचरण को प्राप्त हुई, जिसे इस उपन्यास के सूत्रधार लक्ष्मीकान्त ने तैयार की। उन्होंने ने इस कथा में केवल मुंशी रायज़ादा का इतिहास, जो उनके अंतिम वंशज अम्बाचरण ऊर्फ नौबतराय तक जाता है, लिखा वरन् उनके भाई रामचरण का इतिहास भी प्रकरान्तर से कहने की कोशिश की है, जो आज सर अम्बिकाचरण और कमिश्नर अभयाचरण के रूप में दिखाई दे रहा है।

अभयाचरण की कथा में सर अम्बिकाचरण बैरिस्टर, हेलेन और सन् 1920 से 30 तक का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन है। ''अम्बिकाचरण के मन में दो ही पूर्वजों के चित्र आते थे। एक तो बाबा नागरमल का जिनकी धोती आकाश में सूखती थी और फिर मुंशी रायज़ादा आफ़ताबेजंगशमसुलउल्मा मुंशी भगवतीचरण का।'' (पृष्ठ 108) ''अम्बिकाचरण ने जिस वातावरण में शिक्षा पाई थी और जिस तरह नामजद होकर कमिश्नर कलेक्टर लोग बनते थे, उससे पीछा छुड़ायाा था, वह इस बात का सबूत था कि रामचरण की शाखा में भी परिवर्तन आ रहा था।'' (पृष्ठ 109) अम्बिकाचरण देख रहे थे कि आने वाला जमाना गांधी जी का है, इसीलिए वे अपने पुत्र कमिश्नर अभयाचरण में उन्हीं मूल्यों का सतर्कतापूर्ण विकास कर रहे थे। ''अभयाचरण ने तो जलियाँवालाबाग के बाद ही त्याग पत्र देना चाहा। सुभाषचन्द्र बोस और अरविन्द की तरह रहना चाहता था, पर अम्बिकाचरण ने रोक दिया था।'' (पृष्ठ 109) उनकी धारणा थी, ''समय आयेगा जब न मैं तुम्हें रोकूँगा और न तुम मेरी बात मानोगे. . . . . . अभी समय नहीं आया है।'' (पृष्ठ 109) हेलेन भारतीय आध्यात्मिकता व संस्कृति की जीवंतता का क्रमशः विकसित होती

हुई संवेदना है तथा एक आदर्श भारतीय नारी जो कस्तूरबा में दिखाई देती उसकी बनती प्रतिरूप, जो मैलिकता लिये हुए हैं।

मुंशी रायज़ादा की कथा की भूमिका के रूप में भानुमल— सोना, थापनदेव, सत्ती माई, मनियारबाबा, सोनारगढ़, मनियारगढ़, शेषमहल की कथा है, जो किवदन्तियों के रूप में कही गयी है, लेकिन प्रस्तुतीकरण में कल्पना व इतिहास का समुचित योग है। इतिहास यहाँ आइने की तरह है। यह कथा शास्त्र के लिए शेषमहल और शस्त्र के लिए मनियारगढ़ और श्री के लिए सोनारगढ़ के बीच सन्तुलन की कथा है, जिसकी नींव भानुमल-सोना ने डाली लेकिन सूत्रधार रहे थापनदेव, जो आज भी इतिहास में सक्रिय रूप से उपस्थित हैं। ''भानुमल ने राजा की पदवी तो नहीं ली, लेकिन उनको मुगल सम्राट की ओर से पंजहजारी का पद और शमसुलउल्मादबीरूलमुल्क रायज़ादा का खिताब मिला और इस प्रकार रायज़ादा खानदान की नींव पड़ी जिसने इस क्षेत्र में अपने आचरण से नई मर्यादाएँ स्थापित की'' (पृष्ठ 139)

'सोनारगढ़', 'मनियारगढ़', 'शेषमहल,' 'थापनदेव', सत्तीमाई' की कथा के बाद पुनः लक्ष्मीकान्त, जो इस उपन्यास में सूत्रधार के रूप में है कि कथा में वापसी होती है और 'चाँदोपार' की कथा शुरू होती है, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी और सोनारगढ़ की असली टकराहट की कथा है, जिसे रामचरण ने अपनी परम्परा और संस्कृति से अलग हटकर पैदा की। 'इसमें एक दबंग विदेशी ताकत और एक शुद्ध भारतीय संस्कृति आमने-सामने एक-दूसरे से टकराने की तैयारियाँ करते नज़र आयेंगे।' (पृष्ठ 235) इसमें इतिहास और लोकवार्ताओं की दुनियाँ अन्य कथाओं की अपेक्षा काफी सन्तुलित है। एक ओर रायज़ादा परिवार की कथा में लोक वार्ताओं, किवंदन्तियों की प्रगाढ़ चमक है, तो दूसरी ओर एल्फिन्स्टन, वुडरोज, विलियम जैसे अंग्रेज पात्रों की कथा में ऐतिहासिक तथ्य। ये तीनों ही चाँदोपार की कथा को विशिष्ट आयाम देते हुए सोनारगढ़, मनियारगढ़ एवं शेषमहल को खण्डहर बनाने वाली स्थितियाँ पैदा करते हैं, जो प्रकारान्तर से पूरे समाज, संस्कृति, संस्कार, भारतीयता, आध्यात्मिक संस्कार को खण्डहर बनाने वाले वातावरण की सृष्टि कर रहे हैं। वुडरोज और एल्फिन्स्टन के सन्दर्भ किस तरह सामाजिक— मनोवैज्ञानिक गुत्थियों से उलझे हुए हैं, इसे उपन्यासकार ने कोईलिया प्रसंग के माध्यम से उद्घाटित किया है। छोटे सरकार रामचरण—छोटी सरकार गौरी और हबीबुल्लाह दोनों अपने-अपने कोणों से उपन्यास की कथा को नया

आयाम दे रहे हैं। रामचरण का प्रसंग इस बात का दस्तावेज है कि किस प्रकार अंग्रेजों ने एवं उनकी साम्राज्यवादी मानसिकता ने 'फूट डालो और राज करो' के माध्यम से भारतीय संस्कारों एवं सामाजिक समरसता को लहुलुहान कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। कजरी बाई, लतीफन बाई की कथा उपन्यास में सांस्कृतिक मूल्यों की कथा को प्रस्तुत कर रही है, दुर्गाचरण, लालामनभावनलाल, कुबरादादी, धनराज कुँवर, सभी चरित्र मुंशी रायज़ादा की कथा को ही सम्पन्न कर रहे हैं। मुंशी जाकिर हुसैन, खान साहब जैसे चरित्र तत्कालीन भारतीय समाज की सामासिक संस्कृति को अभिव्यक्ति दे रहें हैं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा उत्पन्न साम्प्रदायिकता को जाकिर हुसैन स्पष्ट देख रहे हैं— "मेरे सामने आने वाले ज़माने का नक्शा बिल्कुल साफ़ है। अभी तक इस मुल्क में जो भाईचारा एक देश में पैदा होने के नाते हमारे-तुम्हारे बीच था, वह खत्म होगा। अब हिन्दू कौम और मुसलमान कौन का नुमाइन्दा होकर हम दोनों लडेगें. . . . . यह एक ऐसी बला है जिससे हमारी आने वाली नसलें बेजार होंगी।" (पृष्ठ 459)

मुंशी रायज़ादा का खानसाहब, रामचरण व मीर साहब के साथ गोरखपुर की अदालत में उपस्थित होने का प्रसंग कथा के मार्मिक स्थलों में से है, जो रामचरित मानस के वनगमन की स्मृतियाँ ताजा करता है। मुंशी रायज़ादा का अपने भाई रामचरण के प्रति स्नेह भारतीय संस्कार एवं जीवनमूल्यों के नये स्तरों को उद्‌घाटित करता है। रास्ते में ठाकुर गुरभजन सिंह, बाबा रामरखदास आदि के प्रसंग उपन्यास में रायज़ादा के व्यक्तित्व के नये स्तरों को रेखांकित करता है कि रायज़ादा के यहाँ 'तहजीब और संस्कृति ही इन्सानियत है।' बाबा भैरवनाथ का प्रसंग इतिहास की वह सच्चाई उकेरता है, जहाँ साधु-सन्तों ने भी अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में अपने को होम किया था। यह उपन्यास उन तथ्यों का इतिहास भी प्रस्तुत करता है जिससे जातियों का दर्प, संस्कार और गरिमा टूटी, वे क्या स्थिथियाँ थी जिन्होंने वास्तुकला, स्थापत्यकला आदि के संस्कारों की दीवार को ढहा दिया था। इसी लिए यह जितनी सोनारगढ़, मनियारगढ़, शेपमहल की कथा है, उससे कही कम भारतीय इतिहास में बनते-बिगड़ते मूल्यों, स्वतंत्रता आन्दोलन की कथा नहीं है। महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, कस्तूरबागांधी, एनीबेसेन्ट सभी यहाँ लक्ष्मीकांत, अभयाचरण-हेलन, अम्बिकाचरण आदि पात्रों के साथ उपस्थित हैं जलियाँवालाबाग हत्याकाण्ड की आहट है तो असहयोग आन्दोलन में भाग लेती जनता और उस पर दमन करती अंग्रेजी व्यवस्था भी। सलमात अली जैसे पात्र का संकल्प भी है, 'जहाँ मैं तने-तनहा हूँगा वहाँ महात्मा गांधी और खुदा दोनों मेरे दाये-बायें होगें।' (पृष्ठ

232) यहाँ आकर लक्ष्मीकांत को लगता है कि ठीक जिस तरह सोनारगढ़, मनियारगढ़ और शेषमहल के सूत्रधार पाथनदेव है, उसी प्रकार स्वतंत्रता आन्दोलन भी गांधी जैसे पाथनदेव के साथ है जो 'सिर्फ सियासी क्रान्ति ही नहीं, कई क्रान्तियाँ एक साथ कर रहे हैं।' (पृष्ठ 233) तभी लक्ष्मीकान्त हेलेन से जो रायज़ादा खानदान की कुलबधु है से कहते हैं, 'यह देश तो गांधी जैसे लोगों की ही बात सुनेगा क्योंकि गांधी की बात में देश का मानस बोलता है। यहाँ छोटे-छोटे गांधी तो भरे पड़े हैं। तप और तपस्या का देश है यह. . . . तुम्हारे देश वालों ने भारत को सिर्फ सोने की चिड़िया के रूप में ही देखा. . . . . . इट हैज़ ए गोल्डेन सोल आलसो।' लक्ष्मीकांत वर्मा का यह उपन्यास इसी गोल्डेन सोल की खोज की यात्रा है।

अपनी कथात्मक शैली, गहरी मानवीय संवेदना, मार्मिकता, जीवन्त भाषा, आंचलिक शब्दों एवं मुहावरों के द्वारा मानव नियति को साक्षात्कृत करने का प्रयत्न उपन्यास में बनता है। लोककथाओं के पात्रों की जीवन्तता का अभिनव प्रयोग है, जो उपन्यास के ढाँचे को नयी परिभाषा दे रहा है। परिवेश के स्तर पर यहा वर्तमान गोरखपुर जिला, जिसमें कभी बस्ती जिला भी शामिल था, जीवन्त हो उठा है, लेकिन अर्थ की लयात्मक झनक इसे वृहत्तर परिवेश दे रही है।

उपसंहार

देश की स्वाधीनता एक ऐसी विभाजक रेखा है, जो समाज और साहित्य को देखने का सारा दृष्टिकोण ही बदल देती है। शुरु में इस परिवर्तन की रेखायें स्पष्ट नहीं थी। लोगों को ऐसा भी अहसास हुआ कि 14 अगस्त की रात में सोने और 15 अगस्त की सुबह उठने में कहीं कुछ ऐसा नहीं था, जिसे मूल्यगत अन्तर का संकेत माना जा सके। ''बलवंत सिंह के 'काले कोस' के निसार की तरह जो लोग मर पिचकर पाकिस्तान गये थे, उन्हें एक सा ही आसमान देखकर हैरत हुई थी और कृष्णा सोबती की आजादी शम्मोजान की तरह जो लोग यहीं रह गये थे, गली में हुई सजावट और झड़ियों के बावजूद उनके लिए कमरे की उन्हीं बोसीदा दीवारों और झिंगली खाट पर वे ही पुराने और बीमार से ग्राहक थे, जिनके साथ उसे पहले की तरह ही वही सब कुछ करना था।''[2] स्वाधीन देश के प्रथम प्रधानमंत्री नेहरू, भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के विरुद्ध लम्बी चौड़ी घोषणाओं के बावजूद, तेजी से फैलती और पसरती इस हाहाकारी बाढ़ के आगे असहाय थे। राजनीति का अपराधीकरण एवं अपराधी का राजनीतिकरण की स्थितियाँ माहौल को और प्रदूषित कर रही थी। 15 अगस्त 1948 को यशपाल ने विप्लव के अंक में फहरते हुए राष्ट्रीय झण्डे का चित्र देते हुए, जो लिखा वह प्रेमचन्द के गबन के देवीदीन की ही बात का—गद्दी पर जॉन की जगह गोविन्द बैठ गया था—विस्तार था, ''15 अगस्त 1948 के दिन और इसके बाद की पूरी इबारत इस प्रकार है : पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन सरकारी इमारतों पर फहरेगा जिनसे जनता के दमन के और सार्वजनिक अधिकारों को कुचलने के हुक्मनामें निकलते हैं। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन थानों और कोतवालियों पर फहरेगा जहाँ से रोटी की पुकार करने वाले निहत्थे किसानों और मजदूरों पर आक्रमण किया जाता है। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्र का तिरंगा झण्डा उन जेलों पर फहरेगा जिनमें निरपराध राजनैतिक बन्दी सिसक रहे हैं, यह राजनैतिक बन्दी भूखी जनता के वही प्रतिनिधि है, जिन्होंने ब्रिटिश दमन की चोट को सबसे आगे बढ़कर सहा था। पन्द्रह अगस्त के दिन इस झण्डे के नीचे जमींदारशाही सैकड़ों वर्षों तक निरीह जनता को लूटते रहने की वीरता के परिणाम में

अपनी आय से अधिक मुआवज़े का आश्वासन पायेगी। पन्द्रह अगस्त के दिन राष्ट्रीय झण्डे की छत्र-छाया में पूँजीपति शाही अपने मुनाफे की लूट पर राष्ट्रीय अधिकार को आँच न आने का आश्वासन पायेगी।''[3]

यह एक मोहभंग की स्थिति थी, जिसमें सबसे बड़ा योगदान देश विभाजन की त्रासदी का था। यह न केवल देश का विभाजन था, वरन् मूल्यों के विघटन का चर्मोत्कर्ष था। विभाजन ने साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा, अविश्वास एवं मानवीयता के ह्रास की जो समस्या उत्पन्न की, उसमें सभी परम्परागत मूल्य ढह गये और एक नई स्थिति का उदय हुआ, जिसे हम आधुनिक व्यक्ति का आन्तरिक संकट भी कह सकते हैं। मनुष्य अपने पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों में शरणार्थी बन गया और उसकी सारी प्रतिबद्धतायें, एक-एककर खण्डित होती गयीं। मूल्यों एवं आस्थाओं के खण्डित होने से नया बुद्धिजीवी वर्ग पराजय की आत्मग्लानिपूर्ण असहाय अनुभूति में पूरी तरह टूट गया और आगजनी, बलात्कार, अपहरण एवं हत्याओं का क्रम चलता रहा। इन स्थितियों को यशपाल ने 'झूठा सच', भीष्म साहनी ने 'तमस' में पूरी बेबाकी के साथ प्रस्तुत किया है।

स्वाधीनता ने लोगों की आशाओं एवं आकांक्षाओं को तोड़ा था और लगभग समूचे देश को हताशा और मोहभंग की ऐसी अंधी सुरंग में धकेल दिया था, जिसमें घुटन-बेबसी और अंधेरे के सिवा कुछ नहीं था। लेकिन इन सबके होते हुए भी उसने समाज की जड़ता को एक झटके से ही तोड़ दिया था और विभाजन की विभीषिका के बाद जब स्थिति सामान्य हुई तो ऐसा लगा कि हम एक पर्याप्त बदले हुए परिवेश में है। शिक्षा और नौकरी की सम्भावनाओं ने और पंजाबी समाज एवं संस्कृति के अपेक्षाकृत खुलेपन एवं वर्जनाहीनता ने उत्तर भारतीय समाज को भी गहराई से प्रभावित किया था। लड़कों की बेरोजगारी की तुलना में लड़कियों के लिए नौकरी के अवसर अधिक थे। इस कारण घर-परिवार एवं समाज में उनकी परम्परागत स्थिति में अन्तर आना स्वाभाविक था। नौकरी की खोज में गाँव से शहर आने वाले युवकों ने जिस नगरीय सभ्यता को जन्म दिया, उसने नये सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को पैदा किया। इन्हीं मूल्यों ने स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य की दिशा बदल दी। इन उपन्यासों में व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों का पुनर्मूल्यांकन व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध सूत्रों को अन्वेषित करने की दृष्टि से हुआ। उपन्यासकारों का मुख्य लक्ष्य सामाजिक परिधि में व्यक्ति को भयमुक्त एवं आशंका रहित करके वह आत्मविश्वास देना था, जिससे व्यक्ति में उस समर्थता का विकास हो सके, जिसके माध्यम से वह उन

संकटों, अन्तर्विरोधों, उलझनों एवं अवरोधों का साक्षात्कार कर सके, जो नित्य उसकी अनुभूतियों से, आस्थाओं से टकराकर उसे जर्जरित करती रहती है। स्वाधीनता के बाद का हिन्दी उपन्यास एक स्तर पर समकालीन जीवन के दूरव्यापी विस्तार को अपने भीतर समेटता है, और दूसरे स्तर पर गहराई के आयाम में कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्व की करुणा को अभिव्यंजित करता है। कुल मिलाकर उसमें समकालीन जीवन के विविध रूपों की, विशेषकर पूर्ववर्ती युग की तुलना में, पर्याप्त विविध झाँकी मिलती है, मनुष्य के कई एक परिचित-अपरिचित रूपों के, परिवेश, और उसके साथ सम्बन्ध के, मानवीय सम्बन्धों और परिस्थितियों के चित्र मिलते हैं।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में जीवन का विस्तार अधिक है, जिसके विविध रूप, स्तर एवं आयाम हैं। कहीं यह विस्तार काल में बड़ा है, कहीं मानव अनुभूति की दृष्टि से और कहीं मनुष्य के टूटने बनने की दीर्घ और बहुमुखी गाथा अंकित करने का प्रयास करता है। इन उपन्यासों में सामाजिक उतार-चढ़ाव भी पूरी भास्वरता के साथ उपस्थित हैं। कहीं 'राग दरबारी', 'लाल पीली जमीन', 'यह पथ बन्धु था', 'उखड़े हुए लोग', 'महाभोज', 'अलग-अलग वैतरणी', 'नीला चाँद', 'सोना माटी' है, तो कहीं 'सूखा बरगद' (मंजूर), 'काला जल' (शानी), 'आधा गाँव', 'सात आसमान', 'मित्रो मरजानी' है। 'एक चूहे की मौत', 'अंधेरे बन्द कमरे', 'कुरु-कुरु स्वाहा', 'कसप', 'बेघर', 'रात का रिपोर्टर', 'जिन्दगीनामा', 'मुझे चाँद चाहिये', 'नौकर की कमीज' की परम्परा भी अपने बहुआयामी स्वरूप के साथ उपस्थित है। कहीं यह विस्तार जीवन के किसी एक अंश की, विशेषकर परम्परागत अंश को, उसके समस्त पिछड़ेपन और संकीर्णता, अंध विश्वासों और संस्कारों के साथ प्रस्तुत करता है और नयी तथा पुरानी नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक मान्यताओं के बीच टकराहट के सन्दर्भ में दिखाता है। जीवन के किसी एक विशेष क्षेत्र या खण्ड को अधिकाधिक समग्रता के साथ प्रस्तुत करने की और साथ ही मध्यवर्गीय जीवन की एकरस कुण्ठा से उकताकर नया भाव जगत खोजने की प्रेरणा ने कुछ ऐसे उपन्यासों की सृष्टि की है, जिनमें किसी जाति विशेष अथवा धन्धे के लोगों के जीवन को चित्रित किया गया है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), मुर्दों का ओीला (रागेय राघव), अल्मा कबूतरी (मैत्रेयी) इस प्रकार की औपन्यासिक सर्जना का उल्लेखनीय उदाहरण है।

जिन्दगी के बाह्य यथार्थ से साक्षात्कार की एक अन्य अभिव्यक्ति हुई है, आंचलिक उपन्यासों में, जिसका उदय रेणु के 'मैला आँचल' से होता है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ''आंचलिकता की प्रवृत्ति को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक प्रवृत्ति मानते हैं। जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्त:धारणा काम कर रही थी''[1]। नागार्जुन रेणु के पहले से लिख रहे थे, किन्तु उन्हें 'मैला आँचल' के आने के बाद आंचलिक उपन्यास का चिन्ह मिला। इनका 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरुण के बेटे' आंचलिक उपन्यासों की समस्त शिल्पगत विशेषताओं से पूर्ण न होते हुए भी मात्र अंचल केन्द्रित कथावस्तु और आंचलिक भाषा प्रयोग के कारण ही आंचलिक माने जाते रहे हैं। शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' रांगेय राघव का 'कब तक पुकारुँ', आंचलिक उपन्यास के स्वरूप को विस्तृत करता है। विवेकी राय का का 'बबूल', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' केशव प्रसाद मिश्र का 'कोहवर की शर्त' केवल आंचलिक भाषा प्रयोग के आधार पर ही आंचलिक उपन्यास मान लिया जाता है, जबकि इनमें से अधिकांश में आंचलिक वातावरण का भी निर्माण नहीं हुआ है। अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' के बाद शहरी आंचलिकता का भी प्रश्न उठा। जनपदीय, प्रादेशीय एवं स्थानीयता के रंग से रंगे हुए उपन्यास भी इस युग को नया तेवर देते हैं।

हिन्दी उपन्यास यात्रा इस बात कि गवाह है कि वह समकालीन समस्याओं से जूझते रहने के साथ ही सामयिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं पर्यावरणीय समस्याओं को भी अपना अंग बनाती रही है। इसके अपने टोटे भी हैं। रिपोर्ताज और सर्जनशील लेखन का अन्तर खत्म होने की सम्भावना होती है, कृति कल्पना और चिंतन की प्रक्रिया से न गुजरकर तात्कालिक के आवाहन से शक्तिक्षीण हो जाती है। परन्तु कुछ उपन्यास लेखक खतरों को उठाकर भी महत्त्वपूर्ण रचना दे सके हैं। शिक्षा के क्षेत्र में चल रही हलचलें लेखकों के लिए सर्वाधिक निकट लगें स्वाभाविक है। गिरिराज किशोर ने 'परिशिष्ट' में दलित छात्रों के साथ होने वाले अत्याचारों का पर्दापाश किया है। काशीनाथ सिंह का 'अपना मोर्चा' छात्रों के आन्दोलनों की तस्वीर प्रस्तुत करता है। श्रवण कुमार गोस्वामी का 'चक्रब्यूह' विश्वविद्यालययीन परिवेश को समग्रता में चित्रित करता है। विश्वविद्यालय में चल रहे भ्रष्टाचार, जातिवाद, मारधाड़, राजनैतिक हस्तक्षेप का घिनौना रूप इत्यादि के कुचक्र में एक मूल्यों के प्रति समर्पित कुलपति किस तरह यातना

---

1. डॉ० शिव प्रसाद सिह—आधुनिक परिवेश व नव लेखन, पृ० 118

भोगता है, इसमें इसका बड़ा संवेदनशील चित्र उकेरा गया है। निर्मल वर्मा का 'रात का रिपोर्टर' आपातकाल में 'सफोकेट' होनेवाली मनुष्य चेतना का सूक्ष्म निरीक्षण करता है।

युद्ध से सम्बन्धित एवं उसकी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित उपन्यास भी लिखे गये। निर्मल वर्मा का 'वेदिन' गिरीश अस्थाना का 'धूप छाही रंग', सुदर्शन मजीठिया का 'तोपों के साये में'।

हिन्दी उपन्यासकार नये क्षेत्रों को ढूढ़कर, अच्छे उपन्यास दे रहे हैं। नाटक और फिल्म को अपनाकर सुरेन्द्र वर्मा ने कलाकारों से सम्बन्धित अनेक सार्थक प्रश्न उठाकर 'मुझे चाँद चाहिये' जैसी रचना की है। 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास की अन्तर्वस्तु एक कलाकार का संघर्ष है। यह संघर्ष भी दो स्तरों पर चलता है—एक स्तर पर कलाकार का 'व्यक्ति' के रूप में अपने परिवार, निजी सम्बन्धों, कला के बाजार और विपरीत सामाजिक परिस्थितियों से कठोर संघर्ष, दूसरे स्तर पर एक 'कलाकार' के रूप में अपने माध्यम, कला-मूल्यों, कला-परिवेश तथा अपनी कलात्मक लालसा और निजी क्षमता के बीच संतुलन का विकट आत्म संघर्ष। इस दृष्टि से यह संघर्ष जितना वाह्य है, सामाजिक, उतना ही निजी और आभ्यान्तरिक भी। यह संघर्ष एक खतरनाक आत्मसंघर्ष भी है। इस तरह यह उपन्यास सामाजिक संघर्ष से लहूहूहान कलाकार की सूली में बिंधी हुई आत्मा का विलक्षण एवं जीवन्त दस्तावेज है। इस मूल अन्तर्वस्तु की अभिव्यंजना के लिए लेखक ने रंगमंच और सिनेमा के कला माध्यमों को चुना है। इस कजात्मक पृष्ठभूमि में ही 'मुझे चाँद चाहिए' की विलक्षण किन्तु त्रासद प्रेम कहानी का धूप-छाँही ताना-बाना बुना गया है।

हिन्दी उपन्यास की समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण अंग है उसका मिथकीय उपन्यास। भारत एक पुराणकथाओं से समृद्ध देश है और आधुनिकता के बावजूद यह पुराणप्रियता शिक्षित मानस में दिखाई देती है। हिन्दी लेखक पर समकालीनता अथवा समसामयिकता का इतना गहरा प्रभाव है कि वह ऐतिहासिक युग में महज ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी समसामयिक या आधुनिक दृष्टि से देखता है और पुराण या इतिहास और आधुनिकता के समन्वित नज़रिए से रचना के लिए प्रेरित होता है। राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति', चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगर वधू', 'सोमनाथ' ऐतिहासिक उपन्यास है। 'वयं रक्षाम:' में प्राग्वेदकाल की कथाओं को तत्काल के सजीव वातावरण में एक साथ बुनने का अच्छा प्रयास है। लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वाणभट्ट की आत्मकथा' नामक बहुत ही अच्छा उपन्यास प्रस्तुत

किया जिसमें प्रेम की आधुनिक और शाश्वत दृष्टि से वाणभट्ट की जीवनी को देखने का प्रयास किया गया। स्वाधीनता युग में 'चारुचन्द्र लेख' एक उल्लेखनीय उदाहरण है, जिसमें 12वीं शदी के विघटनशील भारत का चित्रण है। इस अंधकारमय युग में भी भारत की सार्वकालिक चेतना की दीप्ति दिखाने का प्रयास किया गया है। इसमें भारत की आध्यात्मिक साधना को लोकोन्मुख बनाने का संदेश व्याप्त है। 'पुनर्नवा' में चौथी शताब्दी का चित्रण है तो 'अनामदास का पोथा' में द्विवेदी जी उपनिषद्‌काल की सांस्कृतिक स्थिति को साकार करते हैं। द्विवेदी जी की मुख्य चिंता अध्यात्म को निजी चेतना से मुक्त कर जन-जीवन से संबद्ध करने की रही है। इसी कड़ी में शिव प्रसाद सिंह 'दिल्ली दूर है', 'नीला चाँद', के साथ हिन्दी उपन्यास यात्रा में उपस्थित हैं। 'नीलाचाँद' 11वीं शदी में काशी के राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश में उत्पन्न संघर्ष और व्यथा का चित्रण करता है। कीरत और श्री माँ के चरित्रों के माध्यम से काशी के उदात्त मूल्यों को तथा शूद्रों की पीड़ा को मुखर करते हुए धार्मिक पाखड़ों, असंगतियों, अन्तर्विरोधों का संकेत किया गया है। मिथकीय उपन्यास का एक अन्य रूप हिन्दी में नरेन्द्र कोहली के माध्यम से आया। इन्होंनें रामकथा का आधुनिकीकरण करते हुए 'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की ओर' उपन्यास लिखे। राम को एवं समस्त परिवेश को मानवीय धरातल देने एवं यथार्थ और वैज्ञानिक बनाने के प्रयास में कोहली ने मिथकीय वातावरण एवं अलौकिकता को नि:शेष करने का प्रयास किया है और अनेक अद्‌भुत घटनाओं को बुद्धिसम्मत रूप देने का प्रयास किया है। परिणामत: सांस्कृतिक घटनाओं को राजनीतिक, समाजशास्त्रीय रूप मिला है। कहीं राक्षस पूंजीपति वर्ग के प्रतीक है और राम तथा उनकी वानर सेना मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली सेना बन जाती है। कहीं आधुनिक युग की संस्थाओं, कार्यक्रमों, उद्योगों और बहसों को रामायणकाल में ले जाया गया है। लेकिन यह निश्चय स्वीकार करना पड़ेगा कि रामायण एवं महाभारत को आधार बनाकर लिखे बहुत सारे उपन्यासों में नरेन्द्र कोहली की रचनायें शीर्षस्थ स्थान पर आती है। डॉ० भगवान सिंह ने 'अपने-अपने राम' में राम विषयक संदर्भों का देवीकरण पूर्णत: नि:शेष कर राजनीतिक यथार्थ का असली चेहरा दिखने का प्रयास किया है, जो रेखांकित करने योग्य है। मिथकीय दुनियाँ का निषेध करने वाली यह रचना है।

उपन्यास में इतिहास एक ही तरह से नहीं आता। 'जिन्दगीनामा', 'मय्यादास की माड़ी', 'महाभोज', 'कालकथा ' अपने-अपने राम', 'कलिकथा वाया वाइपास', में 'पाहीघर', 'सात आसमान', हमारा शहर उस बरस' और 'सोन बरसा' में वह अलग-अलग तरह से अलग-अलग रूपों में आता है। 'उन्माद में

इतिहास प्रच्छन्न रूप में है— सिर्फ इस अर्थ में है कि जब भी साम्प्रदायिकता के रूपों - प्रकारों का विश्लेषण किया जायेगा, साम्प्रदायिकता का इतिहास याद आयेगा, वे परिस्थितियाँ याद आयेंगी जिनमें राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, शिवसेना, बजरंग दल जैसे संगठन बने और एक तरह के Fundamentalist Rehetoric या बडबोली आक्रामकता के बल पर ताकतवर और सत्ता के सहयोगी बने।[1] साम्प्रदायिकता उन्माद है तो केवल वैयक्तिक स्तर पर नहीं, सामूहिक स्तर पर भी। इसी उन्माद का एक अन्य विमर्श 'कितने पाकिस्तान' के रूप में उपस्थित है जो अपनी कथा ढाँचा एवं शिल्प संगठन की दृष्टि से 21 वीं सदी की उपन्यास यात्रा की विशिष्ट पहचान है। कमलेश्वर लिखते हैं, '....कोई भी संस्कृति पाकिस्तानों के निर्माण के लिए जगह नहीं देती। संस्कृति अनुदार नहीं उदार होती है.... वह मरण का उत्सव नहीं मनाती, वह जीवन के उत्सव की अनवरत श्रृंखला है.... इसी सामाजिक संस्कृति की जरूरत हमें है क्यों कि वह जीवन का सम्मान करती है।' कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' इतिहास और संस्कृति की इसी गहरी समझ का विराट फलक बनकर आया है। मनुष्य के वर्तमान, समसामयिक चिन्ताओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करता यह उपन्यास न केवल राष्ट्रीय सन्दर्भों तक ही अपने को सीमित रखता है अपितु पूरे जहान की राजनीतिक, सामाजार्थिक ज्वलंत समस्याओं से जूझता सही अर्थों में पाठक को एक ग्लोबल गाँव-समाज का सदस्य बना देता है। 'कितने पाकिस्तान' में अतीत, इतिहास, परंपरा का इस्तेमाल इस रूप में किया गया है कि वह हमारे वर्तमान के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं को समझने की एक नयी दिशा और चिंतन पद्धति दे सके। उपन्यास का नायक, जो हिन्दी उपन्यास के नायकत्व से अलग है, अदीबे आलिया ही 'मनुष्य की सबसे बड़ी धरोहर' 'बेलौस, बेखौफ आवाज' की रक्षा करने में समर्थ है। इंसानियत की यही आवाज अदीब की आवाज बनकर सारी दुनिया के सांस्कृतिक इतिहास में उन विलगाववादी तत्त्वों को तलाशती है जो 'पाकिस्तानों' की निर्मिति में अपनी भूमिका निभाते रहे हैं। 'उन्माद' के रतन आबिदा की प्रेमकथा के समान यहाँ भी सलमा और अदीब की प्रेमकथा का प्रसंग अनुस्यूत है। यह प्रेम न केवल हिन्दू-मुस्लिम के बीच की दीवार को गिराता है, अपितु हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में जाने जाते मुल्कों की सीमा को भी अमान्य करता है— उनका एक ही रिश्ता है मानवीयता का।

1. कथाक्रम-6 जुलाई 92, डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव का लेख

9 वें एवं 10 वें दशक ने हिन्दी उपन्यास की अनेक रूढ़ियों को तोड़ा है। न केवल भाषा एवं शिल्प के स्तर पर बल्कि कहना चाहिये हिन्दी उपन्यास की जमीन छद्‌म आधुनिकता, व्यक्तिवाद, मार्क्सवादी लेखन की अति क्रान्तिकारिता के शोर से दूर होकर जीवन और समाज के व्यापक परिवेश को स्पर्श कर रही है। इस दृष्टि से मनोहर श्याम जोशी का 'कुरू-कुरू स्वाहा' के बाद प्रकाशित' कसप प्रेमकथाओं की दुनियाँ में नई दस्तक है। मैं इसे कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर एक युगान्तकारी उपलब्धि मानता हूँ। किस्सागोई आधुनिक युग में विरल होती गयी है और कला के स्तर पर सम्भावना रहित मान ली गयी है। जोशी जी ने इसी तत्त्व को नयी क्षमता के साथ सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है। 'सम्बन्धों की जीवित तात्कालिकता में मिथकीय स्मृतियों, संस्कारों को अंकित करते हुए निकटता और दूरी का खास सन्तुलन साधते हुए जोशी ने एक ऐसी कथा भाषा उपलब्ध की है जिसके लिए शिल्प सजग लेखक ईर्ष्या करेंगे। गम्भीर और अगम्भीर रोमाण्टिक और भदेस का ऐसा संगठन कम लेखकों के यहाँ दिखाई देता है। वर्तमान को मिथक पुराण में और मिथक पुराण को वर्तमान में बदलने की प्रक्रिया जोशी की कथा प्रक्रिया का जरूरी पहलू है।'[1] कसप मध्यवर्गीय घरेलू जीवन में घटित प्रेम कहानी है, जिसकी नायिका बेबी हिन्दी कथा साहित्य के अविस्मरणीय चरित्रों में गिनी जायेगी। डी० डी० का लाटापन व्यक्तित्व के रूप में अनोखा अनुभव है। 'सूखा बरगद' की व्याख्या अगर साम्प्रदायिकता की समस्या से अलग हटकर की जाये तो यह विशुद्ध प्रेम का उपन्यास है जिसकी परिणति अलगाव में होती है। 'सूखा बरगद' की रशीदा हिन्दू युवक विजय से प्रेम करती है जबकि रशीदा का भाई विजय की बहन की ओर आकृष्ट होता है। इस उपन्यास ने पहली बार प्रेम के विखण्डन के कारणों में सामाजिक कारणों को जिम्मेदार ठहराया है। यह सामाजिक कारण है— साम्प्रदायिकता का नया उभार जो न केवल समाज को तोड़ रहा है बल्कि प्रेम जैसी कोमल भावनाओं को भी कुचल रहा है। 'सूखा बरगद' में प्रेम की जो ट्रेजडी बयान की गई है वह हमारे समय की सबसे बड़ी चुनौती भरी ट्रेजडी है। प्रेम की मीमासा एवं खोज 'मुझे चाँद चाहिये' में भी है जो वर्षा वशिष्ठ की 'संघर्ष गाथा' के रूप में उपस्थित है, किन्तु विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसने न केवल हिन्दी कथा क्षेत्र में दाम्पत्य प्रेम की नींव डाली है, बल्कि दूसरी ओर कथा लेखन में कविता और उपन्यास (गद्य) के बीच सदियों से खड़ी भेद की नकली

---

1 उपन्यास का पुर्नजन्म— प्रो० परमानन्द श्रीवास्तव

दीवार को ढहा दिया है। विनोद कुमार शुक्ल ऐसे कथाकार हैं, जो परकीया प्रधान प्रेम से विमुख होकर पत्नी को ही 'प्रेयसी' का दर्जा देते हैं। पत्नी सोनसी का जितना रसमय और विस्मयकारी वृत्तान्त इस उपन्यास में दिखाई देता है वह इतना परिचित, किन्तु अपरिचित प्रेम का इलाका है, जो इस शताब्दी के कथा लेखन में एक आश्चर्य लोक की तरह है। प्रकृति और स्त्री के सौन्दर्य को मिलाकर इस उपन्यास में प्रेम की ऐसी अनजान खिड़की खोली गई है जो हमारे कथा क्षेत्र में सदियों से बन्द थी। इसलिए हिन्दी उपन्यास की प्रेम दुनियाँ का यह एक नया अध्याय है। विष्णु खरे ने इस उपन्यास के अनुकथन में स्पष्ट किया है, 'इस उपन्यास में कोई महान घटना, कोई विराट संघर्ष, कोई युग सत्य, कोई उद्देश्य या सन्देश नहीं है। कथानक कस्बाई महाविद्यालय के गणित के व्याख्याता रघुवर प्रसाद और उनकी नवविवाहिता सोनसी के आस पास बुना गया है। परिवेश निम्नमध्यवर्गीय है जहां पास-पड़ोस, परिवार, महाविद्यालय उसके छात्र, कर्मचारी और रोजमर्रा के जीवन के ब्यौरे अपने पूरे बिस्तार में मौजूद हैं। यहाँ न नायक है, न खलनायक, बस जीवन और उसकी जीवन्तता है। लोक और उनका जीवन, सादा और निरीह है लेकिन चमत्कार की गुजांइश और प्रतीक्षा बनी रहती है।' [1] कहना न होगा कि यह अपने आप में एक उपलब्धि है, क्योंकि इससे पहले हिन्दी उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय जीवन या तो हताशा और ऊब का स्रोत रहा है, या ब्लैक ह्यूमर का। इसीलिए मधु बी० जोशी इसे 'समकालीन वैष्णव पाठ' कहते हैं। रबीन्द्र त्रिपाठी के अनुसार, 'यों तो पहले भी कई उपन्यासों को कवित्वपूर्ण या काव्यात्मक कहा गया है लेकिन 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की काव्यात्मकता भिन्न किस्म की है। दूसरे उपन्यासों को जब काव्यात्मक कहा गया तो उसका मतलब मोटे तौर पर भाषा का काव्यात्मक होना रहा है। लेकिन विनोद कुमार शुक्ल के इस उपन्यास की काव्यात्मकता सिर्फ भाषा के स्तर पर नहीं है, बल्कि पूरे 'विजन' के स्तर पर है।' 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' हमारे अनुभव करने के ढंग को बदल देती है। हम अपने आस पास को नये तरीकों से देखने लगते हैं उसमें वह देखने की कोशिश करते हैं, जो अब तक 'अनदीखा' था, पर वहाँ मौजूद था। अमूर्तन के स्तर पर कविता यही करती है। इसी अर्थ में यह उपन्यास काव्यात्मक है।

इस दौर के उपन्यासों में एक नया स्वर स्त्री के परम्परागत ढाँचे को तोड़कर नयी-नयी चेतना व स्फूर्ति प्रदान करता है, जो उसे सतीत्व व देवीत्व के कटघरे से निकालकर उसे इन्सान के रूप में देखने

---

1. हंस, मार्च 1999

समझने का यत्न करता है। 'अब वह केवल खिलौना नहीं केवल रमणी भी नही, मात्र संगिनी भी नहीं, अधिकाधिक व्यक्ति होती जा रही है।'[1] नारी लेखिकाओं ने भी परम्परागत नारी चिन्ताओं और प्रश्नों से मुक्त होकर उपन्यास साहित्य को नयी भूमि दी है, जो राजनीति, मानवीय सम्बन्ध, सामाजिक व्यवस्था, स्त्री नियति और शोषण, स्त्री-पुरूष सम्बन्ध जैसे अन्य अनेक प्रश्नों से निर्मित हुई है। इनमें कृष्णा सोबती अग्रगण्य हैं, जिन्होंने महिला लेखन को सम्पूर्ण लेखन में परिवर्तित कर दिया है। मन्नू भण्डारी की उपन्यास यात्रा महिला लेखन को नये स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। प्रेम व जीवन के संवेगात्मक पक्षों पर सफलता पूर्वक प्रतिष्ठित लेखन के बाद मन्नू ने 'महाभोज' लिखकर हिन्दी उपन्यास को समाज के व्यापक व ज्वलंतसत्य से जोड़ दिया। आपातकाल के तत्काल बाद की परिस्थितियों और राजनीति के अर्थहीन होती जाती परिस्थितियों के बीच जनमानस की यातना, संघर्ष और उसके स्वप्न भंग को जितनी संजीदगी एवं ओजस्विता के साथ इन्होंने अंकित किया है, वह अन्यतम है। इस यात्रा को राजी सेठ ने 'तत्सम' से आगे बढ़ाया है। 'निष्कवच' में उन्होंने मूल रूप से विस्थापित युवा पीढ़ी की मानसिकता को विश्लेषित करने की कोशिश की है। उषा प्रियंबदा, ममता कालिया, प्रभाखेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, साराराय, गीतांजली श्री अपनी औपन्यासिक यात्रा के माध्यम से जन-जीवन में सार्थक हस्तक्षेप के साथ उपस्थित हैं। 20 वीं सदी का अंतिम दशक अगर इसलिए याद किया जाये कि उसमें हिन्दी महिला उपन्यास लेखन ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि पा ली है तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।

---

1. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 6

परिशिष्ट

परिशिष्ट

निबंध एवं आलोचना साहित्य

अधूरे साक्षात्कार	:	नेमिचन्द्र जैन
अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या	:	प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
अज्ञेय	:	सम्पादक-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना	:	विजय मोहन सिंह
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	:	डॉ बच्चन सिंह
आप का बन्टी	:	मन्नू भंडारी
उपन्यास का पुनर्जन्म	:	प्रो. परमानन्द श्रीवास्तव
उपन्यास की शर्त	:	जगदीश नारायण श्रीवास्तव
उपन्यास स्थिति और गति	:	चन्द्रकान्त वांदिबडेकर
गोदान	:	मुन्शी प्रेमचन्द
गोदान का महत्व	:	सम्पादक-डॉ. सत्य प्रकाश मिश्र
गोदान : नया परिप्रेक्ष्य	:	डॉ. गोपाल राय
गोदान	:	सम्पादक-राजेश्वर गुरू
जिन्दगी नामा	:	कृष्ण सोबती
झूठा सच	:	यशपाल, संस्करण 1960
नया सिनेमा	:	विनोद भारद्वाज

नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा : मुक्तिबोध

अन्य निबन्ध

निराला का काव्य : डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

निराला की साहित्य साधना भाग-दो : डॉ. राम विलास शर्मा

नौवें दशक के हिन्दी उपन्यास : डॉ. रामविनोद सिह

प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास, दूसरा भाग : डॉ. चमन लाल

प्रेमचन्द और उनका युग : डॉ. रामविलास शर्मा

भाषा और संवेदना : डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी

मैला आँचल : फणीश्वर नाथ रेणु

वाणभट्ट की आत्मकथा : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

शेखर : एक जीवनी विविध आयाम : सम्पादक-डॉ. राम कमल राय

समकालीन हिन्दी उपन्यास : डॉ. राम विनोद सिंह

समकालीन नाटककार : प्रो. (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी

साहित्य तत्व और आलोचना : सम्पादक-कुमुद शर्मा

साहित्यिक निबन्ध : डॉ. त्रिभुवन सिंह

साहित्य ओर इतिहास दृष्टि : प्रो. मैनेजर पाण्डेय

साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका : प्रो. मैनेजर पाण्डेय

हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास : रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी का गद्य-साहित्य : डॉ. रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी साहित्य का इतिहास : सम्पादक-डॉ. नगेन्द्र

हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद : निर्मला जैन एवं नित्यानन्द तिवारी

हिन्दी उपन्यास का विकास : मधुरेश

हिन्दी कहानी का विकास : मधुरेश

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प-विधि : डॉ. आदर्श सक्सेना

आज का हिदी उपन्यास हिदी उपन्यास : हिन्दी कहानी : एक नयी दृष्टि : डॉ. इन्द्रनाथ मदान

हिन्दी उपन्यासों का शिल्पगत विकास : डॉ उषा सक्सेना

हिंन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास : डॉ. (श्रीमती) ओम शुक्ल

जैनेन्द्र के उपन्यासों का शिल्प : ओमप्रकाश शर्मा

शैली : करुणापति त्रिपठी

स्वातंत्रशेत्तर हिन्दी उपन्यास : डॉ. कान्ति वर्मा

फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कला—बसुमती : कुसुम सोफट

सौन्दर्य-शास्त्र के तत्त्व : डॉ. कुमार विमल

हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास : डॉ. कृष्णा नाग

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. गणेशन

हिन्दी कथा साहित्य : गंगाप्रसाद पाण्डेय

सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप : गुलाब राय

उपन्यास का शिल्प : डॉ. गोपाल राय

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत

हिन्दी की गद्य शैली का विवेचन हिन्दी : डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

कहानी का रचना-विधान

साहित्य का श्रेय और प्रेय : जैनेन्द्र कुमार

आधुनिक हिन्दी गद्य और गद्यकार : डॉ. जेकब पी. जार्ज

हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग : डॉ. त्रिभुवन सिंह

हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद

साहित्य और संस्कृति : डॉ. देवराज

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और : डॉ. देवराज उपाध्याय

मनोविज्ञान कथा के तत्त्व

नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति : डॉ. देवीशंकर अवस्थी (संपादक)

विचार और अनुभूति : डॉ. नगेन्द्र

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र

विचार और विश्लेषण

आधुनिक साहित्य : डॉ. नन्द दुलारे वाजपेयी

कविता के नये प्रतिमान : डॉ. नामवर सिंह

कहानी : नयी कहानी

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी

हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास : डॉ. प्रतापनारायण टण्डन

हिन्दी उपन्यास-शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य : डॉ. प्रेम भटनागर

कुछ विचार : प्रेमचन्द

भारतीय साहित्य-शास्त्र : पं. बलदेव उपाध्याय

हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्‌भव और विकास	:	डॉ. बलवन्त लक्ष्मण कोतविर्रे
हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण	:	डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी
हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास	:	डॉ. रणवीर रांग्रा
हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा	:	डॉ. रामदरश मिश्र
काव्यलोक' (द्वितीय उद्योत)	:	पं. रामदहिन मिश्र
हिन्दी के आंचलिक उपन्यास	:	राधेश्याम कौशिक
उपन्यास और लोक जीवन	:	रैल्फ फाक्स
हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास	:	डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल
बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये संदर्भ	:	डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
साहित्यालोचन	:	डॉ. श्यामसुन्दर दास
आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विकास	:	डॉ. श्यामनन्दन किशोर
आधुनिक परिवेश और नवलेखन	:	डॉ. शिवप्रसाद सिंह
हिन्दी उपन्यास : ऐतिहासिक अध्ययन	:	डॉ. शिवनारायण श्रीवास्तव
हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	:	शिवनन्दन सिह चौहान
हिन्दी साहित्य सर्वस्व	:	पं. सीताराम चतुर्वेदी
प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों कर शिल्प-विधि	:	डॉ. सत्यपाल चुघ
हिन्दी उपन्यास	:	डॉ. सुषमा धवन
समीक्षा के सिद्धान्त	:	डॉ. सत्येन्द्र
हिन्दी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन	:	डॉ. श्रीनारायण अग्निहोत्री

विचार और वितर्क : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प : डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त

साहित्य : तत्व और आलोचना : डॉ. रामविलास शर्मा

प्रेमचन्द के श्रेष्ठ निबन्ध : डॉ. सत्य प्रकाश मिश्र

बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबन्ध : डॉ. सत्य प्रकाश मिश्र

प्रसाद के सम्पूर्ण उपन्यास : सं० सत्य प्रकाश मिश्र

प्रेमचन्द्र और उनका युग : रामविलास शर्मा

आधुनिक परिवेश और नवलेखन : डॉ. शिवप्रसाद सिंह

एक दुनियां समानांतर : राजेन्द्र यादव

आंचलिकता और आधुनिक परिवेश : डॉ. शिवप्रसाद सिंह

प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास : के. प्रकाश

प्रेमचन्द्र पूर्व हिन्दी उपन्यास : डॉ. ज्ञानचन्द्र जैन

गोदान का महत्त्व : डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र

आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता : नवल किशोर

प्रेमचन्द्र विरास का सवाल : शिवकुमार मिश्र

शेखर : एक जीवनी : सं. रामकमल राय

शेखर : एक जीवनी : गोपाल राय

यह पथ बन्धु था : एक अध्ययन : डॉ. सत्य प्रकाश मिश्र

अंग्रेजी उपन्यास का विकास और उसकी रचना पद्धति : श्री नारायण मिश्र

अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य : श्री प्रकाश चन्द्र मिश्र

आज का हिन्दी साहित्य : श्री प्रकाशचन्द गुप्त

आज की हिन्दी उपन्यास : डॉ. इन्द्रनाथ मदान

आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सम्पा. डॉ. नरेन्द्र मोहन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास : बाबू लाल आच्छा

इतिहास के दो ललित अध्याय

आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प : डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त

आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास : डॉ. अतुलवीर अरोड़ा

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : डॉ. देवराज उपाध्याय

आधुनिक साहित्य : पं. नंददुलारे वाजपेयी

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और चरित्र विकास : डॉ. बेचन

आस्था और सौन्दर्य : डॉ. रामविलास शर्मा

आस्था के प्रहरी : डॉ. सत्यपाल चुघ

उपन्यास का शिल्प : डॉ. गोपाल राय

उपन्यास के तत्त्व : ई. एम. फास्टर

उपन्यास : सिद्धान्त और संरचना : डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन

ऐतिहासिक उपन्यासकार : वृन्दावन लाल वर्मा : डॉ. रामदरश मिश्र

ऐतिहासिक उपन्यास : प्रकृति ओर स्वरूप : डॉ. गोविन्द जी

कथा के तत्त्व : डॉ. देवराज उपाध्याय

कामायनी के अध्ययन की समस्याएं : डॉ. नगेन्द्र

कलम का सिपाही : श्री अमृत राय

क्योंकि समय एक शब्द है! : डॉ. रमेश कुन्तल मेघ

गोदान गवेषणा : सं. कपितदेव सिंह,

पदम्नारायण निशांतकेतु

चिन्तन के क्षण : डॉ. विजयेन्द्र स्नातक

तुला और तारे : डॉ. सावित्री सिन्हा

नए उपन्यास : स्वरूप और तत्त्व : डॉ. रामगोपाल शर्मा

नया साहित्य : नये प्रश्न : आचायै नन्ददुलारे वाजपेयी

विमर्श और निष्कर्ष : डॉ. सरनामसिंह शर्मा

विवेक के रंग : राजेन्द्र यादव

शेखर एक जीवनी : मूल्यांकन : डॉ. गोपालराय

समकालीन हिन्दी साहित्य : आलोचना को चुनौती : डॉ. बच्चन सिंह

स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चंतना : डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त

साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : डॉ. रघुवंश

सृष्टि की दृष्टि : डॉ. शलभ

हिन्दी उपन्यास : डॉ. सुषमा धवन

हिन्दी उपन्यास : डॉ. शिवनारायण श्रीवास्तव

हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा	:	डॉ. रामदरश मिश्र
हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख	:	डॉ. इन्द्रनाथ मदान
हिन्दी उपन्यास कला	:	डॉ. प्रतापनारायण टण्डन
हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख	:	डॉ. सुरेश सिन्हा
हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां	:	डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी उपन्यास : युग चेतना और पाठकीय संवेदना	:	डॉ. मुकुन्द द्विवेदी
हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप और विकास	:	डॉ. शम्भूनाथ सिह
हिन्दी उपन्यास साहित्य	:	ब्रजरत्नदास
हिन्दी कथा-साहित्य	:	पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां	:	डॉ. शशिभूषण सिंहल
हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण	:	डॉ. महेन्द्र चतुर्वेदी
हिन्दी उपन्यास	:	डॉ. सुरेश सिन्हा
हिन्दी उपन्यास	:	सं. डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी
हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन	:	डॉ. गणेशन
हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि	:	डॉ. इन्द्रनाथ मदान
हिन्दी उपन्यासों का शिल्पगत विकास	:	डॉ. उषा सक्सेना
हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा	:	डॉ. मक्खनलाल शर्मा
हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास	:	सं. डॉ. नगेन्द्र
हिन्दी उपन्यास : शिल्प और विधान	:	डॉ. त्रिभुवन सिंह
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	:	डॉ. त्रिभुवन सिंह

हिन्दी उपन्यास में चरित्र चित्रण का विकास : डॉ. रणवीर रांग्रा

हिन्दी कथा साहित्य : गंगा प्रसाद पांडेय

हिन्दी उपन्यास : बीसवीं शताब्दी : पं. नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य : डॉ. गोविन्दराम शर्मा

हिन्दी नवलेखन : श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिन्दी उपन्यास विवेचन : डॉ. सत्येन्द्र

हिन्दी उपन्यास—शिल्प बदलते परिप्रेक्ष्य : डॉ. प्रेम भटनागर

प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्प विधान : डॉ. कमल किशोर गोयनका

प्रेमचन्द (आज के संदर्भ में) : डॉ. गंगाप्रसाद विमल

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास : डॉ. कैलाश प्रकाश

प्राचीन साहित्य : रवीन्द्रनाथ टैगोर

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि : डॉ. सत्यपाल चुघ

प्रेमचन्द चिन्तन और कला : डॉ. इन्द्रनाथ मदान

प्रेमचन्द : डॉ. प्रतापनारायण टण्डन

प्रेमचन्द : डॉ. रामविलास शर्मा

अज्ञेय साहित्य : प्रयोग और मूल्यांकन : डॉ. केदार शर्मा

अज्ञेय का कथा साहित्य : ओम प्रभाकर

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : डॉ. देवराज

आधुनिक हिन्दी उपन्यास, उद्‌भव और विकास : डॉ. बेचन

आधुनिक हिन्दी उपन्यास : डॉ. नरेन्द्र मोहन (सं.)

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. हरिकृष्ण पुरोहित

आधुनिक साहित्य का विकास : डॉ. कृष्ण लाल

आधुनिक हिन्दी उपन्यास : भीष्म साहनी (सं.)

आज का भारतीय साहित्य : उपेन्द्रनाथ अश्क (सं.)

आस्था के प्रहरी : सत्यपाल चुघ

असज का हिन्दी उपन्यास : इंद्रनाथ मदान

आज का हिन्दी साहित्य संवेदना और दृष्टि : डॉ. रामदरश मिश्र

आत्मनेपद : अज्ञेय

उपन्यास, सिद्धान्त और संरचना : रवीन्द्रकुमार जैन

जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डॉ. देवराज उपाध्याय

जयवर्धन की पहचान : डॉ. रामदरश मिश्र (सं.)

द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

नागार्जुन जीवन और साहित्य : डॉ. प्रकाश चन्द्र भट्ट

प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास : डॉ. प्रभाषचन्द्र शर्मा 'मेहता'

प्रकीर्णिका : नंददुलारे वाजपेयी

बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये सन्दर्भ : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास : उपलब्धि और सीमाएँ : सावित्री शर्मा

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में युग चेतना : डॉ. बैजनाथ प्रसाद शुक्ल

भारतीय संस्कृति : गुलाबराय

भारतीय संस्कृति : प्रो. शिवदत्त ज्ञानी

भारतीय संस्कृति और उनका इतिहास : डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार

मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल : डॉ. पारसनाथ मिश्र

मानव मूल्य और साहित्य : डॉ. धर्मवीर भारती

विचार और वितर्क : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

विश्व इतिहास की झलक : पंडित जवाहरलाल नेहरू

विवेक के रंग : डॉ. देवीशंकर

राहुल सांकृत्यायन का कथा साहित्य : डॉ. प्रभाकर मिर

संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर

संस्कृति का दार्शनिक विवेचन : डॉ. देवराज

संस्कृति—एक चिंतन : पंडित देवेन्द्र मुनि शास्त्री

समीक्षात्मक निबन्ध : डॉ. विजयेन्द्र स्नातक

स्वतंत्रता और संस्कृति : डॉ. राजेन्द्रप्रसाद

सृजन की मनोभूमि : डॉ. रणवीर रांग्रा

साहित्यानुशीलन : शिवदान सिंह चौहान

साहित्यधारा : प्रकाशचन्द्र गुप्त

साहित्य, शिक्षा और संस्कृति : डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

साहित्य सहचर : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण : डॉ. हेमेन्द्र पानेरी

हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना : डॉ. कुँवरपाल सिंह

हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल

हिन्दी उपन्यास पहचान और परख : डॉ. इंद्रनाथ मदान (सं.)

हिन्दी के राजनैतिक उपन्यासों का अनुशीलन : डॉ. वृजभूषण सिंह

हिन्दी उपन्यास : सृजन और सिद्धान्त : डॉ. नरेन्द्र कोहली

हिन्दी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन : आचार्य ब्रह्मनारायण शर्मा

हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव

हिन्दी उपन्यास : डॉ. सुषमा धवन

हिन्दी साहित्य : पिछला दशक : प्रतापनारायण टंडन

हिन्दी का सामायिक साहित्य : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण : महेन्द्र चतुर्वेदी

हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास : प्रतापनारायण टंडन

हिन्दी उपरूास : शशिभूषण सिंहल

हिन्दी उपन्यास—शिल्प और प्रयोग : डॉ. त्रिभुवन सिंह

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प-विधि : डॉ. आदर्श सक्सेना

हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

हिन्दी उपन्यास : सुषमा प्रियदर्शिनी (सं.)

उपन्यास साहित्य

अजय की डायरी	:	डॉ. देवराज
अपने-अपने अजनबी	:	अज्ञेय
अलग-अलग वैतरणी	:	शिव प्रसाद सिंह
अन्तराल	:	मोहन राकेश
अन्धेरे बन्द कमरे	:	मोहन राकेश
अमिता	:	यशपाल
अमृत और विष	:	अमृतलाल नागर
अनन्तर	:	जैनेन्द्र कुमार
आपका बंटी	:	मन्नू भंडारी
आधा गाँव	:	राही मासूम रजा
उग्रतारा	:	नागार्जुन
उखड़े हुए लोग	:	राजेन्द्र यादव
उसका घर	:	मेहरुन्निसा परवेज़
ऋतुचक्र	:	इलाचन्द्र जोशी
एक और अजनबी	:	सुरेश सिन्हा
कसप	:	मनोहर श्याम जोशी
कुंभीपाक	:	नागार्जुन
जहाज का पंछी	:	इलाचन्द्र जोशी
जयवर्धन	:	जैनेन्द्र कुमार
जिप्सी (त्याग का भोग)	:	इलाचन्द्र जोशी

जो	:	प्रभाकर माचवे
जिन्दगीनामा	:	कृष्णासोबती
झूठा सच	:	यशपाल
वे दिन	:	निर्मल वर्मा
शहर में घूमता आईना	:	उपेन्द्र नाथ अश्क
सत्ती मेभा का चौरा	:	भैरव प्रसाद गुप्त
टूटते बिखरते लोग	:	योगेश गुप्त कुमार
डाकबँगला	:	कमलेश्वर
तीस चालीस पचास	:	डॉ. प्रभाकर माचवे
दर्द के पैबन्द	:	डॉ. प्रकार माचवे
दिगंबरी	:	सूर्यकुमार जोशी
द्वाभा	:	डॉ. प्रभाकर माचवे
दिवोदास	:	राहुल सांकृत्यायन
दूसरी तरफ	:	महेन्द्र भल्ला
धूपछाँही रंग	:	गिरीश अस्थाना
न आने वाला कल	:	मोहन राकेश
नई पौध	:	नागार्जुन
नदी के द्वीप	:	अज्ञेय
बलचनमा	:	नागार्जुन
बाबा बटेसरनाथ	:	नागार्जुन
बेघर	:	ममता कालिया

बूँद और समुद्र	:	अमृत लाल नागर
बीज	:	अमृतराय
भूले बिसरे चित्र	:	भगवती चरण वर्मा
मछली मरी हुई	:	राजकमल चौधरी
मैंला आँचल	:	फणीश्वरनाथ रेणु
मनुष्य के रूप	:	यशपाल
मुक्तिपथ	:	इलाचन्द्र जोशी
यह पथ बन्धु था	:	नरेश मेहता
रागदरबारी	:	श्रीलाल शुक्ल
रुकोगी नहीं राधिका?	:	उषा प्रियवंदा
लाल पीली जमीन	:	गोविन्द मिश्र
तमस	:	भीष्म साहनी
रात का रिपोर्टर	:	निर्मल वर्मा
ढाई घर	:	गिरिराज किशोर
पाहीघर	:	कमलाकान्त त्रिपाठी
बेदखल	:	कमलाकान्त त्रिपाठी
चाक, अल्मा कबूतरी, झूला नट	:	मैत्रेयी पुष्पा
सात आसमान	:	असगर वजाहत
उन्माद	:	भगवना सिंह
सेवासदन, रंगभूमि, गोदान, प्रेमाश्रम, गबन	:	प्रेमचन्द्र
परीक्षा गुरु	:	लाल श्रीनिवास दास

देवरानी जेठानी की कहानी	:	पं. गौरीदत्त
भाग्यवती	:	श्रद्धाराम फिल्लौरी
नूतन ब्रह्मचारी	:	बालकृष्ण भट्ट
सौ अजान एक सुजान	:	बालकृष्ण भट्ट
सौन्दर्योपासक	:	ब्रजनन्दन सहाय
श्यामास्वप्न	:	ठाकुर जगमोहन सिंह
प्रणयिनी परिणय	:	किशोरी लाल गोस्वामी
हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी	:	किशोरी लाल गोस्वामी
लवंगलता वा आदर्श बाला	:	किशोरी लाल गोस्वामी
तारा वा छात्रकुल कमलिनी	:	किशोरी लाल गोस्वामी
सुलताना राजियाबेगम व रंगमहल में हलाहल	:	किशोरी लाला गोस्वामी
चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति	:	देवकीनंदन खत्री
गिरती दीवारे	:	उपेन्द्रनाथ अश्क
धूर्त रसिक लाल	:	लज्जाराम शर्मा
आदर्श दम्पत्ति	:	लज्जाराम शर्मा
बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी	:	लज्जाराम शर्मा
विपत्ति की कसौटी	:	मेहता लज्जाराम शर्मा
अंगूठी का नगीना	:	मेहता लज्जाराम शर्मा
लाल कुँवर वा शाही रंगमहल	:	किशोरी लाल गोस्वामी
ठेठ हिन्दी का ठाठ	:	अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
अधखिला फूल	:	अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

गेरुआ बाबा	:	गोपाल राम गहमरी
देहाती दुनियाँ	:	शिवपूजन सहाय.
गोद, अंतिम आकांक्षा, नारी	:	सियाराम शरण गुप्त
कंकाल, तितली	:	जयशंकर प्रसाद
त्यागपत्र	:	जैनेन्द्र
शेखर : एक जीवनी	:	अज्ञेय
पुनर्जन्म वा सौतिया दाह	:	किशोरी लाल गोस्वामी
डूब, पार	:	वीरेन्द्र जैन
मुखड़ा क्या देखे	:	अब्दुल बिस्मिल्लाह
झीनी झीनी बीनी चदरिया	:	अब्दुल बिस्मिल्लाह
पहला गिरमिटिया, ढ़ाई घर	:	गिरिराज किशोर
कलिकथा : वाया बाइपास	:	अलका सरावगी
कालकथा	:	कामतानाथ
कितने पाकिस्तान	:	कमलेश्वर
मुंशी रायज़ादा	:	लक्ष्मीकान्त वर्मा
दीवार में एक खिड़की रहती थी	:	विनोद कुमार शुक्ल
उस चिड़िया के नाम	:	पंकज विष्ट
मुझे चाँद चाहिये	:	सुरेन्द्र वर्मा
अंतिम अरण्य	:	निर्मल वर्मा

ENGLISH LITERATURE

Title		Author
Aspects of Nvel	:	E. M. Foster
A Study of History	:	Arnold Toyanbee
Discovery of India	:	Jawaharlal Nehru
Existentialism	:	Albert Camus
Essay in Metaphysics . Existence and Being	:	Martin Heidgger
East and West Some Reflections	:	Dr. Radhakrishnan
Essential Featuies of Indian Culture	:	Sardar M. M. Panikkar
Glories of India	·	Dr. P. K. Acharya
Guide to Modern thought	:	C. E. M. Joad
Notes Towards the Definition of Culture	:	T. S. Eliot
Novel and the People	:	Rol Phox
Our Hertitage	:	Dr. Radhakrishnan
Primitive Culture	:	E. B. Tylor
Study in European Realism	:	Lakacs George
Tendencis of the Modern Novel	:	Hugh Walpole and others
The Crisis of India	:	Ronald segal
The Crisis of Faith	:	Dr. Radhakrishnan
To the Youth of India	:	Vivekananda
What is Literature?	:	Jean Paul Satre
An Introduction to the English Novel	:	Arnold Kettle
Epic & Romance	:	W. P. Ker
War and Peace (Hindi Translation)	.	Tolstoy
History of the Adventures of Joseph Andrews (Perface only)	:	Henry Feilding
History of Tom Jones (Perface only)	:	Henry Feilding

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना
2. समीक्षा
3. हिन्दी वार्षिकी
4. कल्पना
5. धर्मयुग
6. समालोचक
7. माध्यम
8. उत्कर्ष
9. संचेतना
10. विवेचना (संकलन, खण्ड 2)
11. साहित्य-संदेश
12. हंस
13. आजकल
14. साहित्य अमृत
15. समकालीन साहित्य
16. कथ्य रूप
17. कथा क्रम
18. कथा
19. साक्षात्कार
20. समीक्षा
21. वागर्थ
22. पप प्रतिपल
23. पहल
24. अभिप्राय
25. सहचर
26. दस्तावेज
27. नारंग
28. साखी
29. इन्द्रपस्थ भारती
30. कहानी
31. हिन्दुस्तानी.
32. समकालीन सृजन
33. तद्भव
34. बहुवचन

कोश

हिन्दी साहित्य कोश दोनों भाग

बृहत हिन्दी कोश—प्रधान सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा।

मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड)—सं. डॉ. नगेन्द्र।

हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (षोडष भाग)—सं. राहुल सांकृत्यान और कृष्णदेव उपाध्याय।